प्रथम बार, १९५०

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता-साहित्य-मण्डल अजमेर ने उच्चकोटि की पुस्तकें सस्ती निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

—मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर।

सम्पादकीय

संसार के इतिहास में, समय-समय पर जो क्रांतियाँ हुई हैं मानव-समाज के विद्यार्थी के लिए उनका एक अपना महत्व है। जब शासन-व्यवस्था या अनाचार से समाज के जीवन की गति रुकने लगती है; जब जीवन के प्रवाह के लिए कोई दिशा, कोई क्षेत्र नहीं रह जाता; जब प्रमाद-वश उसे रोकने का प्रयास मदान्ध धर्माध्यक्ष या शासक करते है तब मानव-प्रकृति ठोकर खाकर एक प्रचण्ड बवण्डर की तरह उठती है और वातावरण को घोर आतंक से पूर्ण कर देती है। जैसे प्रकृति-विरुद्ध अमिताचार से शरीर से फूट कर बीमारी निकलती है वैसे ही समाज की रुद्ध गति से क्रांति का जन्म होता है।

यह जीवन की गति रुद्ध करने के प्रयत्नो पर मानव-प्रकृति का विद्रोह संसार के इतिहास की मनोरंजक सामग्री है और अध्ययन करें तो हमे इससे समाज एवं देश की अनेक समस्याओं को हल करने मे सहायता मिल सकती है।

यो देखे तो संसार मे समय-समय पर अनेक क्रांतियाँ हुई हैं। पर समाज की धारा को मोड़ने में उनके प्रभाव की मात्रा अलग-अलग है। इस दृष्टि से कुछ तो समाज-शास्त्र एवं इतिहास के विद्यार्थी के लिए बिलकुल ही नगण्य है। जिनके कारण समाज पर एक स्थायी प्रभाव पड़ा है या जिन्होने देश, समाज एवं साहित्य की दिशा बदल दी है उनमे युरोप की—विशेषत. हालैण्ड की मध्ययुगीन धार्मिक क्रांति, इटली का रिनैसाँ, फ्रांस की राज्य-क्रांति, अमेरिका एवं रूस की क्रान्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण है। इन क्रान्तियो ने समय-समय पर समाज मे नवीन विचार-धारा को जन्म दिया है और लकवा-पीड़ित रोगी-से समाज-जीवन को एक ज़बर्दस्त प्रेरणा से आगे बढ़ाया है।

बीसवीं शताब्दी के कुछ ही वर्षों मे एशिया मे जो जागृति हुई है वह इतनी आकस्मिक और अपूर्व है कि उसे भी क्रांति ही कहना चाहिए; यद्यपि गंभीर आलोचना की कसौटी पर तो वह विकास और क्रांति के बीच की चीज़ है। पर चूंकि इन परिवर्तनों ने एशिया के जीवन को नवीन प्राणोन्मेष से भर दिया है और एक अपूर्व एवं असाधारण गतिशीलता के साथ विभिन्न देशो को हिला रहे हैं इसलिए उनको 'एशिया की क्रांति' के एक समष्टिगत नाम से पुकारने मे आपत्ति नही की जा सकती।

फिर ध्यान से देखे तो आधुनिक युग की क्रांतियाँ परस्पर ऐसी सम्बद्ध है कि एक को समझने के लिए दूसरे पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है। जैसे रूस की क्रांति ने एशिया के परिवर्तनो पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है इसलिए एशिया की क्रांति की दिशा को समझने के लिए रूस की क्रांति का अध्ययन भी आवश्यक है।

इस प्रकार की क्रांतियों एवं उनसे होने वाले सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिवर्तनों के अध्ययन से हमें इतिहास की घटनावलियों एवं समाज-विकास की शृंखला को समझने मे बड़ी सहायता मिलती है; उनमे आई विषम कठिनाइयो एवं उन पर विजय पाने वाली शक्तियो से हम बहुत-कुछ ग्रहण कर सकते है।

हिन्दी मे इस प्रकार के साहित्य का बहुत अभाव है। इसलिए मण्डल ने इस दिशा मे आगे क़दम बढ़ाने का निश्चय किया है।

'हालैण्ड की राज्यक्रान्ति' पर हम पहले एक पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं। 'एशिया की क्रान्ति' इस दिशा मे मण्डल की दूसरी भेंट है।

इसके बाद हम फ्रांस या रूस की राज्यक्रान्ति पर कोई उच्चकोटि का मौलिक ग्रन्थ लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। पर इस दिशा में हमारी सफलता बहुत-कुछ ग्राहकों की अनुकम्पा पर निर्भर है। आशा है अपनी सहायता से वे हमे उत्साहित करेगे।

—सम्पादक

प्रकाशक की ओर से—

क्या जन-संख्या और क्या भूमि की लम्बाई-चौड़ाई—सभी दृष्टियों से एशिया संसार का सबसे बड़ा महाद्वीप है। अर्वाचीन और प्राचीन जितने महान् धर्मों ने मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने एवम् मनुष्य-जाति को उच्च आदर्शों की ओर अभिमुख होने को प्रेरित किया, उन सबका जनक यही भू-खण्ड है। यह संसार की संस्कृति का आदि-निर्माता है। जिस समय सम्पूर्ण संसार अज्ञान और असभ्यता रूपी घोर अंधकार मे भटक रहा था—जिस समय सर्वत्र हिंसा, क्रूरता, अन्याय, मनमानी, उच्छृङ्खलता तथा पशुता का साम्राज्य फैला हुआ था—उस समय 'सर्व-प्रथम एशिया ने ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति, सदाचार-पवित्रता, कला-कौशल और धर्म-नीति के दीपक को आलोकित करके अखिल विश्व का पथ-प्रदर्शन किया।

लेकिन एशिया की वह प्राचीन उच्चता और भव्यता आज कहाँ है? उत्तर स्पष्ट है। उसका वह अलौकिक तेज और गौरव लुप्त हो चुका है। वह अवनति के गड्ढे मे गिरा हुआ है। उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन होने के पश्चात् उसने अवनति की ओर क़दम बढ़ाया और आज, स्थिति यह है कि वह युरोप के सत्ता-लोलुप एवं स्वार्थान्ध राष्ट्रों के चंगुल मे फँसा हुआ है और उनके उपहास का पात्र बना हुआ है। पर यह स्थिति भी अधिक दिनों टिकनेवाली नहीं है। एशिया की निद्रा टूट-

रही है। यूरोप के स्वार्थी और ख़ूं-ख्वार राष्ट्रों ने यहाँ के राष्ट्रों के साथ जो लज्जाजनक और अनीतिमूलक व्यवहार किया है उससे एशिया के आत्म-सम्मान को गहरा धक्का लगा है। उसे अब अपनी निर्बलता का भान हो गया है और वह अपनी उन्नति करने मे सचेष्ट हैं। उसकी अधोगति रूपी रात्रि का अवसान हो चुका है और उसका अभ्युदय-सूर्य अपनी प्रखर ज्योति उसके कोने-कोने में व्याप्त कर रहा है।

इस दृष्टि से एशिया की जागृति और क्रान्ति—युरोप के ख़िलाफ़ उसका विद्रोह—संसार की एक विशेष महत्त्व रखनेवाली घटना है। इस क्रान्ति के परिणाम और प्रभाव दूर-दूर तक असर डालनेवाले है। ये संसार के इतिहास में एक नवीन अध्याय का निर्माण करेंगे। युरोप भौतिकता का पुजारी है। सांसारिक सुखोपभोग ही उसके जीवन का मूल-मंत्र है। इस दृष्टि से वह औद्योगिकवाद और पूंजीवाद का दास है। पूंजीवाद साम्राज्यवाद का जनक है। और साम्राज्यवाद की विकरालता और भीषणता क्या चीज़ है, यह किसी भारत-सन्तान को बताने की आवश्यकता नहीं है। वह उसके दैनिक अनुभव की वस्तु बन गई है। संक्षेप में कहा जाय तो साम्राज्यवाद उस मनोवृत्ति का नाम है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपने लाभ, अपने सुख और अपने स्वार्थ के सामने दूसरे मनुष्यों अथवा राष्ट्रों के लाभ-हानि, हिताहित, सुख-दुःख की कोई पर्वा न करे। इतना ही नहीं, दूसरों को कष्ट पहुँचाकर, दूसरों से परिश्रम करवाकर, उन्हें पीड़ित करके—यहाँ तक कि उनके प्राणों का बलिदान करके भी—निजी सुखों और लाभों को प्राप्त करना साम्राज्यवाद का एक ख़ास सिद्धान्त है। युरोप आज इसी प्रकार का

साम्राज्यवादी है। वह अपने सुख और लाभ के लिए एशिया के करोड़ों मनुष्यों को नारकीय यन्त्रणाये पहुँचा रहा है। फलतः अधिकांश एशिया आज युरोप का गुलाम बना हुआ है,और उसके अत्याचार की चक्की मे पिस रहा है। लेकिन जिस प्रकार पूँजीवाद की औषधि साम्यवाद है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद की दवा राष्ट्रीयता—राष्ट्रवाद—है। साम्राज्यवाद से पीड़ित राष्ट्र राष्ट्रीयता में ही अपना त्राण देखते है। अतएव एशिया में राष्ट्रीयता का वेग इस समय बड़े ज़ोरों से प्रवाहित हो रहा है। राष्ट्रीय एशिया साम्राज्यवादी यूरोप की गुलामी को अपने ऊपर से उतार फैकना चाहता है। वह स्वतंत्र और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करना चाहता है। राष्ट्रवादी एशिया और साम्राज्यवादी यूरोप का यह द्वंद्व—यह संघर्ष—प्रत्येक भारतवासी के अध्ययन करने की वस्तु है। यह युद्ध राम-रावण युद्ध है। संसार में विजय सर्वदा सत्य की हुआ करती है। इसलिए पाठकों को यह अन्दाज़ लगाने में ज़रा भी देर न लगनी चाहिए कि इस संघर्ष में कौन विजयी होगा। इस पुस्तक के अगले पन्नों मे यूरोप के अत्याचारो के विरुद्ध एशिया ने जो संग्रर्ष छेड़ रक्खा है—उसके अन्दर जो विद्रोह की ज्वाला धधक रही है—उसका परिचय पाठकों को मिलेगा। भारत एशिया से जुदा नही है। वह भी यूरोप के साम्राज्यवाद से यन्त्रणा पा रहा है। यहाँ इङ्गलैण्ड उसको पद-दलित कर रहा है। हमारे देश का उद्देश्य भी आज़ादी हासिल करना—गुलामी के कलंक को अपने ललाट से पोंछ डालना है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हमारे प्रयत्नों का निरूपण भी पाठक इस ग्रन्थ में पावेंगे। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा भारतीय स्वाधीनता के संग्राम मे ज़रा भी दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें

यह पुस्तक एक बार अवश्य पढ़ लेना चाहिए। तब वे स्वयं देख लेंगे कि उनकी तत्सम्बन्धी जानकारी में कितनी अधिक वृद्धि हुई है।

अन्त मे दो-एक शब्द इस पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध मे लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। श्रीयुत सत्यनारायण शास्त्री काशी विद्यापीठ (बनारस) के इतिहास, अर्थ-शास्त्र और राजनीति के एक अत्यन्त तेजस्वी और प्रखर बुद्धि-सम्पन्न विद्यार्थी थे। सन् १९२९ मे वे उक्त विद्यापीठ की सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और उन्हे शास्त्री की पदवी प्रदान की गई। लेकिन उनके युवकोचित उत्साह और साहस ने उनको इतने पर ही चैन नहीं लेने दिया। उन्हे समाजवाद (Sociology) और विशेषतः साम्यवाद (Socialism) का गहरा अध्ययन करने की धुन समाई हुई थी। अतः वे सन् १९३० के आरम्भ में भारत से यूरोप को रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने फ्रैंकफुर्ट (जर्मनी) के विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया। यहाँ पर भी उनकी प्रतिभा चमक उठी। लगभग दो वर्ष यहाँ अध्ययन करने के बाद आप वहाँ की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गये और आपको पी० एच-डी० की उपाधि मिली। अब भी आप जर्मनी मे ही हैं, और दूसरे विषयों का अनुसन्धान करने मे संलग्न हैं।

ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की यह कृति आज पाठकों के भेट की जा रही है। पुस्तक के गुण-दोषो के सम्बन्ध में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पाठक जैसे-जैसे इसमे गहरे उतरेंगे, वैसे-वैसे, उसी मात्रा में, उन्हें लेखक की तेजस्विता और निष्णात-बुद्धि का परिचय मिलता जायगा।

—मंत्री

भूमिका

आज एशिया में स्वातंत्र्य-युद्ध चल रहा है। उसके कोने-कोने में स्वतंत्रता की लहर फैल गई है। प्रत्येक एशियायी राष्ट्र युरोपीय अथवा अमेरिकन साम्राज्यवाद के चंगुल मे रहना अपमान समझने लगा है। और प्रत्येक राष्ट्र इसे अपने जीवन-मरण का प्रश्न समझकर इस संग्राम में जूझ रहा है। यहाँ के वायु-मण्डल में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है कि उसके कारणो को समझते जाना भी एक कठिन कार्य हो गया है। पिछले दस वर्षों के परिवर्तन ने इतिहासज्ञों को आश्चर्य में डाल दिया है।

एशिया की इस जागृति का श्रेय आर्थिक साम्राज्यवाद को है। यदि इसका चक्र नहीं चला होता तो एशियायी राष्ट्रों में न तो राष्ट्रीयता का भाव जागृत होता, न वे आधुनिक जगत् की झलक देखते और न उनमे धधकती हुई अग्नि का प्रचंड रूप ही दिखलाई पड़ता। इसलिए एशियायी क्रान्ति को समझने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसी के आतंकपूर्ण कार्यों के परिणाम-स्वरूप आज सारा एशिया शक्ति-मद से भरा-पूरा होकर मनुष्यता को बचाने, संसार मे शांति स्थापित करने तथा मनुष्य-जीवन को सुखी बनाने के उद्देश से क्रान्ति के मैदान मे घोर नाद कर विजय पर विजय करता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है।

सारे एशिया मे आन्दोलनो का कोलाहल ऐसा मचा हुआ है कि कौन किसके खिलाफ लड़ना चाहता है इसे समझने के लिए भी थोड़ा रुकना पड़ता है। पूर्वी देश लड़ने के लिए पाश्चात्य पद्धति का ही अनुकरण करते है इससे कभी-कभी यह शंका भी होने लग जाती है कि प्राच्यराष्ट्र पश्चिम के ही रंग मे रँग जाना चाहते हैं परन्तु वास्त-

विक बात कुछ दूसरी ही है। प्राच्यराष्ट्र पाश्चात्य राष्ट्रों का अनुकरण कर रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि वे पाश्चात्य जगत् को श्रेष्ठ समझते हैं बल्कि वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने अपको बाह्य परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उद्योग कर रहे है। एशियायी राष्ट्र एशियायी ही बने रहना चाहते हैं, वे अपना अस्तित्व मिटाना नही चाहते। उन्होंने बड़ी ही बुद्धिमानी का कार्य किया है। किसी बलवान शत्रु के विरोध का सबसे अच्छा उपाय यही है कि स्वयं भी उसके ही अनुसार बलवान बन जायँ। एशियायी राष्ट्रों का आधुनिक इतिहास इस प्रकार के राष्ट्रों का इतिहास है जो अपनी कमज़ोरियों को समझते हैं और अपने आपको साम्राज्यवादियों के शिकार बनने से रोकने के लिए और बल में उनकी बराबरी करने के हेतु युरोप की नकल करने लग गये हैं।

सभी एशियायी राष्ट्र अपनी प्राचीन सभ्यता के गर्व में फूले हुए थे। दूसरे देशों के नये-नये आविष्कारों की तथा उनके द्वारा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन मे किये गये परिवर्तनों को जानते रहने की वे आवश्यकता नहीं समझते थे। निकटवर्ती देशों के विषय मे भी उनके भीतर पूरा अज्ञान फैला हुआ था। उनकी उन्नति तो रुक ही गई थी; साथ ही वे दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे थे। यह समय एशिया के लिए घोर निशा का समय था लेकिन युरोप के लिए यही सबसे लाभदायक काल कहा जा सकता है। वहां के राष्ट्रों ने इसे बहुत ही उपयुक्त अवसर समझ कर सारे एशिया पर अधिकार जमा लिया। उन्हे स्वार्थ ने बिल्कुल ही अन्धा बना दिया था। एशियायी राष्ट्रों के हित-अनहित का विचार किये बिना ही वे उनका खून चूसने लगे। उनकी आतंकदायिनी साम्राज्यवादी नीति ने एशियायी राष्ट्रों की नींद तोड़ दी।

जागृत होकर एशियायी राष्ट्रों ने अपने को आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र मे अच्छी तरह से बँधा हुआ पाया। कुछ देर के लिए वे निश्चित नहीं कर सके कि उन्हें उससे छुटकारा पाने के लिए कौन-सी नीति अपनानी

चाहिए। उनके पास युरोपीय राष्ट्रों जैसे अस्त्र-शस्त्र नही थे, यूरोपीय राष्ट्रों की धाक भी इतनी अधिक जम गई थी कि वे अजेय समझे जाने लगे थे। ऐसी स्थिति में युरोपीय राष्ट्रों का मुक़ाबला किस प्रकार से किया जा सकता था ?

परन्तु वह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। १९०५ का रूस-जापान-युद्ध उनकी जागृति का पौफट था। इस युद्ध ने एशियायी राष्ट्रों की आँखे खोल दी। यहाँ के सभी राष्ट्र समझने लगे कि जो कार्य जापान ने किया है। वे सभी करके दिखला सकते हैं। इस युद्ध में रूस की हार से युरोपीय राष्ट्रों के प्रति उनकी अजेयता की भावना जाती रही। सभी एशियायी राष्ट्रो के भीतर आत्मविश्वास का भाव आ गया। वे साम्राज्य-वादियो के चंगुल से छूटने के लिए घोर परिश्रम करने लगे। भारतवर्ष में क्रान्तिकारी दल स्थापित हो गया। अंग्रेज़ों के पंजे से भारतवर्ष को मुक्त करना उसका उद्देश था। तुर्की में तरुण तुर्कों का एक दल क़ायम हो गया जिसने तत्कालीन तुर्की सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से उतार कर वैध शासन की स्थापना की। फारस के राष्ट्रीय दल ने युरोपीय पर-तंत्रता की जंज़ीर को इसी समय तोड़ डालने का विचार निश्चित कर लिया। वहाँ की मजलिस ने शाह को गद्दी से उतार दिया और नई मज-लिस उद्घाटित की। चीन में 'कुओमिंग्टांग' नाम की एक गुप्तसमिति क़ायम हो गई। उन लोगों ने वहाँपर मंचू-शासन का अन्त कर दिया और प्रजातंत्र शासन की स्थापना की। एशिया के छोटे-छोटे राष्ट्रों में भी क्रान्ति की लहर काम करने लगी थी। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने दमन का चक्र चलाया। क्रान्ति दबी नहीं परन्तु, दमन के कारण उसे झगड़ते हुए आगे बढ़ना पड़ता था। इसी समय महासमर की तोपो के भीषण गर्जना ने सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। तुर्की को छोड़कर बाकी सभी एशियायी राष्ट्रो ने मित्र-राष्ट्रों को सहायता पहुँचाई। ये सभी राष्ट्र समझ रहे थे कि आपत्तिकाल में सहायता पहुँचाने से मित्र-राष्ट्र

उनकी इच्छाएँ पूरी हो जाने देने में बाधा नहीं पहुँचायेंगे। मित्र-राष्ट्रों ने भी एशियायी राष्ट्रों को आशा का बहुत ही सुन्दर सब्ज़ बाग़ दिखला रखा था। परन्तु वर्साई की सन्धि के समय मित्र-राष्ट्रों ने सभी एशियायी राष्ट्रों की आशाओं पर पानी फेर दिया। उन्होंने संसार मे शांति प्रस्थापित करने का नहीं बल्कि कलह फैलाने का प्रयत्न किया।

मित्र-राष्ट्रों के विश्वासघात ने एशिया में वह आग लगा दी जिसे बुझाना किसी के भी हाथ के बाहर की बात हो गई। इसी समय रूस ने आगे आकर एशियायी क्रान्ति में पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। बोल्शेवी लोगों के अधिकारारूढ़ हो जाने पर रूस साम्राज्यवादी राष्ट्रो का सबसे बड़ा शत्रु हो गया। उसने एशिया मे क्रान्ति की अग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर दिया। सभी एशियायी राष्ट्रों में साम्यवादी विचार फैलने लगे। साम्राज्यवाद के लिए जैसा भयानक यह समय सिद्ध हुआ वैसा और पहले कोई भी समय नहीं हुआ था। युरोपीय राष्ट्र स्वतंत्र तुर्की को संसार के नक़्शे से उठा देना चाहते थे। उनकी भाषा में वह बहुत पहले से ही 'युरोप का रोगी राष्ट्र' बन चुका था। इस समय मित्र-राष्ट्र उस रोगी की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाकर और रूस की सहायता लेकर रोगी रोगोन्मुक्त हुआ। उसमे ऐसा पुनरुज्जीवन आया कि रोग-ग्रस्त होने की छाया भी उसमें नहीं रह गई। फारस ने भी रूस से सन्धि कर लेनेपर अपने सभी बन्धन काट डाले। रिज़ा शाह के समय के फ़ारस को कोई भी बाँट लेने की हिम्मत नहीं कर सकता। अफ़ग़ानिस्तान ने उपयुक्त समय का बहुत ही अच्छी तरह से उपयोग किया। रूस से मिल जाने का भय दिखलाकर उसने अपने को अंग्रेज़ों के पंजे से अलग कर लिया। तब से अफ़ग़ानिस्तान पूर्णरूप से स्वतंत्र हो गया। अरब के राष्ट्रों ने अपने साथ किये गये विश्वासघात से असन्तुष्ट हो स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया। इब्नसऊद ने वहाँ नया जीवन पैदा किया। चीन ने

भी अपनी शक्ति संगठित कर ली। अब वह अपने यहाँ विदेशी लोगों को लूट मचाने का मौक़ा नहीं देता। अपमान-जनक पुरानी सन्धियाँ रद्द हो गईं। सदियों से सोते हुए भारतवर्ष में इस समय जैसी जागृति हुई वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। भारतवासी अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों की प्राप्ति के लिए पूर्णतः कटिबद्ध हो गये। श्याम, कोरिया, इण्डो-चीन, इण्डोनेशिया आदि एशिया के छोटे-छोटे राष्ट्र भी क्रान्ति मे पीछे नहीं रहे। जापान ने एशियायी राष्ट्रों के पथ मे रोड़े नहीं अटकाये। उसने प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप मे उनकी सहायता ही की है। युरोपियनों के प्रभुत्व को एशिया से उठा देने के प्रयत्न मे वह किसी भी एशियायी राष्ट्र से कम नहीं है। क्रान्ति की आग दिन-दिन इस प्रकार से भीषण-रूप धारण करती जाती है कि सभी भविष्यवादियों की आंखों के सामने वह चित्र दिखलाई पड़ने लगा है जब समस्त एशियायी राष्ट्र पूर्ण स्वतंत्र होकर मनुष्य-मात्र का कल्याण करेंगे।

शियायी राष्ट्रों ने अपने स्वातंत्र्य-संग्राम के समय आपस का भेद-भाव नष्ट कर देने की कोशिश की है। सभी एशियायी राष्ट्र आज एक दूसरे के लिए सहानुभूति का भाव रखते हैं। आज वे अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिए आधुनिकता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। पुरानी बातों से यदि उन्हें कोई अच्छाई मालूम पड़ती है तो उसे अपनाते हैं नहीं तो केवल पुरानी होने के ही कारण उनके बोझ से अपने आपको दबाने का प्रयत्न नहीं करते। पुरानी बातों मे जितनी ख़राबियाँ हैं उन्हें निकाल देने के लिए, अन्धविश्वास का नामोनिशान उठा देने के लिए आज वे भगीरथ प्रयत्न कर रहे है। उनके इस प्रयत्न को देखकर साम्राज्यवादी राष्ट्र भी चुपचाप बैठे नही है। वे एशियायी मंच पर शतरंज की चालें चल रहे हैं। साम्राज्यवादी अभी कितना भी प्रयत्न करे वर्तमान लहर के रुकने की सम्भावना नहीं दिखलाई पड़ती। एशियायी क्रान्ति के साथ सारे संसार का सम्बन्ध है। संसार में शान्ति की स्थापना तभी सम्भव हो सकती है

जब एशियायी राष्ट्र पूर्णरूप से स्वतंत्र हो जायं। अभी वे स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं। भविष्य की गोद में क्या है यह कहना कठिन है फिर भी एशियायी राष्ट्रों की जागृति पर दृष्टिपात करते हुए उनके क्रान्ति में पूर्ण-रूप से विजयी होने की ही सम्भावना है। एशियायी राष्ट्र स्वयं स्वतंत्र रहेंगे और स्वभावतः दूसरों पर अधिकार जमाने की चेष्टा नहीं करेंगे। वह समय मनुष्य-समाज के लिए चिरशांति स्थापित करने वाला होगा।

सत्यनारायण

विषय-सूची

[प्रथम खण्ड १—१८५]

१. आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र ... ३—३४
२. चक्र चला ! ... ३५—६८
३. एशिया की घोर निशा ... ... ६९—८३
४. पौफट : रूस-जापान युद्ध ... ... ८४—९२
५. आँखें खुलीं ! ... ... ९३—१०५
६. क्रान्ति का उषाकाल ... ... १०६—१३५
७. महासमर की छाया में ... ... १३६—१६२
८. शान्ति-स्थापन वा कलह-आवाहन ? ... १६३—१८५

द्वितीय खण्ड १८७— ४१०]

१. पूर्वाभिमुख रूस ... ... १८९—२२१
२. क्रान्ति के पथपर ... ... २२२—२३०
३. नवजीवन ... ... २३१—२५१
४. बन्धनमुक्त फारस ... ... २५२—२६६
५. अफ़ग़ानियों का अफ़ग़ानिस्तान ... ... २६७—२८३
६. विश्वासघात का प्रतिशोध ... ... २८४—२९९
७. तरुण चीन ... ... ३००—३३४
८. उद्‌बुद्ध भारत ... ... ३३५—३६५
९. हम भी पीछे नहीं हैं ! ... ... ३६६—३७५
१०. क्या जापान एशियायी राष्ट्रों का शत्रु है ? ३७६—३८२
११. नवीन भाव और प्रगति ... ... ३८३—४००
१२. आगे क्या है ? ... ... ४०१—४१०

[परिशिष्ट ४११—४४४]

१. वर्तमान एशिया··· ··· ··· ··· ···४१६—४३६
२. ईरान और ब्रिटेन··· ··· ··· ···४३७—४४४

एशिया की क्रान्ति

[प्रथम खण्ड]

[१]

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र

वर्तमान जगत् की सभी विशेषताओं में प्रमुख, अग्रगण्य और सर्वशक्तिशाली आर्थिक साम्राज्यवाद की विशेषता है। यही वर्तमान युग का युगधर्म है। विश्वव्यापी राज्य की स्थापना का भाव बहुत पहले से ही चला आता है परन्तु उसका रूप वर्तमान समय में जैसा है वैसा अतीत मे कभी नही रहा। वर्तमान साम्राज्यवाद का 'अर्थ' से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है, यही कारण है कि इसका नाम आर्थिक साम्राज्यवाद पड़ गया है। वर्तमान समय मे समाज का सम्पूर्ण संगठन आर्थिक नीति पर अवलम्बित है। समाज के छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े अंग तक का जीवन इससे प्रभावित हुए बिना नही रहता। इस समय संसार के सभी राष्ट्रो की जितने भी प्रकार की चाले होती हैं वे उनके अन्तरंग साम्राज्यवादी भावो के वाह्य प्रकाश के सिवा और कुछ भी नहीं है। बिना इसको समझे हुए वर्तमान संघर्ष और राजनीति को समझना असंभव-सा है। इस नये आर्थिक साम्राज्यवाद के कार्य का राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव देखते हुए वर्तमान युग का नाम *'आर्थिक साम्राज्यवाद का युग'* उपयुक्त मालूम होता है।

अर्थ-प्रधान युग

आर्थिक साम्राज्यवाद बिल्कुल ही नई चीज है। वर्तमान समय में इसका जिस विशेष अर्थ मे प्रयोग किया जाता है वह बीसवीं शताब्दी के पूर्व के कोषों में नही पाया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में—खास कर १८७० के लग-भग इसका उद्भव हुआ और इसका विशेष अर्थ मे प्रयोग सर्वप्रथम बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बोअर युद्ध के बाद हुआ। यह सर्वग्रासी अर्थनीति बीसवीं शताब्दी में ही पूर्णरूप से प्रकट हुई। गत अर्धशताब्दी का इतिहास जितना इस साम्राज्यवाद के नये रूप से प्रभावित हुआ है उतना और किसी भी चीज से नही हुआ।

आर्थिक साम्राज्यवाद क्या है ?

नये साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव संसार की कायापलट करने-वाली दो महान् क्रान्तियों से हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का इसपर अप्रत्यक्ष और कम गहरा प्रभाव है परन्तु औद्योगिक क्रान्ति का इसे जन्म देने में बहुत बड़ा हाथ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का प्रभाव युरोप पर यह हुआ कि राजकीय मामलों मे राजाओं के हाथ से ईश्वरप्रदत्त अधिकार निकलकर मध्यमवर्ग के धनी लोगों के हाथ में चला जाने लगा। इस कारण से वे लोग अपने व्यावसायिक लाभ को और भी अधिक बढ़ाने में समर्थ हो गये। व्यावसायिक लाभ बढ़ाने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। नये साम्राज्यवाद का मतलब ही उपनिवेशों में लाभ की मात्रा अधिक देखकर उन्हे अपनाने के भाव का तीव्र वेग से जाग्रत होना है।

प्रादुर्भाव के कारण

औद्योगिक क्रान्ति होने से युरोपीय देश व्यवसाय-प्रधान देश होने लगे। व्यवसाय बढ़ने पर उन्हें अपना तैयार माल बेचने

तथा कच्चामाल और खाद्यपदार्थ लाने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। रेल, तार, जहाज तथा युद्ध के नये अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार हो जाने से उपनिवेशों की दूरी बहुत ही कम दीखने लगी। उनपर अधिकार करने तथा अधिक दिनों तक आधिपत्य जमाये रखने में सुविधा हो गई। औद्योगिक क्रान्ति ने ही पूँजीपतियों को भी जन्म दिया। जिन लोगो को अपने देश के व्यवसाय से अधिक रुपये मिल गये थे वे एशिया, अफ्रिका तथा दक्षिण अमेरिका के रेल, सड़क तथा अन्य प्रकार के व्यवसायो में रुपया लगाकर अपना धन दिन प्रतिदिन बढ़ाते जाने के लिए सदा उत्सुक रहने लगे।

आरम्भिक कथा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब युरोपीय देशो के उद्योग-धन्धे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये तब साम्राज्य-वाद का नया स्वरूप प्रकट होने लगा। उपनि-वेशो को अपनाने के लिए सभी राष्ट्रों में प्रति-द्वंद्विता होने लगी। इंग्लैण्ड ही व्यवसाय में सब से आगे बढ़ा हुआ था इसलिए उसे उपनिवेशों की आवश्यकता सब से पहले हुई। उसके पास पहले से ही कुछ उपनिवेश थे परन्तु अभी जितने उसके अधिकार में हैं उनका आधा उसने १८७४ ई० के वाद अप-नाया। वहाँ पर बेंजामिन डिसरैली ने ही सब से पहले १८७५ ई० में अंग्रेजी सरकार के लिए स्वेज की नहर में १७६६०२०० डालर का शेयर खरीदकर और १८७६ में विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी होने की घोषणा कर नये साम्राज्यवाद के अपनाने का परिचय दिया। १८८०-९० के वीच में ही वर्मा, मलाया और बलुचिस्तान अंग्रेजी साम्राज्य मे मिला लिये गये थे।

जोसेफ़ चेम्बरलेन ने ब्रिटिशसाम्राज्य दृढ़ करने के उद्देश से डिसरैली का अनुकरण किया। इन्होंने अपनी नीति निर्धारित की कि नये बाजार पैदा किये जायँगे और पुराने बाजारो में उन्नति की जायगी। इस कार्य की पूर्ति के विषय में इन्होने कहा था 'हम लोगों का, आवश्यकता आपड़ने के कारण, कर्तव्य है कि साम्राज्यांतर्गत जितने उपनिवेश हैं उन पर क़ब्ज़ा जमाये रहें और जब कभी सुयोग प्राप्त हो तो वैसे देशो पर, जो व्यापार के लिए खोले जा रहे हैं और जहाँ सभ्यता का प्रचार किया जा रहा है अधिकार जमाया जाय और अपनी प्रभुता बढ़ाई जाय।'

ब्रिटेन के लिए १८६०-८० तक का समय ऐसा है जिस समय उसका अधिक से अधिक उपनिवेशो पर क़ब्ज़ा हो गया था। १८८४-१९०० के वीच में युरोप के दूसरे राष्ट्र उपनिवेशो पर अधिकार जमाने के लिए बड़ी तेजी से दौड़े। यदि हम लोग ड्राउल्ट (Ed Drault) की किताब (Social And Political Problems at the End of the XIX Century के संसार के बटवारे वाले अध्याय) पर ध्यान दे तो स्पष्ट हो जायगा कि उपनिवेशो के लिए राष्ट्रो को कितनी अधिक वेचैनी थी। उसने लिखा है "युरोप और अमेरिका ने हाल के कुछ ही वर्षों में चीन के सिवा संसार के सभी स्वतन्त्र देशों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। इस समय के सभी झगड़े देशो पर अधिकार जमाने के लिए ही हुए। सभी राष्ट्र जल्दी करना चाहते हैं। जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश नहीं हैं उन्हें भविष्य में भी मिलने की आशा नहीं है। यदि उन्हें उपनिवेश नहीं मिलेंगे तो वीसवीं शताब्दी में किये जाने वाले धन की

उपनिवेशों पर धावा

लूट में उनका हाथ नहीं रहेगा। यही कारण है जिससे युरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवादी नीति के कारण मतवाले बन गये है।" इस दौड़ के समय ब्रिटेन का ३७००००० वर्गमील भूमि पर जिसकी

साम्राज्य-विस्तार की दौड में

आबादी ५७०००००० थी अधिकार हो गया। इसी समय फ्रांस ने ऐल्सेसलोरेन की क्षति का बहाना कर तीस वर्ष के भीतर ही पांच लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया। अन्नाम और टौन्किन पर उसने अधिकार कर चीन का अंग विच्छेद कर दिया। जर्मनी के व्यापारियों ने भी १८८४ में बिस्मार्क को अपनी इच्छानुसार चलने के लिए राज़ी कर लिया और अफ्रिका तथा ओसियानिका की दस लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया। बिस्मार्क ने स्वीकार किया है कि उसके कार्य आर्थिक भावों से प्रेरित होकर ही हुए। उसने कहा था कि वह युरोप के बाहर प्रान्त नहीं चाहता परन्तु व्यापार चलाने योग्य देश चाहता है। इटली का ज्योंही राष्ट्रीय एकीकरण हुआ वह औपनिवेशिक साम्राज्य बढ़ाने में लग गया। रूस, जापान, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, पोर्तुगाल और स्पेन ने भी नये भूमिखंडो पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि बेल्जियम-जैसे छोटे राष्ट्र ने भी अपने से अस्सी गुने बड़े भूखंड पर अधिकार जमा लिया। एशिया तथा अफ्रिका के राष्ट्र सोये हुए थे; उनमे जागृति नहीं थी; राष्ट्रीयता का भाव नहीं था; संसार से भी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था इसलिए युरोप के छोटे से छोटे राष्ट्र ने अपने से कई गुने बड़े भूखंड पर अधिकार कर लिया। जहाँ १८७६ ई० तक युरोपीय राष्ट्रों का अफ्रिका के १०.८ भाग पर क़ब्ज़ा था तहाँ

१९०० ई० में ९०.४ हो गया। एशिया में भी जापान के सिवा सभी राष्ट्र साम्राज्यवाद के चक्र मे आ गये। प्रशान्त महासागर के सभी टापुओ पर युरोपीय राष्ट्रो का अधिकार हो गया। १८७६ के पहले जर्मनी, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और जापान के पास उपनिवेश बिल्कुल नहीं थे; फ्रांस के पास भी बहुत ही कम थे परन्तु १९१४ में उन्हीं राष्ट्रों के हाथ में युरोप से डेढ़ गुना बड़ा साम्राज्य, जिसकी आबादी दस करोड़ थी, आ गया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग मे सारे संसार का पूर्ण रूप से बटवारा हो चुका था। बटवारा करने के लिए आरम्भ में समझौते से काम लिया गया। इंग्लैंड यदि मिश्र पर क़ब्ज़ा करे तो फ्रांस चुप रहे और फ्रांस यदि मोरक्को पर क़ब्जा करे तो इंग्लैंड चुप रहे। आरम्भ में इस प्रकार का भाव था परन्तु जब बटवारे के लिए जमीन नहीं रह गई तब लड़ाइयाँ होने लगीं।

इस दौड के पीछे क्या है?

अब हम लोगों को विचार करना है कि किन भावो से प्रेरित होकर युरोपीय राष्ट्र उपनिवेशों पर क़ब्जा करते थे अथवा अभी किये हुए है। उपनिवेशों पर कब्जा करने में उनका सबसे बड़ा लाभ आर्थिक है। युरोपीय देशों में बड़ी मात्रा मे उत्पत्ति होने लगने से अपनी चीजो को अधिक-से-अधिक दाम में बेचने और कच्चे माल तथा खाद्यपदार्थ को कम से कम दाम में खरीदने की आवश्यकता पड़ने लगी। अन्तिम पचास वर्षों मे, खास कर वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से, आर्थिक उन्नति के कारण स्पर्धा इतनी अधिक बढ़ गई है जितनी और कभी नहीं

थी। कच्चा माल प्राप्त करने का संघर्ष बहुत जटिल हो गया है। केवल अमेरिका में ही शिल्प की इतनी अधिक उन्नति हो गई है, कल-कारखाने इतने अधिक हो गये हैं कि उन्हें संसार के कच्चे माल की उत्पत्ति के पचास प्रतिशत से भी अधिक की आवश्यकता है। उपनिवेशो पर अधिकार जमाने से ही कोई देश कच्चे माल की प्रतिद्वंद्विता मे अपने प्रतिद्वंद्वी देश को हरा सकता है। उपनिवेश यदि स्वतन्त्र रहें तो वे कच्चे माल पर राज्य का एकाधिकार कर अपने देश के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा कर सकते हैं। ज्यो-ज्यों पूँजीवाद बढ़ता जाता है कच्चे माल की माँग बढ़ती जाती है। कच्चे माल की प्रतिद्वन्द्विता ज्यो-ज्यो बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उपनिवेशों पर अधिकार जमाने के लिए झगड़ा बढ़ता जाता है। प्रत्येक युरोपीय राष्ट्र चाहता है कि अधिक से अधिक उपनिवेश उसके निज के अधिकार मे रहें क्योकि वैसी अवस्था मे ही वह अपने प्रतिद्वंद्वी को परास्त करने और कम दाम मे कच्चा माल प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है।

कच्चे माल की जरूरत

कल-कारखानो के बहुत अधिक बढ़ जाने से युरोप मे बहुत अधिक उत्पत्ति होने लगी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग से उनके सामने उत्पत्ति करने का नहीं परन्तु अपना माल खपाने का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। उस समय के अधिकांश उत्पत्ति करनेवाले व्यवसायियो का विचार था कि उपनिवेशो पर क़ब्ज़ा हो जाने से वे विजित देश के ही हाथ अपना तैयार किया हुआ माल बेच सकेंगे और उनसे ही कच्चा माल खरीद सकेंगे। इस-लिए एक राष्ट्र के पास जितने अधिक उपनिवेश होंगे उतना ही

बड़ा बाजार उस देश के उत्पत्ति करनेवाले व्यवसायियों के लिए होगा। बाजार जितना ही अधिक बड़ा होगा राष्ट्र का शिल्प उतना ही अधिक बढ़ेगा। शिल्प बढ़ने से राष्ट्र के पास अधिक से अधिक धन आयगा, वहाँ के व्यापारियों को बहुत लाभ हो सकेगा। और इस कारण से वहाँ के मजदूर वर्ग की भी अवस्था बहुत अच्छी रहेगी। इस विचार के लोग देश मे बाहर से आनेवाले तैयार माल पर अधिक से अधिक कर लगाकर संरक्षण की नीति वर्तते थे। वे इस बात का सदा खयाल रखते थे कि अपने देश का व्यवसाय स्पर्धा में दूसरे देश से कम न रहे। अपने अधिकृत उपनिवेशो में भी इसी प्रकार की नीति वर्तना चाहते थे। इस प्रकार के साम्राज्यवादियो के विचारो का स्थूल प्रमाण १८९८ ई० में मिलता है। कैनेडा ने पहले अपने लिए संरक्षण की नीति घोषित की थी, पीछे यह घोषणा की कि ग्रेटब्रिटेन से जो माल उस देश में जायगा उस पर और देशो की अपेक्षा एक चौथाई (१९०० में यह एक तिहाई हो गया) कम कर लगाया जायगा। इसी प्रकार फ्रांस ने भी निश्चित किया था कि फ्रांस के उपनिवेशो में और देशो से जो माल जाय उसपर कर लगे परन्तु फ्रांस से जानेवाले माल पर न लगे।* इन दो उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि एक देश को अपने हाथ मे उपनिवेशो के रखने से कैसे-कैसे

स्पर्द्धा की भूख

---

* अब तो इम्पायर कान्फ्रेंस मे नियमित रूप से एक दल 'फ्री ट्रेड' की नीति का समर्थन करता है और इंग्लैंड ने अपने उपनिवेशों में यह सुविधा भी करा ली है कि उसके माल पर अन्य देशों के माल से कम चुंगी लगाई जाय।

लाभ प्राप्त हो सकते थे।

उपर्युक्त बात ठीक जंचती हुई भी भ्रांतिमूलक दिखाई पड़ती है। उपनिवेशों को अधिकार में रखने से किसी एक पूरे देश का लाभ नही होता। इसका स्पष्टीकरण औपनिवेशिक व्यवसाय के अंको पर दृष्टि डालने से हो जायगा। १९१३ मे कैनेडा ने अपने आयात का केवल २० प्रतिशत इंग्लैंड से लिया। दूसरी ओर आर्जेंटाइना ने (जो ग्रेटब्रिटेन का उपनिवेश नहीं है) अपने आयात का ३० प्रतिशत से भी अधिक इंग्लैंड से लिया। इंडोचायना के व्यापार का केवल तृतीयांश फ्रांस के हाथ में रहता था। इसका उल्टा परिणाम डच लोगो के ईस्टइण्डीज के व्यापार मे देखा जासकता है। परन्तु उस उपनिवेश मे भी उसकी रक्षा के लिए इन लोगों को जितना खर्च करना पड़ता है वह लाभ के बराबर ही हो जाता है। जर्मनी के १९१३ के दक्षिण-पश्चिम अफ्रिका के व्यापार में भी यही बात दिखलाई देती है। औपनिवेशिक व्यापार का भाग देश के पूरे व्यापार में बहुत ही कम रहता है। १९१३ में जर्मनी ने अपने उपनिवेशों को जितना माल भेजा उसका चौदह गुना अकेले फ्रास में भेजा, इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी राष्ट्र की शिल्पोन्नति के लिए उपनिवेश सहायक नहीं होते।

भ्रममूलक विचार

वर्तमान साम्राज्यवादी नीति का असली उद्देश्य सारे देश के व्यवसाय को प्रोत्साहित करने का नही वरन् उस देश के कुछ व्यक्तियो के, जिनका लाभ उपनिवेशों के साथ व्यापार करने में है, लाभ मे वृद्धि में करना है। १८६० के पहले यूरोप के कल-कारखानों

असली उद्देश्य

स्वतंत्र रूप से स्पर्धा चलती थी परन्तु इसके बाद से वह रुकने लगी। उसके बाद एकाधिकार चलने लगा। बड़े-बड़े कारखाने दूसरे कारखानों को मिलाने लगे और देश का सारा व्यवसाय अपने हाथो में लेने लगे। जर्मनी, इंग्लैंड, अमेरिका सभी देशो में ऐसा ही हुआ। उदाहरण के लिए हम लोग जर्मनी को ले। १९०९ मे सारे जर्मनी मे १.१ बड़े व्यवसायी थे। उनके ही कारखानों में ३०.५ प्रतिशत मजदूर काम करते थे और वे ही ४३.८ उत्पत्ति करते थे। ऐसे बड़े-बड़े व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार कर लेते हैं जिससे दूसरे व्यवसायी उनकी प्रतिद्वंद्विता न कर सकें। आपस की प्रतिद्वंद्विता से लाभ कम न हो जाय इसलिए बड़े-बड़े व्यवसायी एक गुट्ट बना लेते हैं। इस प्रकार के ट्रस्ट, कार्टल और सिंडिकेट आपस में यह भी तै कर लिया करते हैं कि कौन-कौन व्यवसायी कितनी-कितनी उत्पत्ति करेगा और उसे कितने दाम पर बेचेगा। वे लोग अपने अधिक से अधिक लाभ की सीमा देख लेते है। उत्पत्ति अधिक इसीलिए नही होने देते जिसमें उनका लाभ कम न हो जाय। वे दूसरे लोगों को भी मात्रा से अधिक उत्पत्ति न करने के लिए वाध्य करते हैं। छोटे-छोटे व्यवसायी यदि उनकी शर्तों को नही मानते तो वे अपनी चीजों का दाम कम करके उन्हें या तो व्यवसाय से अलग हो जाने अथवा अपने साथ मिल जाने के लिए मजबूर करते हैं। ऐसे व्यवसायी बड़े-बड़े इंजीनियर, कुशल कारीगर, आविष्कारक आदि को भी अपने ही कब्जे मे रखते हैं; आविष्कार की नई चीजों को पहले ही अधिक से अधिक दाम देकर खरीद लेते हैं जिसमे दूसरा कोई उससे लाभ नही उठा सके।

ये लोग दूसरे देशों के व्यवसायियों के साथ भी एक निश्चित समय के लिए समझौता कर आपस में चीजो की क़ीमतें तै कर लिया करते हैं। इस प्रकार संसार-भर की उत्पत्ति का बटवारा कुछ थोड़े-से व्यवसायियों के ही बीच हो जाता है।

कोयला, लोहा और तेल

वर्तमान समय में कोयला, लोहा और तेल इन तीन पदार्थों की महत्ता इतनी बढ़ गई है कि ये जिसके पास जितने अधिक परिमाण में रहेंगे वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। शिल्प की वृद्धि के लिए सर्वप्रथम इन्ही चीजों की आवश्यकता पड़ती है। अब ऐसी अवस्था आ गई है कि जो देश शिल्प मे जितना ही आगे बढ़ा रहेगा लड़ाई में उसके विजय प्राप्त करने की उतनी ही अधिक सम्भावना है। बड़े-बड़े व्यवसायी इन्ही चीजों पर अपना अधिकार जमा लेते है। संसार में जिस चीज की जहाँ-जहाँ उत्पत्ति होती है वहाँ-वहाँ अपना जाल फैलाकर उसे अपने अधिकार में कर लेने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए तेल को लें। १९०५ मे ही सारे संसार का तेल दो बड़े व्यवसायियो—रौकफेलर की स्टैंडर्ड आइल कंपनी और राथ्सचाइल्ड ऐंड नोव्ल के बीच बट गया। ये दोनो मिलकर काम करते है जिसमें उनका लाभ स्पर्धा के कारण कम न हो जाय।

नकेल बैंकों के हाथमें

बड़े-बड़े व्यवसायों मे अधिक से अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। पूँजी इकट्ठी करना बैंकों का काम है। व्यवसाय बढ़ने से व्यवसायी बैंको से अधिक से अधिक कर्ज लेने लगे। पूँजी के लिए वे बैंकों के ही ऊपर निर्भर करने लगे। आगे चलकर बैंक और

व्यवसायी मिल से गये। बैंकों के हो आदमी कारखानो के डाइरेक्टर और मैनेजर होने लगे। बैंकों का अधिकार कारखानो पर हो गया। व्यवसाय के मालिकों को लाभ का भाग मिलता था परन्तु व्यवसाय की नीति पूर्णरूप से बैंक ही निर्धारित किया करते थे। बैंकों के मैनेजर वैसे ही आदमी होने लगे जिन्हें शिल्प का अच्छा ज्ञान रहता था। शिल्प का ज्ञान कारखाने अथवा रेल्वे आदि चलाने वाले लोगों को ही रहता है इसलिए वे ही लोग बैंकों के मैनेजर होने लगे। जब व्यवसायियों के हाथ में व्यापार था तो वे तैयार माल बाहर भेजा करते थे परन्तु बैंकों के अधिकार में व्यापार आने पर पूँजी ही बाहर भेजी जाने लगी। उन लोगों ने देखा कि पूँजी भेजने में ही अधिक लाभ है। जितने देश सभ्यता में पीछे पड़े हुए थे उन्हें अपने को नई सभ्यता के ढांचे में ढालने की आवश्यकता पड़ी। उनका देश पहाड़ी था। बन्दरगाहों का अभाव और सड़कों का न रहना उन्हे खटकने लगा। देश के भीतरी प्रांतो से समुद्र के किनारे तक माल ले जाने ले आने में असुविधा थी इसलिए उन्हे रेल की सड़क बनाने अथवा खानों से चीजों के निकालने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती थी। बिना पूँजी के वे कुछ भी सुधार नहीं कर सकते थे।

वर्तमान उद्योग में पूँजी का महत्व

यूलेविया का उदाहरण लें तो देखेंगे कि वहाँ वाले चांदी पर चलते थे, वहां चाँदी की बहुत अधिक खानें थी फिर भी उनके शरीर पर फटे कपड़े रहते थे। वे इतने निर्धन थे कि अपनी खानों से चीजे नहीं निकलवा सकते थे। ऐसी अवस्था में उन्हे पूँजी लेने की आवश्यकता थी। इस समय वैसे देश जिनमें पूँजी अधिक

हो गई थी और जिन्होंने देख लिया था कि देश में ही पूँजी लगाने से उतना लाभ नहीं होगा जितना बाहर लगाने से होगा, अपने देश से बाहरी देशों में पूँजी भेजने लगे। निम्नलिखित अंकों * से मालूम हो जायगा कि तीन प्रधान देशो ने कितनी पूँजी बाहरी देशों में लगाई--

साल	इंग्लैंड	फ्रांस	जर्मनी
	मिलियार्ड (अरब) में फ्रैंकों		
१८६२	३ ६		—
१८७२	१'५	१० (१८६९)	—
१८८२	२२	१५ (१८८०)	—
१८९३	४२	२० (१८९०)	—
१९०२	६२	२७—३७	१२.५
१९१४	७५—१००	६०	४४

विदेशी पूँजी का प्रवाह

विदेशी बैंक पूँजी अपनी देते थे और ऋण लेने वाले देशों पर अपना आधिपत्य जमा लेते थे। लाभ का थोड़ा भाग देशी लोगों को मिलता था और बाक़ी सब विदेश चला जाता था। पूँजी भेजने का कोई निश्चित परिमाण नहीं रहता। लड़ाई के पहले फ्रांसीसी बैंको की बहुत चलती थी। सारे उत्तरी अफ्रिका और बाल्कन प्रायद्वीप में सोसायटी जेनरल (फ्रांस की एक बैंक) की शाखाएँ फैली हुई थीं। भारतवर्ष में भी अभी जितनी पूँजी लगी है उसका लगभग नब्बे प्रतिशत विदेशी है।

---

* देखिए—'इम्पीरियलिज्म': लेनिन, पेज ६३

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से यूरोपीय देशों मे व्यवसाय का केन्द्र कपड़े आदि से उठकर लोहे के व्यवसाय मे जाने लगा। बड़े बड़े व्यवसायी अपना अधिकतर रुपया लोहे के ही व्यवसाय में लगाते थे। इनकी उन्नति होने लगी क्योकि युद्ध के लिए आवश्यक सामग्रियो से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। नाविक, सैन्य तथा हवाई शक्तियो की तबतक उन्नति नही हो सकती थी जबतक लोहे के व्यवसाय मे उन्नति न हो, इसीलिए जितने बड़े बड़े वैक वा औद्योगिक ट्रस्ट होते थे अपना रुपया लोहे के व्यवसाय में लगाते थे। मशीन, रेल तथा और अन्य प्रकार की चीजो की आवश्यकता व्यापारियो के लिए होती रहती है। लोहे का कोयले से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसलिए लोहे के व्यापारी कोयले पर भी अधिकार कर लेते हैं। इसमे कितनी उन्नति हुई इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि १८५० मे सारे संसार में लोहे (कास्ट) की उत्पत्ति ७० लाख टन थी वही केवल ६० वर्षों मे १९१० मे दसगुनी बढ़कर सात करोड़ टन हो गई। वर्तमान साम्राज्यवादी राष्ट्रो की विदेशी राष्ट्रो के साथ जो नीति रहती है उसमे लोहे के विभाग का बहुत बड़ा भाग रहता है। ऐसे लोहे के व्यवसायी सदा लड़ाई के पक्ष मे रहते है जिसमें उन्हे अधिक से अधिक लाभ हो। लोहे के व्यापारी चाहते है कि संसार भर मे जितना भी लोहा वा कोयला उत्पन्न होता है वह उनके हाथ में आजाय। इसीलिए वे राज्यशक्ति पर जोर भी डालते हैं। हम लोग यदि वरसाई की सन्धि पर ध्यानपूर्वक

कपड़ा से लोहे की ओर

लोहे की उन्नति मे आश्चर्यजनक वृद्धि

विचार करें तो पता चलेगा कि गत महायुद्ध का मुख्य कारण एल्सेसलोरेन, सार बेसिन, ब्राई, रूर और मोरक्को की लोहे और कोयले की खानें ही थीं। राजशक्ति पर इन लोहे के व्यवसायियों की बड़ी धाक रहती थी। ये उनकी कुछ भी परवा नहीं करते, उन पर सदा जोर डाला करते थे जिसमें वे उपनिवेशों में रेल-तार आदि बनवाने के अधिकार प्राप्त करें। रेल आदि के बनने से उनकी चीज़ों की मांग होती और उनकी आमदनी बढ़ती। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों में अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए और अपने देश के कपड़े आदि के व्यवसायियों तथा लोहे के व्यवसायियों के लाभ के लिए रेल आदि बनवाता है। इसी का परिणाम हुआ कि १८५० और १९१० के बीच में ही रेलों का आठ गुना विस्तार हो गया। ज़ारशाही के अधीन रूस ने सेंटपीटर्सबर्ग से फारस की खाड़ी तक, ग्रेट ब्रिटेन ने केप-टाउन, कैरो, कलकत्ता और जर्मनी ने बर्लिन, बैजेण्टाइन, बगदाद रेल्वे की योजना की थी।

बैंकों की इतनी प्रधानता हो जाती है तो वे राज्यशक्ति पर भी अपना अधिकार जमा लेते हैं। वर्तमान समय में अधिकतर राज्य प्रजासत्तात्मक हैं। जब चुनाव होता है उस समय बैंक अपने लाभ की रक्षा के लिए राजनीतिज्ञों को अपनी ओर मिला लेते हैं और उनके चुने जाने के लिए क़ाफी रुपये खर्च करते हैं। इस प्रकार की क्रिया द्वारा कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के ही हाथ में राज्य की सारी शक्ति आ जाती है। राजनीतिज्ञ उन्हीं की इच्छानुसार कार्य करते हैं। अखबारों को भी रुपया देकर ये रुपया

राज्य बैंकों की मुट्ठी में

लगानेवाले अपनी ओर मिलाये रहते हैं इसलिए अख़बारों की नीति भी इन्हीं की नीति रहती है। इस प्रकार का प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र संसार के आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने के लिए पूर्ण रूप से बड़े-बड़े बैंकों की पूँजी पर निर्भर करता है। ये साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी देश के राजनैतिक यंत्र पर क़ब्ज़ा करने की उतनी परवा नहीं करते जितनी वहाँ के आर्थिक श्रोतों पर अधिकार करने की करते है। वे अपनी पूँजी भेजकर दूसरे देशों के आर्थिक जीवन पर अधिकार कर लेते हैं और उससे बहुत अधिक फ़ायदा उठाते है। आज से छब्बीस वर्ष पहले अंग्रेज़ी निर्यात केवल १८० लाख पौंड था। उस समय तैयार माल ही अधिक भेजा जाता था परन्तु अब जब तैयार किये हुए माल की अपेक्षा अनेक गुने बड़े पैमाने में पूँजी भेजी जाती है तब बाहर लगी हुई पूँजी के सूद की आमदनी ही नौ करोड़ हो गई है। चीन की रेलों मे अंग्रेज़ी पूंजी तेरह करोड़ बीस लाख डालर और हांगकांग-शंघाई बैंकों की पूंजी और जमा मिलकर क्रमशः दस करोड़ और एक अरब दस करोड़ डालर है।

पूंजीपतियों के एकाधिकार का समय १८६०-७० से आरम्भ होकर बढ़ता ही गया और आगे चलकर उसी का रूप 'फाइनेंस कैपिटल' हो जाता है। इस अध्याय के आरम्भ मे ही हम लोगों ने यह भी देखा था कि यही समय है जब से संसार के बटवारे की प्रतिद्वंद्विता दिन-पर-दिन जटिल होती गई इसलिए यह बात निःसन्देह सिद्ध हो जाती है कि संसार के बटवारे के कार्य में मुख्य हाथ फाइनेंसकैपिटल का ही है। उन्हीं थोड़े-

से बड़े पूंजीपतियों के बीच सारे संसार का बटवारा हो गया है। उपनिवेशों मे रुपया लगाने से बहुत लाभ होता था इसलिए व्यवसायी वहाँ पर गये। उन लोगों का लाभ होता था और उपनिवेशो को अधिकार में लाने के लिए राष्ट्र का टैकर-द्वारा वसूल किया हुआ रुपया खर्च होता था। फिर इस प्रकार से लाभ उठाने वाले क्यों न साम्राज्यवाद के सच्चे प्रशंसक हो जायं ? प्रत्येक राष्ट्र जहाँ के बैंकर उपनिवेशों का अर्थ-सञ्चालन (फाइनेंस) करते थे, धनी लोग जिनका उपनिवेशों की खान और व्यवसाय में धन लगा हुआ था साम्राज्यवाद के कट्टर पक्षपाती हो गये।

कर्ता-धर्ता

ये साम्राज्यवादी ही राज्य का काम सम्हालते है। अब जितनी लड़ाइयाँ होती है उनके बाहर से मालूम पड़ता है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्र लड़ रहे हैं परन्तु वास्तविक बात वैसी नहीं रहती। जिनका आर्थिक लाभ रहता है उन्ही लोगो के बीच लड़ाई होती है। पहले की सरकारें जमींदारों की सहायता से लड़ती थीं अबकी सरकारें पूँजीपतियों के जोर डालने से, उन्ही के फ़ायदे के लिए, उन्ही के खर्च से लड़ती हैं। १९११ में जर्मन-सरकार मोरक्को के मामले में बहुत दिलचस्पी लेती थी। इसका कारण यह था कि मैनेस्मैन ऐण्ड ब्रदर्स का मोरक्को की खानो में आर्थिक लाभ था। इग्लैंड के कुछ व्यवसायियों का रुपया मिश्र मे लगा हुआ था; उसकी रक्षा के लिए अंग्रेजी सरकार ने मिश्र के मामले में हस्तक्षेप किया। बोअर युद्ध मे खास बात दक्षिण अफ्रिका की खानो के लाभ में कमी थी। गत महायुद्ध भी पूर्ण रूप से साम्राज्यवादियों

का ही युद्ध था। लड़ाई में कल-कारख़ाने जितने भी नष्ट किये गये वे इसलिए कि जिसमें प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र लड़ाई के बाद अपने साथ स्पर्द्धा न कर सके। जर्मनी के कुछ बड़े-बड़े बैंक बर्लिन-बग़दाद रेलवे में रुपया लगाना चाहते थे; अंग्रेज़ इसे नहीं होने देना चाहते थे। महायुद्ध का सबसे बड़ा कारण यही था। इन व्यवसायियो के लाभ के लिए ही देश विजय किये जाते हैं। इनके साथ कुछ और भी लोग होते हैं जिनके लिए लाभ का एक-दो टुकड़ा व्यवसायी फेंक दिया करते है। ऐसे लोगों मे एक लड़ने वाले लोग हैं। यदि शांति रहेगी तो उनका पेशा मारा जाता है इसलिए ये भी साम्राज्यवादियों की हॉ-में-हॉ मिलाते हैं। दूसरे वैसे लोग है जिन्हे उपनिवेशों मे ऊंचे-ऊंचे पद प्राप्त हो जाते है। अपने देशमें जिन्हे गौरव तथा ऊंचे पद प्राप्त करने का मौक़ा नहीं मिलता वे दूसरे देशों मे जाकर उसे प्राप्त करते है. फिर वैसे लोगों का साम्राज्यवाद का सहायक होना स्वाभाविक ही है।

साम्राज्यवाद के दूत—ईसाई मिशनरी

बहुत से लोगो का विचार है कि साम्राज्यवादी नीति बर्तने में धार्मिक उद्देश भी था। ईसाइयों का यह विश्वास कि हीदेन लोगों को स्वर्ग नहीं मिलेगा, प्रचार करने के लिए उन्हें उपनिवेशों मे ले गया। पश्चिम के लोगो को विश्वास होने लगा कि हमारी ही संस्कृति संसार में सर्वश्रेष्ट है; हम उसे दूसरे लोगों मे फैलावें। युरोप मे राष्ट्रीयता का भाव उदय हुआ था; उसी समय अपने को बड़ा और श्रेष्ठ समझने का भी भाव आया था परन्तु यह विचार मिशनरियों के कार्य पर ध्यान देने से असत्य सिद्ध

होता है। कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरी साम्राज्यवादी नीति काम में लाने के लिए पहले भेजे जाते है। नामाकुआलैंड (जर्मन दक्षिण-अफ्रिका) में मिशनरियों की रक्षा का बहाना करके ही सबसे पहले जर्मनी का झंडा गाड़ा गया था। जर्मनी को किआचाऊ पर अधिकार जमाना था उसके लिए भी दो जर्मन मिशनरियों के मारे जाने का ही बहाना किया गया था। मिशनरियो ने साम्राज्यवाद के कार्य को अवश्य ही आगे बढ़ाया है परन्तु साम्राज्यवाद ने उनके कार्य को नहीं बढ़ाया बल्कि उसने कुछ उल्टा ही किया है। भारतवर्ष में लोगो के बीच अंग्रेजों के खिलाफ़ धार्मिक असंतोष न पैदा हो जाय इसलिए मिशनरियों के आने और प्रचार करने की मनाही कर दी गई थी। उपनिवेशों की प्रजा पर युरोपीय अधिकारियो, व्यवसायियों तथा सैनिको द्वारा किये गये अत्याचार ने दलित लोगों के भीतर पाश्चात्य धर्म के खिलाफ़ अश्रद्धा पैदा कर दी थी। दूसरे देश को सभ्य बनाने में भी अंग्रेजो की व्यवसायी बुद्धि ही कार्य करती थी। व्यवसायी साम्राज्यवाद की सर्वप्रथम योजना करनेवालों में एक स्टैन्ली (Stanly) भी था। उसने मैंचेस्टर के कपड़ो के व्यवसायियों के सामने जो व्याख्यान १८८४ में दिया था उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। उसने कहा था:—

'कौंगो मे ईसाई धर्म और सभ्यता का प्रचार होने से नंगे नीग्रो लोग अच्छे रूई के कपड़े पहनने लगेंगे। कम से कम रविवार को तो वे पहनेंगे ही। यदि वे केवल रविवार को ही कपड़े पहनें तो भी उन्हे बत्तीस करोड़ गज कपड़े की आव-

श्यकता पड़ेगी और यदि वे लोग सब समय कपड़ा पहनने लगेंगे तो उन्हें दो करोड़ साठ लाख पौंड प्रत्येक साल खर्च करना पड़ेगा।'

इंग्लैंड का व्यापार कपड़े में ही सबसे अधिक चलता है। उसे उसकी खपत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। उसने यदि कहीं के लोगों को सभ्य बनाने की चेष्टा भी की तो अपने व्यापारिक भावों से ही प्रेरित होकर की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप की साम्राज्यवादी नीति से लाभ बहुत ही थोड़े लोगों का होता है। कच्चामाल लेने

राष्ट्र के नाम पर धोखा

वाले, तैयार माल भेजनेवाले, जहाज का व्यवसाय करनेवाले, लड़ाइयों में लड़नेवाले, उपनिवेशों में नौकरी करने वाले, बैंकर, रुपया लगाने वाले पूँजीपति तथा राजनीतिज्ञ—बस लाभ ये ही लोग उठाते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सारा राष्ट्र का राष्ट्र उस नीति का समर्थन करता है। वास्तव में तो राष्ट्र का नुकसान ही होता है क्योंकि उन्ही लोगो द्वारा दिये गये टैक्स के रुपयो से लड़ाइयां लड़ी जाती हैं फिर भी न जाने क्यो वे साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते हैं ?

बात यह है कि साम्राज्यवाद के पोषक उन्हे धोखा देने में सफल हो जाते है। वे बतलाते हैं कि अधिक से अधिक सेना रखने से ही दूसरे राष्ट्रों से उनकी रक्षा की जा सकेगी। लड़ाई के समय कच्चे माल के मिलने मे असुविधा होगी इसलिए पहले से ही उसपर अधिकार जमाये रहना चाहिए। साथ ही वे लोगों के भीतर यह भी विश्वास जमा देते है कि उपनिवेशों

को अधिकार में रखने से देश की इज्जत और प्रख्याति बढ़ जायगी। जिस देश पर वे अधिकार करेंगे यदि वहां की आबादी अधिक नही होगी और वह स्थान युरोपियन लोगों के रहने योग्य होगा तो जन-संख्या बढ़ने पर लोग वहां जाकर रह सकेंगे। यदि वहां की आबादी बहुत अधिक होगी तो वहां पर युरोपीय ढंग की राजसत्ता कायम करनी पड़ेगी; यदि वह ऊसर भूमि रहेगी तो भी जहाजो के कोयला लेने का स्थान बन सकेगा। साम्राज्यवादी भाव वालो के ही हाथों मे अखबार रहते हैं इसलिए उन्हे अपने विचारो के फैलाने की अधिक सुविधा रहती है। वे अपने निज के लाभ की वातें छिपा रखते हैं और आम जनता को राष्ट्र के लाभ की आशा दिखलाकर अपने पक्ष मे कर लेते है। आम जनता साम्राज्यवादियों के लाभ के लिए अपना रुपया खर्च होने देती है। इसका कारण यह है कि अपने देश के व्यापारियों के साथ दूसरे देश के व्यापारियो के झगड़े के समय वे अपने व्यापारियो के साथ ही एकता का अनुभव करते हैं। देश की दृष्टि से व्यापारी और आम जनता का हित भिन्न-भिन्न नही रहता इसलिए जनता के विचार दूसरे देश के व्यापारियो से लड़ते समय राष्ट्रीयता के भाव से भर जाते हैं। यही कारण है जिससे इंग्लैंड वा फ्रांस के लोग अपने देश के व्यापारियों के साथ दूसरे देश के व्यापारियों से लड़ाई के समय अपने निज की हानि की परवा नहीं करते। युद्ध में यदि सफलता होती है तो लाभ कंपनी के हिस्सेदारों का होता है परन्तु जनता राष्ट्रीयता के भाव के कारण लड़ाई के खर्चे को आनन्द से बर्दाश्त करती है। साधारण जनता के भाव

साम्राज्यवादियों के सहायक होते हैं, इसीलिए वे विजयी हो पाते हैं। आम जनता उनके बहकावे मे आकर जोश मे भर जाती है और बड़े-बड़े व्यापारियों को अपने दस्तखत का सादा चेक दे देती है। व्यापारी उसका पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। झगड़ा किसी राष्ट्र के एक व्यक्ति का दूसरे राष्ट्र के किसी एक व्यक्ति के साथ रहता है परन्तु युद्ध राष्ट्र का बना दिया जाता है। जनता के भीतर यह भाव दृढ़ रूप से बैठा देने की कोशिश की जाती है कि साम्राज्य-वादी लड़ाइयां देश की आवश्यकताओं के कारण लड़ी जाती है। जनता का उसमें स्वार्थ नहीं रहता फिर भी वह सहायता करती है। जिस दिन युरोप से राष्ट्रीयता का भाव चला जायगा और देश के लोग अपने और व्यापारियों के लाभ को भिन्न समझने लगेंगे, अपना व्यापारियों से एक अलग वर्ग बनालेंगे उसी दिन साम्राज्यवाद का नाश हो जायगा। जनता अपना लाभ देखने लगेगी तो अवश्य ही साम्राज्यवादी नीति का विरोध करेगी।

साम्राज्यवादी सबसे अधिक जोर राष्ट्र की भलाई दिखलाते समय इसी बात पर देते हैं कि यदि अपने देश की जनसंख्या बढ़ जायगी तो उपनिवेशों में उनके लिए स्थान मिल सकेगा। क्या जर्मनी, क्या इटली, क्या जापान सभी देशों के साम्राज्यवादी एक ही दलील देते है। यह बात सत्य है कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद बढ़ती हुई जनसंख्या के रखने की समस्या आ उपस्थित हुई। जर्मनी की जनसंख्या १८७१ में ४१०५८७९२ थी; १९१० मे उसी में दो करोड़ चालीस लाख की वृद्धि हो गई। यूरोप शहरों में मजदूरों की अवस्था खराब होने लगी और माल्थस का

जनसंख्या की वृद्धि का सवाल

सिद्धान्त स्पष्ट रूप में सत्य दीखने लगा। जनसंख्या बढ़ गई थी, यह इसी से सिद्ध होता है कि लगभग नव्वे लाख आदमी ब्रिटेन से बाहरी देशों में चले गये। उन्नीसवी शताब्दी मे ही साठ लाख से भी अधिक जर्मन दूसरे देशों मे चले गये। ऐसे लोग मातृ-भूमि से हटकर दूसरे राष्ट्र में न जावसें इसलिए उपनिवेशो की आवश्यकता बतलाई जाने लगी। कितने लोग तो यहाँ तक बढ़-कर कहने लगे कि उस शक्तिशाली राष्ट्र को जिसकी जनसंख्या बढ़ती जाती है जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए उपनिवेशों पर अधिकार जमावे।

कहने के लिए यह दलील ठीक जॅचती है परन्तु व्यवहार मे वैसा नही होता। १९१३ मे जर्मनी ने दसलाख वर्गमील औपनिवेशिक भूमि पर अधिकार जमा लिया था फिर भी २५८४३ जर्मनों में, जो दूसरे देश मे बसना चाहते थे, १९१२४ अमेरिका में, ५५४७ कैनेडा में, ३५९ आस्ट्रेलिया में और १४० ब्रेजिल में जा बसे। उस समय सभी जर्मन उपनिवेशो मे जितने जर्मन बसते थे उससे अधिक कैनेडा में बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेशो के रहते हुए भी वहां के ८२००० आदमी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जा बसे।

यदि हम लोग इस बात का अच्छी तरह विचार करें कि राजनैतिक सीमाओ और औपनिवेशिक प्रसार पर आर्थिक समस्याओं का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है तो पता चलेगा कि उपनिवेश प्राप्त करने के लिए युद्ध नहीं किये जाते बल्कि उपनिवेश-प्राप्ति के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रो को युद्ध करना पड़ता है। आगे चलकर यह स्पष्ट

सत्य क्या है ?

हो जाता है कि सब राष्ट्र अपने यहाँ के पूँजीपतियों के पीछे रहते है। पूँजीपतियों की आपस मे लाभ के लिए प्रतिद्वंद्विता चलती है और इसी उद्योग में वे आपस में लड़जाते हैं। उनकी लड़ाई राष्ट्र की लड़ाई बन जाती है।

उपनिवेशों पर अधिकार करने का असली उद्देश पूंजीपतियो के लाभ के सिवा और कुछ भी नहीं है। १८९५ मे अर्थ के राजा बोअर युद्ध की जड़ में रहने वाले सेसिल रोड्स ने अपनी साम्राज्यवादी नीति व्यक्त करते हुए अपने एक मित्र से कहा था— 'हम औपनिवेशिक राजनीतिज्ञों को चाहिए कि नई भूमि पर अधिकार करें, जहाँ हमारे देश के लोग जा बसें और जहाँ पर हम लोग अपने कारखाने और खानो से उत्पन्न माल को बेंच सकें। साम्राज्य बढ़ाने से धन बढ़ेगा इसलिए हम लोगो को साम्राज्यवादी होना चाहिए।' कुछ देर के लिए हम लोग मान भी लें कि व्यवसायियों के आर्थिक लाभ के साथ-साथ और दूसरे भाव भी साम्राज्य की प्रगति मे सहायक हो रहे हैं तो भी इतना स्पष्ट है कि यदि दूसरे भाव लुप्त होते और आर्थिक भाव रहते तो भी वही परिणाम होता जो अभी हुआ है। इसी-लिए इस साम्राज्यवाद का नाम 'आर्थिक साम्राज्यवाद' देना बिल्कुल ही यथार्थ है।

सकुचित राष्ट्रीयता

युरोपीय इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में युरोप मे दो मुख्य भाव—राष्ट्रीयता और प्रजातंत्रवाद कार्य कर रहे थे। उन्हीं राष्ट्रो के लोग जो राष्ट्र की स्वतंत्रता को अपने जीवन से कहीं अधिक महत्व देते थे, आर्थिक साम्राज्यवाद के अपनाने

पर अफ्रिका और एशिया के राष्ट्रों की स्वतंत्रता नष्ट करने वाले हुए। १८९९—१९०२ में बोअर प्रजातंत्र राज्यों को जीत कर ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी राष्ट्रीयता के भाव की व्याख्या कर दी। आस्ट्रिया-हंगरी के पंजे से छूटकर इटली ने एबिसीनिया के स्वतंत्र राष्ट्र को कब्जे में लाने का प्रयत्न किया। जो लोग अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को जी-जान से प्यार करते थे वे ही लोग दूसरे की स्वतंत्रता की बिल्कुल परवा नहीं करते थे। अपने विजित उपनिवेशों के साथ बर्ताव करने मे प्रजातंत्रवाद के बड़े से बड़े उपासक राष्ट्र ने भी प्रजातंत्र के भावो को ताक़ पर रख दिया। उपनिवेशों में शासन करने के लिए उन लोगों ने मैजिस्ट्रेटों तथा गवर्नर जेनरलों को अपने यहाँ से चुनकर भेजना शुरू किया। वे लोग जहाँ शासन करते थे उस देश के प्रति उत्तरदायी न होकर अपने देश के सामने ज़िम्मेवार होते थे। जहाँ व्यवस्थापिका सभाओ के बनाने का अधिकार दिया वहाँ उन उपनिवेशों में उन सभाओ के हाथ में देश के शासन का अधिकार नहीं दिया। उन सभाओं के कुछ आदमी जनता द्वारा चुने हुए और कुछ सरकार-द्वारा ही नियुक्त किये गये रहते थे। जर्मन उपनिवेशों में प्रजातंत्र शासन की छाया भी नहीं दिखलाई पड़ती थी। असभ्य देशों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहे भले ही योग्य हो परन्तु भारत, मिश्र आदि देश भी जहाँ की सभ्यता बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी वैसे ही व्यवहार के पात्र समझे गये।

महासमर के बाद आर्थिक साम्राज्यवाद का रूप ऐसा बदल गया है कि उसे पहचानना कठिन हो गया है। इस

साम्राज्यवाद को 'शांतिमय आर्थिक साम्राज्यवाद' कहते है।

'शातिमय आर्थिक साम्राज्यवाद'

यह पुराने आर्थिक साम्राज्यवाद का ही विकसित रूप है। किसी देश को ऊपरी दृष्टि से देखकर कोई भी नहीं पहचान सकता कि वह इस साम्राज्यवाद के अधीन है वा नहीं। इस साम्राज्यवाद के पोषक लड़ाई-झगड़ा नही करना चाहते। उनसे जहांतक होता है लड़ाई रोकते है और देश मे भी कलह नहीं रहने देना चाहते। यह साम्राज्यवाद इस प्रकार का है कि विजित राष्ट्र का, बिना उसे जताये, उसमें अनुभव करने की शक्ति रहते हुए भी बिना अनुभव कराये, पूरा का पूरा खून चूस लेता है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रो में सबसे बड़ा अमेरिका है। एक दृष्टि से देखने से मालूम पड़ता है कि वह साम्राज्यवादी नही है क्योंकि वहाँ की सरकार इस प्रकार की नीति से अपनी एकता नही कर देती फिर भी इसमे साम्राज्यवाद के सभी दोष-गुण विद्यमान है और सहज आर्थिक साम्राज्यवाद से कही अधिक जटिल, विकराल और आतंकदायी है। महासमर के बाद इस प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास बहुत अधिक हो गया है।

अमेरिका का हौसला

एशिया मे पूँजी भेजने के विषय में अमेरिका दिन पर दिन अधिक उन्नति करता जा रहा है। यही शांतिमय साम्राज्यवाद का मूल आधार है। ब्रिटेन का शिल्प पिछड़ गया है इसलिए वह काफ़ी परिमाण में एशिया में पूँजी लगाने में असमर्थ है। सहज आर्थिक साम्राज्यवादी राष्ट्रो में सबसे बड़ा राष्ट्र इंग्लैड अब पीछे पड़ता जा रहा है। अमेरिका प्रयत्न कर रहा है कि लन्दन संसार के बैंकिंग का केन्द्र न

रह जाय; अंग्रेजों के व्यापार से उसका व्यापार अनेक गुना बढ़ जाय और उसकी नाविक शक्ति भी बृटेन से बढ़ जाय।

वर्तमान परिस्थिति ऐसी होगई है कि एशियायी व्यापार का केन्द्र चीन और इण्डोनेशिया हो रहा है। चीन केन्द्र हो रहा है क्योंकि एशिया भर में वही सबसे बड़ा राष्ट्र है जहाँ किसी एक शक्ति का राज्य नहीं है। इण्डोनेशिया में अगाध सम्पत्ति है और वहाँ पर हालैंड की सैन्यशक्ति प्रशांत महासागर के तीन मुख्य साम्राज्यवादी राष्ट्र अमेरिका, इंग्लैंड और जापान किसी एक की शक्ति से कहीं कम है। यदि हम इंडोनेशिया की वर्तमान स्थिति पर विस्तार से विचार करें तो पता चल जायगा कि अमेरिका किस प्रकार अपनी नीति मे प्रगति कर रहा है। अमेरिका की नीति में प्रगति होने का अर्थ है 'शांतिमय साम्राज्यवादी नीति' का विकास।

चीन और इंडोनेशिया

इंडोनेशिया भारतवर्ष से भी अधिक धनी देश है इसीलिए वहाँपर आर्थिक साम्राज्यवाद के विकसित होने के लिए काफ़ी क्षेत्र है। उसपर जापान और इंग्लैंड की भी आँखें है। जापान सदा इसी चिन्ता में है कि जब मौक़ा मिले इण्डोनेशिया पर अपना अधिकार जमाले। इण्डोनेशिया के धन का इसीसे अंदाजा लगाया जासकता है कि १९२४ ई० में डच ईस्ट इण्डीज का पूरा निर्यात चीन के दो-तिहाई और भारतवर्ष के एक-तिहाई निर्यात के बराबर था। अभी वहाँ की बहुत-सी भूमि योंही पड़ी है। वर्तमान व्यवसायी युग में खानों की बड़ी महत्ता है। यहाँ पर बहुतसी खानें योंही पड़ी है। पूर्वी एशिया मे तेल की खानें केवल यहाँ पर ही है। यहाँपर लोहे की उत्पत्ति जापान की दस-

गुनी और चीन की चार गुनी होती है। संसार में जितना टिन निकलता है उसका एक चौथाई केवल इसी देश से निकलता है। अभी उस द्वीप में केवल बोर्नियो का भाग उन्नति कर रहा है। जब सारे द्वीप में उन्नति होने लगेगी तो उसके धन का अन्दाजा आज के अनुमान से कहीं अधिक होगा। पांच वर्ष पहले ही अमेरिका ने इस द्वीप मे पूँजी लगाना आरम्भ किया है। इतने ही समय मे जितनी विदेशी पूँजी वहाँपर लगी है उसकी पन्द्रह प्रतिशत अमेरिका की होगई है। अमेरिका इसकी ओर बढ़ना चाहता है और इसके लिए उसे फिलिपाइन के ऊपर अच्छी तरह से अधिकार जमाने का बहाना भी मिल गया है। अमेरिका के इण्डोनेशिया और चीन में बढ़ने का अर्थ प्राच्य देशो में अँग्रेजी साम्राज्यवाद के बन्धनों का ढीला पड़ते जाना है। चीन और इंडोनेशिया में डालरों के पहुँच जाने पर भारतवर्ष तक उनके शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की जड़ जहाँ भारतवर्ष में हिली, उसका ठिकाना और कहीं भी नहीं लगेगा।

अमेरिका की महत्वाकान्ता

ढाई हजार वर्ष पहले सन्तजू नामक एक चीनी दार्शनिक ने कहा था कि सबसे बड़ा सेनानायक वही है जो विना लड़ाई किये ही विजय प्राप्त कर लेता है। अमेरिका आज उसी नीति का अनुसरण कर रहा है। वह लड़ाई करना नहीं चाहता। इस समय एशिया में जब साम्राज्यवादियों के मोर्चे ढीले हो चले हैं, वह यही चाहता है कि अभी जैसी अवस्था है वैसी ही कुछ और दिनों तक रह जाय। ऐसी अवस्था रह गई, शांति रह गई तो

अमेरिका अपने उद्देश्यों में सफल हो जायगा। इंग्लैंड और जापान दोनो के ही एशियायी अधिकार अमेरिका के व्यवसायियों के अधीन हो जायँगे। एक अमेरिकन लेखक ने ठीक ही लिखा था कि पुराने समय का साम्राज्यवाद विजित राष्ट्र के लोगों को गुलाम बनाकर ही सन्तुष्ट होता था; उसके बाद का साम्राज्य-वाद मनुष्यों को छोड़कर केवल जमीन पर क़ब्ज़ा करता था लेकिन आज का साम्राज्यवाद आदमी और जमीन दोनों को छोड़कर केवल धन के जरियों पर अधिकार करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। साम्राज्यवाद का यही अन्तिम रूप विकसित शांतिमय साम्राज्यवाद है जिसे अमेरिका भलीभाँति कार्यरूप मे परिणत कर रहा है। यही साम्राज्यवाद का चक्र है जिसने सारे एशिया को परतंत्र बना रखा है और अपनी आतंकदायिनी नीति में भयानक से भयानक राक्षसी प्रवृत्तियो को मात कर रहा है।

औद्यौगिक क्रान्ति का परिणाम

युरोप में जिस समय औद्योगिक क्रान्ति हुई उस समय लोगों का यह ध्येय नहीं था कि एशिया अथवा संसार के दूसरे राष्ट्रों को दबाया जाय, उस समय वे यह नही समझ पाते थे कि उद्योग-धंधों के विकसित होने से मनुष्य की किसी प्रकार से ख़राबी हो सकती है। हम लोग पशुओं से बहुत अधिक काम लेते है, मनुष्यों को भी बहुत परिश्रम करना पड़ता है। उस समय उनकी अवस्था देखकर स्वाभाविक रूप से द्रवीभूत होकर प्रत्येक मनुष्य के भीतर विचार आते हैं कि यदि वे किसी प्रकार से बचाये जा सकते तो बहुत ही अच्छा होता। औद्यो-

गिक क्रान्ति ने उनके परिश्रम को कम कर दिया। लोगों को बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है परन्तु उससे मनुष्य-समाज सुखी न होकर दुखी ही हुआ। उसका दुःख उद्योग-धंधो के बढ़ने के साथ ही साथ बढ़ता गया। औद्योगिक क्रान्ति का आगे चलकर स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जबतक दूसरे लोगो को न दबाया जाय अपना हित नहीं हो सकता। मनुष्यों की भलाई क्या होती, दिनों-दिन वे कंगाल ही होते गये। कुछ थोड़े से लोगो को अवश्य ही इससे लाभ हुआ। वे थोड़े आदमी अपने लाभ के लिए इतने अधिक व्यग्र रहने लगे कि वे दूसरे मनुष्यों की अवस्था पशुओं से भी गई-गुजरी बना देने में कोई अन्याय नही समझने लगे। उन लोगों का लोभ और आतंक इतना अधिक बढ़ा कि उसका रोका जाना आवश्यक हो गया।

कार्ल मार्क्स का प्रहार

कॉर्ल मार्क्स ने औद्योगिक क्रान्ति की बुराइयों को भी भलीभांति समझा और उससे मनुष्यमात्र की रक्षा करने का एक नया रास्ता निकालने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि उत्पत्ति केन्द्रीभूत ही रहे तो भी कुछ हानि नही है परन्तु जितनी उत्पत्ति हो वह राज्य की सम्पत्ति समझी जाय। मजदूर और किसान बहुत अधिक काम करते हैं इसलिए उनका ही कारखानो और खेतों पर अधिकार रहना चाहिए। इनके विचार विचार की दृष्टि से चाहे भले ही ठीक जँचते हों परन्तु व्यावहारिक रूप मे उनका काम मे लाया जाना बहुत कठिन है। रूस में इनके विचारो के अनुसार कार्य हुआ परन्तु वहां की ही अवस्था पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि वहां

के लोग भी और स्थानों की अपेक्षा अधिक दिनों तक अधिक सुखी नहीं रह सकेंगे। कुछ ही दिनों बाद उनकी अवस्था भी और देशो जैसी ही हो जायगी। इस असफलता का खास कारण उनके सिद्धान्तों की ही त्रुटि है। राज्य सदा अल्पमत के ही हाथ में रहता है। वे लोग अपनी भलाई पर अवश्य ही विशेष दृष्टि रखकर राज्य-संचालन करेंगे। रूस में भी अभी जो

रूस का प्रयोग

सरकार स्थापित है वह भी थोड़े ही लोगों की है। सारी जनता का हाथ वहां पर भी नहीं रह सका। दूसरों को बतलाने के लिए चाहे भले ही कहा जाय कि वहां जनता का राज्य है किन्तु वास्तव मे राज्य पर अधिकार थोड़े से ही लोगों का है। वहॉ पर क्रान्ति हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है, इसलिए उसके भविष्य की स्थिति का अन्दाजा अभी की स्थिति से लगाना भूल करना होगा। अभी जिन लोगों के हाथ में राज्य-शक्ति है वे लोग मजदूर अथवा किसान वर्ग के नहीं है। स्टालिन, जिनोफ़ आदि सभी प्रमुख व्यक्ति मजदूर तथा किसान वर्ग से कहीं ऊँचे दर्जे के समाज के व्यक्ति हैं।

इतना होते हुए भी और देशों की अपेक्षा वहॉ पर समानता अधिक है। कल-कारखानो की बुराइयो से देश को बचाने का प्रयत्न चल रहा है। साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा शत्रु यही राष्ट्र हो रहा है। कॉर्लमार्क्स का सिद्धान्त साम्राज्यवाद की प्रगति रोकने में एक बहुत बड़ा अस्त्र हो गया। उसका आज साम्राज्यवाद के साथ जो संघर्ष चल रहा है वह बहुत ही भीषण है। अमेरिकन लोगों को अंग्रेज और जापानी दोनो की ही

परवा नहीं है। उसका यदि सबसे बड़ा कोई शत्रु है तो वह है एशिया में साम्यवादी भावों का प्रचार; इसके वायुमंडल में फैले हुए क्रान्तिकारी भाव और खास कर चीन की जागृति। इन भावो के प्रचार से एशियाई राष्ट्र बहुत वेग से आगे बढ़ते जा रहे हैं। वे अपनी निर्धनता का प्रत्यक्ष नमूना दिखा रहे है। इसलिए केवल विदेशी राजनैतिक सत्ता ही उठा देने की नहीं परन्तु समाज का ही संगठन बदल देने की कोशिश कर रहे है। जिस समय वे सफल हो जायँगे उस समय न तो अमेरिकन नीति रह जायगी और न शान्तिमय साम्राज्यवाद का ही कहीं अस्तित्व शेष रह जायगा। सभी प्रकार के साम्राज्यवादी भावों का इस आँधी में उड़ जाना भले ही सम्भव न हो परन्तु आर्थिक साम्राज्यवाद का ध्वंस हो जाना तो निश्चित ही है।

[२]

चक्र चला

इस अध्याय में हमें विचार करना है कि आर्थिक साम्राज्यवाद का एशिया के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा? यहाँ की सभ्यता तथा धन की प्रचुरता देखकर युरोपीय लोगो का बहुत पहले ही इधर ध्यान आकृष्ट हुआ था परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पहले एशिया को श्वेतांगों के प्रभुत्व का परिचय भली-भांति नहीं हो पाया था। १८७० ई० के बाद साम्राज्यवाद के चक्र चलने से सारे एशिया को युरोप की राजनीतिक अथवा आर्थिक किसी न किसी प्रकार की पराधीनता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ी। एशिया के कितने राष्ट्र झूठे वहानों और जबर्दस्ती से युरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्य में मिलाये गये। टौन्किंग, अन्नाम और बर्मा इसके उदाहरण हैं। एशिया का अधिकांश भाग सभ्य था। वहाँपर अफ्रिका की तरह वटवारे का अथवा जबर्दस्ती विजय का तरीक़ा नहीं चल सकता था। भारतवर्ष, रूसी एशिया, फ्रेंच इण्डोचीन, मलायास्टेट, स्ट्रेट सेटलमेंट्स, हॉगकांग और जावा युरोपीय राष्ट्रों के प्रत्यक्ष अधिकार मे थे। एशिया के बाक़ी भाग जिनमें तुर्की, फारस, चीन और जापान मुख्य हैं प्रत्यक्ष रूप से उनके अधिकार में नहीं थे। फिर भी इन देशों में जापान को छोड़कर बाक़ी देशो पर आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र भलीभांति चल रहा था। फारस, चीन और तुर्की का बटवारा नहीं हुआ था; वे युरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्य में मिला

नहीं लिये गये थे फिर भी उनसे युरोपीय व्यापारी एशिया के दूसरे राष्ट्रो की ही तरह लाभ उठाते थे। इन राष्ट्रों के अंग-भंग कर बाँट लेने की बात महासमर के पहले बहुत जोरों से चल रही थी परन्तु इनका बटवारा कर लेना सहज नहीं था इसीलिए युरोपीय राष्ट्रों ने इधर अपनी शक्ति नहीं लगाई। १८८०-९० की अवधि में उनका ध्यान अफ्रिका के बटवारे की ओर था क्योंकि उसका बटवारा कर लेना सहज था। एशिया के ये राष्ट्र बहुत सभ्य थे इनके यहां की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था युरोप से भिन्न चाहे भले ही रही हो पर किसी भी हालत में कम उपयोगी नहीं थी। जापान के युरोपीय ढंग की आर्थिक, राजनैतिक तथा युद्ध-विषयक नीति अपना लेने से युरोपीय राष्ट्रो ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि चीन का बटवारा कर लेना टेढ़ी खीर है। चीन के बटवारा कर लेने के पहले उन्हे लड़ाई छेड़नी पड़ती। इन एशियायी राष्ट्रों के अधीनता न स्वीकार करने पर भी परिणाम में कुछ भेद नहीं हुआ। सुविधा के लिए यहाँ पर एक-एक देश का अलग-अलग विचार करना अच्छा होगा।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक चीन को संसार का ज्ञान नहीं था। वह अपनी प्राचीन सभ्यता के ही अभिमान में बैठा था। वहाँ के लोग वीरों का आदर नहीं करते थे। पढ़े-लिखे लोगों को बहुत ऊँची दृष्टि से देखते थे और वे ही लोग राज्य-कार्य सम्हाला करते थे। इसी समय युरोप और अमेरिका को अपने यहां के मिशनरी और खासकर व्यापारियों के लिए नये-नये देशों की आवश्यकता पड़ी। १८४०-८० तक चीन-जापान और कोरिया के शांति-भंग

बेहोश चीन

करने का यही कारण हुआ। इस समय तक साम्राज्यवाद का सच्चा रूप प्रकट नहीं हुआ था। इन देशों के दरवाजे विदेशी व्यापारियों के लिए खुल गये। उसी का परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि बाजार, खान, रेलें बनाने के अधिकार आदि पर एकाधिकार करने की प्रवृत्ति जागृत हुई। इसी प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए प्रभुत्व-क्षेत्र (Spheres of Influence), नौकाश्रय (Naval bases) और कहीं-कहीं जमीन पर अधिकार करने की नीति काम में लाई गई। यही साम्राज्यवाद का सच्चा रूप था। चीन तथा दूसरे एशियायी राष्ट्रों के इतिहास में इसी बात की १८८० के बाद प्रधानता रही। प्रारम्भ के व्यापारिक ध्येय और आगे की साम्राज्यवादी नीति दोनों के लिए ही झगड़ा कर विजित राष्ट्रों को दबा रखने की आवश्यकता थी परन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न हुए। पहले में लड़ाई हुई परन्तु पूर्ण विजय नहीं हुई। दूसरे मे विजय हुई और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े खड़े हो गये।

प्रभुत्व-क्षेत्र और नौकाश्रय

युरोपियन शक्तियों मे ब्रिटेन के साथ चीन की सबसे पहली लड़ाई १८४० ई० में हुई। इस लड़ाई का मुख्य कारण यही था कि चीन अपने देश में अफ़ीम की खपत होने देने में बाधा डालना चाहता था। इस युद्ध के पश्चात् १८४२ में नानकिन की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को हांग-कांग मिल गया और पांच बन्दरगाह उनके व्यापार के लिए खोल दिये गये। कुछ ही दिनों बाद वे बन्दरगाह अमेरिकन, फ्रेंच,

चीन से अंग्रेजों की पहली लड़ाई

बेल्जियन, प्रशियन, डच, पोर्तुगीज और स्कैंडिनेवियन व्यापारियों के लिए भी खोल दिये गये। इन राष्ट्रों को व्यापार करने में इतनी सुविधा हो गई कि चाय का निर्यात दुगुना हो गया और रेशम का निर्यात तीन हजार गांठ से बढ़कर छप्पन हजार गांठ हो गया।

'शीनशीन' की सन्धि

व्यापार मे सुविधा हो जाने पर भी और अधिक लाभ की दृष्टि से युरोपीय राष्ट्र चीन के साथ फिर से लड़ाई करने का मौक़ा ढूंढ़ रहे थे। १८५६-६० में उन्हें वह मौक़ा मिला। फ्रांस ने एक मिशनरी के मारे जाने का बहाना कर और ब्रिटेन ने अपने झंडे के जहाज़ पर चीनियो का एक हत्यारे के पकड़ने के लिए आने का बहाना निकालकर लड़ाई छेड़ दी। लड़ाई में चीन की हार निश्चित ही थी। उसने मजबूर होकर शीनशीन (Tienstein) की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार और भी छः दूसरे बन्दरगाह व्यापार के लिए खोल दिये गये; यांगसी नदी के किनारे व्यापार करने का और देश में भ्रमण करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया गया और पेकिंग मे एक अंग्रेज प्रतिनिधि का रखा जाना निश्चित हुआ। ईसाइयो की रक्षा किये जाने का आश्वासन और उन्हे प्रचार करने का अधिकार भी दिला दिया गया। इसी समय फ्रांस, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस ने भी चीन से सन्धि कर अपने लिए ब्रिटेन जैसे ही अधिकार प्राप्त कर लिये। अंग्रेज और फ्रांसीसियों के साथ युद्ध के समय रूस ने अपने को चीन का सहायक बतलाने की कोशिश की और उसके बदले में लड़ाई के बाद उसने आमूर

नदी के दक्षिण , ऊसरी नदी के पूर्व और कोरिया के उत्तर के सभी प्रदेश ले लिये ।

१८४० से १८६० तक जो घटनाएँ घटीं उनके कारण चीन अंग्रेजी तथा अन्य युरोपीय व्यापारियों और मिशनरियो के लिए खुल गया । उपर्युक्त दोनों लड़ाइयो का एक बड़ा भारी परिणाम यह हुआ कि चीन का विदेशियों के व्यापार पर कर लगाने का अधिकार छिन गया । सन्धि के द्वारा कर का परिमाण निश्चित कर दिया गया । चीन आयात-निर्यात के किसी भी पदार्थ पर पाँच प्रतिशत से अधिक कर नहीं लगा सकता था । यह शर्त विदेशी व्यापारियों के लिए बड़े फ़ायदे की रही । सन्धि अनिश्चित काल तक के लिए थी । इतना ही नहीं टाइपिंग क्रान्ति के समय चीनी कर वसूल करने वाले अफसरों की अयोग्यता बतलाकर शांघाई में विदेशी लोगों से कर वसूल करने के लिए विदेशी लोगों का ही एक बोर्ड बना दिया गया । कुछ ही दिनो बाद ऐसा ही बोर्ड सभी विदेशी व्यापार के लिए खुले बन्दरगाहो के वास्ते बना दिया गया । १९११ की क्रान्ति के समय विदेशी लोगों के ऋण की रक्षा का बहाना करके कर की सारी आमदनी तट-कर के इन्सपेक्टर जेनरल (जो एक अंग्रेज था) के पास भेजे जाने का बन्दोवस्त कर दिया गया । इस समय से चीन के हाथ से कर लगाने का और उससे देश के लिए व्यवस्था करने का अधिकार चीनियों के हाथ से निकल गया । युरोपीय लोगों का उनपर अधिकार हो गया । विदेशी लोगो ने अपने लिए चीन से यह भी मनवा लिया कि उनकी प्रजाओं का न्याय चीनी न्यायालयों में चीन के क़ानून के

चीन की बेबसी

अनुसार न होकर विदेशी न्यायालयों में विदेशी कानूनों के ही अनुसार हुआ करेगा।

इस समय से विदेशी व्यापारियों को चीन के साथ व्यापार करने में कोई असुविधा नहीं रह गई। सभ्यवेशधारी डाकुओं के लिए चीन का फाटक खुल जाने से वह लूट-खसोट मचाने का का क्षेत्र बन गया।

जापान भी चीन की ही तरह अपना दरवाज़ा बंद कर सुख की नींद ले रहा था। उसकी शांति १८५३ में कोमोडोर पेरी नामक अमेरिकन ने भंग की। अमेरिकन लोगों ने १८५४ मे जापान से यह सन्धि करा ली कि जापान अपने दो बन्दरगाहो में उनके जहाजों को ठहराने देगा और यदि उनका कोई जहाज़ आस-पास के समुद्र में टकरा जाय तो उसके नाविकों के हाथ अच्छा बर्ताव करेगा। इस सन्धि के कुछ ही दिनो बाद अमेरिका ने टाउनसेंड हैरिस नामक एक कौंसल जेनरल (प्रधान राजदूत) जापान भेजा। उसने जापान-सरकार से अमेरिकन लोगो के लिए और भी बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त की जिनमें एक नागासाकी और याकोहामा नामक बंदर-गाहों का अमेरिकन व्यापारियों के लिए खोल दिया जाना था। इसके बाद यहां भी चीन की ही तरह दूसरे और बन्दरगाह खोले गये, सन्धियों-द्वारा कर निश्चित कर दिया गया और विदेशी लोगों को अपने क़ानून के अनुसार अपना न्याय कराने का अधिकार दे दिया गया। इस समय तक जापान मे रईसी राज्य (Feudal Monarchy) था। वहां का राजा, जिसे 'मिकाडो' कहते थे, नाम-मात्र का राजा रह गया था; उसका मंत्री, जिसे

जापान का जागरण

शोगन कहा जाता था, राज्य के सभी कार्य देखता था। देश छोटे-छोटे प्रान्तों में विभक्त था और वहाँ पर सरदार, जिन्हें 'सामुराई' कहते थे, राज्य किया करते थे। पेरी का आना और अपना एकांत-वास विसर्जन करना जापान के लिए बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। देश के बड़े-बड़े सामुराई शोगन के प्रति ईर्षा का भाव रखते थे। शोगन ने पेरी के साथ सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किया और विदेशियो को देश में स्थान दिया इसलिए वे और बिगड़ गये। पहले उन लोगों मे से कुछ ने स्थान-स्थान पर विदेशी लोगों से झगड़ा ठाना परन्तु कुछ ही दिनो बाद उन्हें मालूम हो गया कि वे विदेशियों की शक्ति के सामने नहीं ठहर सकते। इस समय से उन्होंने शोगन का और भी अधिक विरोध करना शुरू किया। अन्त में इसका परिणाम यह हुआ कि १८६७ से शोगन को राज्यकार्य से हटना पड़ा और सिकाडो पूरी शक्ति के साथ गद्दी पर बिठाये गये।

इस समय से जापान में एक नये युग का आविर्भाव हुआ। जिन सामुराई लोगों ने विदेशियों का वहिष्कार करना चाहा था वे ही सब से पहले युरोपीय सभ्यता मे ढल गये। इस समय से युरोपीय लोगों का आवाहन किया जाने लगा, राज-दरबार में उनकी इज्जत होने लगी और बहुत-सी बातो में उनका अनुकरण किया जाने लगा। अंग्रेजों के निरीक्षण में रेल, तार आदि बनने लगे; फ्रांसीसी क़ानून के विशेषज्ञो के निरीक्षण मे क़ानूनी सुधार किये जाने लगे जिससे विदेशी लोगों के मुक़दमे भी जापानी न्यायालयो में ही किये जा सकें। अमेरिकन लोगों से कृषि और डाक-

नवीन युग का उदय

विभाग में सहायता ली जाने लगी। व्यापारिक नियम, स्थानीय सरकार के कार्यों में सुधार तथा रोगोपचार की विद्या सिखलाने के लिए जर्मन रखे गये। १८८९ में युवराज ईटो ने विदेश-भ्रमण कर राज्यकार्य के लिए देश के प्रतिनिधियों को परिमित अधिकार देकर एक सभा बनाई। सामुराई लोगो ने स्वयं स्वार्थ-त्याग किया और 'सामुराई' प्रथा उठा दी गई जिससे राज्यकार्य अच्छी तरह चल सके। आरम्भ में फ्रेंच, और आगे चल कर जर्मन, अफसरों के निरीक्षण में सेना का युरोपीय ढंग पर संगठन होने लगा। अस्त्र-शस्त्र सभी विदेशी ढंग के बनने लगे। सामुराई लोगों ने किसी-किसी स्थान पर क्रान्ति करने की तैयारी की तो नवीन सैन्य ने उन्हें दबाकर अपनी शक्ति का परिचय दिया। इस समय से जापान के पास जलसेना भी हो गई; उसने इंग्लैंड से लड़ाकू जहाज ख़रीद लिये। इतना ही नहीं जापान ने युरोपीय राष्ट्रों से यह भी सीख लिया कि जब तक वह अपने देश को शिल्प-प्रधान देश नहीं बना लेता उसका विदेशी आक्रमण से बचना कठिन है। उसने अपने देश के व्यवसाय के लिए भरपूर प्रयत्न किया; व्यावहारिक विज्ञान सिखलाये जानेवाले स्कूल-कालेजों की स्थापना की। रेशम निकालने, सिमेंट बनाने, रूई और रेशम बुनने, ईंट का पजावा लगाने, छापेखाने, जिल्द बांधने, साबुन बनाने, टाइप ढालने आदि के कारख़ानो मे सरकारी अफसर निरीक्षण करने के लिए जाते थे। घरेलू प्रदर्शनियां की जाती थीं जिनमें चीजों के बनाने मे लोग आपस में स्पर्धा करें। देश की अच्छी-अच्छी कारीगरी की चीजें विदेशी प्रदर्शनियों मे भेजी जाती थीं।

वहां की सरकार ने एक ऐसा विभाग ही खोल दिया था जिसका काम विदेश में जापानी चीज़ों की मांग पैदा करना था। स्त्रियो को भी कला-कौशल सिखलाया जाता था और खासकर सरकारी छापेखानो में वे रक्खी जाती थीं। इन सभी बातों का यह परिणाम हुआ कि जिस जापानमें १८६७ई० में कोई भी शिल्पीय कारखाना नहीं था, वहीं सिर्फ तीस वर्षों के बाद ४५९५ कारखाने ऐसे हो गये जिनमें लगी हुई पूंजी बीस करोड़ डालर थी। वर्तमान समय में वह और भी अधिक बढ़ गई है। जापान का विदेशी व्यापार, जो १८७७ में केवल २५०००००० डालर था, सन् १८९० में ७००००००००, सन् १९००ई० में २५००००००००, सन् १९१०ई० में ४५००००००००, और सन् १९१३ई० में ६८००००००००० हो गई। व्यापार केवल छत्तीस वर्षों में ही सत्ताईस गुना बढ़ गया।

युरोपीय उद्योग की नकल

इसका जापान में भी वही असर हुआ जो युरोपीय देशो में औद्योगिक क्रान्ति का हुआ था। यहां पर भी बड़े-बड़े व्यवसायी हो गये जिन्होने देश के कल-कारखानो पर एकाधिकार करना आरम्भ किया। युरोपीय देशों के बड़े-बड़े व्यवसायियों के जैसे इस देश के व्यवसायी भी साम्राज्यवाद के प्रशंसक हो गये। दूसरी बातो की ही तरह जापान ने उपनिवेशो पर अधिकार जमाने और साम्राज्यवादी नीति अपनाने मे विदेशियो की नक़ल की।

कौमोडोर पेरी ने जापानियो को जो पाठ पढ़ाया था उसका सब से पहला प्रयोग उन्होंने कोरिया पर १८७६ में किया।

कोरिया अभी तक अपना दरवाजा बन्द किये हुए था। उसने विदेशी मिशनरियो को अपने देश से मार भगाने की चेष्टा की थी परन्तु जब उसने जापानी लोगों पर आक्रमण किया तब जापान ने जापानी व्यापारियों के लिए कोरिया का एक बन्दरगाह खुलवा दिया। कुछ ही दिनों बाद इसी प्रकार की सन्धि कोरिया के साथ और देशो की भी हो गई और कोरिया की अवस्था चीन जैसी ही हो गई।

साम्राज्यवाद के प्रवाह में

चीन-साम्राज्य बहुत बड़ा था परन्तु वहां की राज्यशक्ति बहुत ही दुर्बल हो गई थी। साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर रूस, जापान, फ्रांस और ग्रेटब्रिटेन चारो तरफ से उसके अंग-भंग करने की चेष्टा करने लगे। पहले कोचीन-चीन पर और १८८० के लगभग चीन साम्राज्यान्तर्गत कम्बोडिया, टौन्किन और अन्नाम पर फ्रांस अपना अधिकार जमाकर चीन साम्राज्य का दक्षिण की ओर अंग-भंग करने लगा। इसी समय वर्मा के राजा (चीन इन्हे अपने साम्राज्यान्तर्गत समझता था परन्तु ये एक प्रकार से स्वतंत्र थे) ने फ्रांसीसियो को टौन्किन से मंडाले तक रेल बनाने, एक बैंक की स्थापना करने और लाल की खानो को खोदने का अधिकार दिया। ग्रेटब्रिटेन इसे सहन नहीं कर सका। उसने वर्मा पर चढ़ाई कर दी और उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। रूस ने साइवेरिया मे रेल बना ली और चीन के उत्तरी भाग मंचूरिया पर उसकी आंखें गड़ गई। जापान ने १८७४ ई० में लिउकिऊ पर अधिकार कर लिया और फिर

चीन साम्राज्य का बटवारा

मंचूरिया और कोरिया की ओर दृष्टिपात किया।

जापान कोरिया को १८७६ से ही स्वतंत्र समझता था। वह वहां के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। चीन इस बात से चिढ़ गया। वह उसपर अपना अधिकार समझता था इसलिए उसने कोरिया के राजा की सहायता के लिए सेना भेजी। इसका परिणाम यह हुआ कि १८९४ में चीन और जापान के बीच लड़ाई छिड़ गई। युद्ध में जापान विजयी हुआ। चीन को बाध्य होकर १७ अप्रैल १८९५ को जापान के साथ शिमोनेसेकी की सन्धि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार चीन को युद्ध-व्यय के सिवा फारसोसा, लाओडंग, पोर्ट आर्थर और कुछ व्यापारिक सुविधाएँ जापान को दे देनी पड़ी। सन्धि के शर्तों के कार्यान्वित होने तक वू-हाई-वहें पर भी जापान का ही अधिकार रहा। कोरिया इस समय से स्वतंत्र मान लिया गया।

चीन का अंग-भंग

जापान का लाभ रूस का नुकसान था। वह मंचूरिया, कोरिया और पोर्टआर्थर लेकर अपने लिए बरफ-रहित बन्दरगाह चाहता था। उसने उपर्युक्त सन्धि रद्द कर देने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। जर्मनी और फ्रांस भी जापान की उन्नति देख उससे ईर्षा करने लगे थे। इन तीनो राष्ट्रों ने जापान को चीन के किसी भी भाग पर अधिकार न जमाने की सूचना दी। जापान इन तीनों शक्तियों से लड़ नहीं सकता था इसलिए उसने उपर्युक्त राष्ट्रों की बातें मान लीं और फारसोसा के सिवा सभी प्रांत कुछ और अधिक युद्ध-व्यय लेकर चीन को लौटा दिये।

उपर्युक्त तीनों विदेशी शक्तियो नें चीन से कुछ सुविधाएँ

लेने के लिए ही उसे बचाया था। चीन के शत्रु जितना नुक़सान उसे नहीं पहुँचा पाते उतना उसके मित्रों ने पहुंचाया। फ्रांस ने २० जून १८९५ को चीन के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार फ्रेंच इण्डोचीन से मिले हुए तीन दक्षिणी प्रदेशों की खानों में अपने लिए चुन लेने का, अन्नाम से चीन के भीतरी प्रदेशों तक रेल ले जाने का, फ्रेंच इण्डोचीन सरहद पर तीस से चालीस प्रतिशत कम कर देने का अधिकार ले लिया। चीनी सम्राट् ली-हुंग-चांग इन अधिकारों की महत्ता को नहीं समझ सके थे। यह वास्तव में चीनी प्रांतों पर अधिकार जमाने की भूमिका थी।

रूस का दबाव

रूस ने चीन पर अपना दबाव यह कहकर डाला कि उसी के प्रयत्न से उसका बांटा जाना रुका है। उसने १८९६ में एक रूसी-चीनी बैंक खोलने का और जापान का ऋण अपने पास से देकर चुकता करने का अधिकार लिया और रेल-तार आदि के बनाने में भी सुविधाएँ प्राप्त कीं। उसी साल रूसी-चीनी बैंक को भी बड़े महत्व की रेल बनाने का ठेका मिला। ट्रान्स साइबेरियन रेलवे चीनी मंचूरिया से होकर ले जाने का अधिकार उसे मिल गया। इसका मतलब था मंचूरिया का रूसी लोगों के अधिकार में आ जाना। चीन सरकार से उस रेल के लिए सरकारी भूमि मुफ्त देने और उस पर टैक्स न लगाने का वादा करा लिया गया। इस रेल के बन जाने से रूस को युद्ध के समय सेना भेजने में सुविधा हो जाती थी। आर्थिक तथा युद्ध के समय सामरिक उपयोग की दृष्टि से मंचूरिया रूस के अधिकार में आ गया। जिस रास्ते से वह

रेल जाती उसके पास की खानों पर भी उसी रेलवे कम्पनी का अधिकार हो गया।

जर्मनी इस समय तक चुप बैठा था परन्तु वह भी किसी ऐसे उपयुक्त समय की बाट जोह रहा था जिस समय उसे शांटुंग का दक्षिणी भाग कियाचाऊ मिल जाता। रूस की दृष्टि भी उस स्थान पर थी इसीलिए १८९७ में जर्मन-सम्राट् ने रूस से समझौता कर लिया था कि यदि कियाचाऊ पर जर्मनी का अधिकार रहे तो पोर्टआर्थर पर रूस का अधिकार रहेगा। १८९७ के नवम्बर में संयोग से शांटुंग के ही प्रांत में दो जर्मन मिशनरियों की हत्या कर दी गई। जर्मनी ने तुरंत ही चीन पर आक्रमण कर दिया। रोमन कैथलिक मिशनरी की हत्या का बदला लेने के लिए प्रोटेस्टेंट सरकार इतनी उत्सुक हो जाय यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी, परन्तु यहां पर मिशनरियों की मृत्यु बहाना मात्र थी। उनकी मृत्यु और कियाचाऊ के पट्टे लिखाने से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु उसी बहाने जर्मनी ने कियाचाऊ की दो सौ वर्गमील भूमि का निन्नानवे साल के लिए पट्टा लिखा लिया। जर्मनी को उस भूमि पर पूर्ण स्वतंत्रता थी। कियाचाऊ खाड़ी के किनारे टिसिंगटाओ में उसने व्यापारिक दुर्ग भी बना लिया। इतना ही नहीं जर्मनी ने शांटुंग प्रांत में दो रेल लाइनें बनाने और उसके दोनों तरफ की खानों का उपयोग करने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। शांटुंग प्रांत जर्मनी के आर्थिक प्रभुत्व-क्षेत्र में आगया।

जर्मनी का आक्रमण

जर्मनी को इस प्रकार से पट्टा लिखाते देख रूस ने भी

उसका अनुकरण किया उसने भी पच्चीस वर्षों के लिए लाऊडंग के पास ५३८ वर्ग मील भूमि का पट्टा लिखा लिया, डाल्नी के बन्दरगाह में सुधार कर उसे व्यावसायिक कार्य का बना लिया और पोर्टआर्थर मे क़िलेबन्दी कर उसे अपने जहाजों के रखने का अड्डा बना लिया।

फ्रांस भी आगे बढ़ा। उसने निन्नानबे वर्ष के लिए कांग-चाऊ खाड़ी के किनारे १९० वर्गमील भूमि का पट्टा लिखा लिया। ग्रेट ब्रिटेन भी पीछे रहने वाला नहीं था। उसने हांगकांग के पास ४०० वर्गमील का और बेई-हाई-वेई का पट्टा लिखा लिया। अंग्रेजों का यह कार्य पोर्ट आर्थर की ओर से रूस और क्रिया-चाऊ की ओर से जर्मनी की बढ़ती रोकने के ही उद्देश से हुआ।

युरोपीय पूँजीपतियों के लिए चीन समृद्धि की खान दिखलाई पड़ता था। जो युरोपीय व्यापारी वहाँ पर रेल बनवा लेता या खान का अधिकारी हो जाता उसका भाग्य खुल जाता था। इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र के व्यापारी यही इच्छा रखते थे कि रेल आदि बनाने मे जो सुविधाएँ उन्हे मिल चुकी हैं वैसी दूसरे राष्ट्र के व्यापारियों को न मिले। १८९७ में बेल्जियम ने पेकिंग हाँगकाऊ रेलवे के लिए सुविधा प्राप्त की। इससे अंग्रेज आग-बबूला हो उठे और चीन के साथ लड़ने के लिए तैयार हो गये।

गुट्ट और बटवारा

अन्त में चीन को ब्रिटिश पूँजी से २८०० मील रेल तैयार करने का अधिकार देना पड़ा। रूस इस से चिढ़ गया परन्तु इंग्लैंड ने उससे समझौता कर लिया। रेल निकाल लेने पर किसी-किसी स्थान में एक देश के व्यापारी

को दूसरे देश-द्वारा रेल निकालने पर घाटा होता था इसलिए वे लोग अपने लाभ का दायरा बांट लेते थे। इस प्रकार चीन का बंटवारा हो जाने पर व्यापारियों के देशों की सरकार सदा उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा किया करती थीं जब चीन का उन सरकारों के बीच पूर्णरूप से बंटवारा हो जायगा। फ्रांस ने १८९८ में चीन से स्वीकार करा लिया कि वह दक्षिणी तीन प्रान्तो का फ्रांस के सिवा और किसी दूसरे राष्ट्र के हाथ पट्टा नही लिखेगा। इंग्लैड ने यांगसी बेसिन के विषय में वैसा ही करा लिया। तात्पर्य यह कि युरोपियन राष्ट्रो ने निश्चय कर लिया था कि जब चीन-साम्राज्य टूट जाय तो उत्तरी दीवार के ऊपर का सारा प्रदेश और मंचूरिया रूस का, शांटुंग जर्मनी का, दक्षिण के तीन प्रदेश फ्रांस के और यांगसी बेसीन, हीनान और शांसी ग्रेट ब्रिटेन का हो जायगा।

अमेरिका ने अभी तक कोई भाग इन मामलों में नहीं लिया था। चीन के बंटवारे मे उसे हिस्सा नही मिला था। उसके व्यापार मे भी युरोपीय लोगों की कार्रवाइयों से घाटा हो रहा था इसलिए उसने युरोपीय राष्ट्रो को लिखा कि वे अपने-अपने दायरे में सुविधा प्राप्त करें परन्तु व्यापार से उसका सम्बन्ध नही रहे। जितने बन्दरगाह खुलें सभी राष्ट्रों के उपयोग के लिए हो; उनका प्रभुत्व-क्षेत्र और कर से कोई सम्बन्ध न रह जाय। अमेरिका की बातें युरोपीय राष्ट्रों को माननी पड़ीं। अभी तक चीन में अमेरिका का व्यापारिक लाभ नही था। जब उसने विकसित साम्राज्यवादी नीति अपनाई, अमेरिकन बैंकरों का रुपया चीन में लग गया तब अमेरिका का स्वार्थ और भी

अधिक बढ़ गया। इस समय से वह इसी ताक में रहने लगा कि युरोपीय राष्ट्र और जापान चीन का बटवारा न कर लें।

इस प्रकार चीन साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर युरोपीय व्यवसायियों के बीच बॅट गया। उसकी राजकीय सीमा का बंटवारा न हो सका, इसका एकमात्र कारण साम्राज्यवादी राष्ट्रों की आपस की फूट थी।

अब साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर एशिया के और राष्ट्रो की क्या अवस्था थी इसका उल्लेख भी आवश्यक है। दक्षिण एशिया मे श्याम का ही ऐसा प्रायद्वीप बचा है जिसने युरोपीय आक्रमण से बचकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की है। बर्मा की ओर से अंग्रेज और इण्डोचीन की ओर से फ्रेंच उसे दबाते गये परन्तु उन दोनों के आपस की ईर्षा के कारण ही वह स्वतंत्र रह सका। फ्रांसीसी पश्चिम की ओर मेकांग नदी के बांये किनारे पर बढ़ने लगे। अंग्रेजो को भय हुआ कि यदि श्याम पर फ्रांसीसियो का अधिकार हो गया तो वह भारतवर्ष की दृष्टि से खतरनाक होगा। इसके सिवा श्याम में अंग्रेज व्यापारियो के

अन्य राष्ट्रों की अवस्था

खान तथा रेल-सम्बन्धी लाभो में बाधा आ उपस्थित होती। फ्रांस ने श्याम की राजधानी बेंकाक पर १८९३ में हमला किया परन्तु अंग्रेजों के भय के कारण वह पूरे श्याम पर अधिकार नही जमा सका। १८९६ मे मेकांग के पूर्व का भाग फ्रांसीसियो का समझ लिया गया। १९०४ में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का जो समझौता हुआ उसमें श्याम को जितना दबाया जा सकता था दबाया गया। इस समय यह निश्चय हुआ

कि पूर्व की ओर से फ्रांस जहाँ तक चाहे बढ़ता जाय और दक्षिण-पश्चिम की ओर से अंग्रेज बढ़ते जायँ। कोई किसी के काम मे बाधा न डाले। १९०७ में फ्रांस ने बातमबांग का प्रांत ले लिया और श्याम के स्वतंत्र राज्य मे रेल बनाने का अधिकार प्राप्त किया। अंग्रेज बहुत दिनो से मलाया प्रायद्वीप पर अधिकार करने की चेष्टा कर रहे थे। १९०९ में उन्होने मलाया के चार स्टेटो (केदाह, केलान्तान, ट्रेनगानु और पर्लिस) पर क़ब्जा कर लिया। उनके अधिकार में पहले से ही मलाया प्रायद्वीप के दूसरे प्रदेश और सिगापुर आ चुके थे। दूसरे प्राच्य देशो के समान श्याम को भी विदेशी लोगो से सलाह लेनी पड़ती थी और विदेशियो को उनके अपने देश के क़ानून के अनुसार विदेशी लोगो के न्यायालय मे ही अपने मुक़दमो का फैसला कराने का अधिकार देना पड़ा था। श्याम ने अमेरिकन, फ्रेंच, जर्मन आदि सभी देशों के लोगों से सलाह ली इससे वह किसी एक देश के अधिकार में नहीं जा सका।

आर्थिक साम्राज्यवाद के उद्भव होने के पहले ही भारतवर्ष अंग्रेजों के क़ब्जे में आ गया था। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना व्यावसायिक लाभो के लिए की गई थी। ईस्टइंडिया कंपनी नाम की एक व्यवसायी कंपनी थी जिसने आरम्भ में भारतवर्ष के कुछ भाग पर ब्रिटिश आधिपत्य जमाया था। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भारतवर्ष के अधिकांश भाग पर देशी रजवाड़ो का राज्य था। व्यापार ज्यों-ज्यो बढ़ता जाता था कंपनी अधिकाधिक प्रदेशों पर अपना क़ब्जा जमाती जाती थी। भारतवर्ष मे आरम्भ में

भारतवर्ष

अंग्रेजी राज्य स्थापित करने वालों में अनेक गुण ऐसे थे जो लूट-मार करने और डाका डालने वालों के लिए आवश्यक हुआ करते हैं। उन लोगों को अपने उन गुणों को स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। १८४९ में पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिलाने के लिए वही साम्राज्यवादी नीति काम मे लाई गई थी जिसका अनुकरण जर्मनी ने उस शताब्दी के अंत मे कियाचाऊ के लेने में किया था। पंजाब मे दो अंग्रेज मार डाले गये थे। पंजाबियों का यह अपराध उनको ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने के लिए काफी समझा गया। जब कोई देशी हिन्दू राजा बिना पुत्र के मर जाता तो उसका राज्य कम्पनी के राज्य में मिला लिया जाता था। अंग्रेजों की इस नीति को भारतीय प्रजा सहन नहीं कर सकी। १८५७ में उसने विद्रोह कर दिया। इस समय अंग्रेजी राज्य के जड़-मूल से उखड़ जाने की सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी। विद्रोह शांत होने पर अंग्रेजों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया परन्तु उससे लूट-खसोट कम नहीं हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने ईस्टइण्डिया कम्पनी के हाथ से भारत का शासन-कार्य अपने हाथों में ले लिया। परन्तु इससे पुराने शासन-क्रम में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। इस समय से राजनैतिक तथा आर्थिक बन्धनों को और भी दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया। देशी राज्यो के मिलाने के तरीक़ों में परिवर्तन हो गया परन्तु उनका मिलाया जाना रुका नहीं। यह बात निम्नांकित अंकों के देखने से स्पष्ट हो जायगी।

१८५७ का विद्रोह

१८६१ से १८७१ तक ४००० वर्गमील भूमि साम्राज्य मे मिलाई गई।
१८७१ से १८८१ तक १५००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।
१८८१ से १८९१ तक ९०००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।
१८९१ से १९०१ तक १२३००० वर्गमील भूमि साम्राज्य मे मिलाईगई।

१९०१ के बाद नीति में परिवर्तन हो गया है। इस समय से देशी राज्य साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किये जाते बल्कि साफ़ शब्दों में यही कहना उचित होगा कि देशी राजे अंग्रेजी साम्राज्य के स्तम्भ बनाकर यहां पर अंग्रेजों की कृपा से राज्य करने के लिए रखे जाते है।

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र चल जाने से गत अर्द्ध-शताब्दी में भारतवर्ष की महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है। सबसे पहले हम लोग यहां पर लगी हुई अंग्रेजी पूंजी का विचार करें। भारतवर्ष का ऋण, जिसे देने वाले अधिक भाग में अंग्रेज ही हैं, ३.५ बिलियन (साढ़े तीन अरब) डालर* है। ढाई बिलियन (ढाई अरब) डालर पूंजी लगा कर व्यापार करने वाली ६३४ विदेशी, खास कर ब्रिटिश कम्पनियाँ हैं जिनका व्यापार भारतवर्ष मे होता है। ५१९४ ऐसी विदेशी (अधिकतर अंग्रेजी) कंपनियां है जिनकी रजिस्ट्री भारतवर्ष में हुई है और जिनकी पूंजी एक बिलियन (एक अरब) डालर है। और भी बहुत-सी विदेशी पूंजी लगी हुई है जिसकी रजिस्ट्री नहीं हुई है। भारतवर्ष में लगी हुई लगभग नब्बे प्रतिशत पूंजी विदेशी है जिसमें अधिकांश भाग इंग्लैंड का है।

---

*एक डालर लगभग तीन रुपये के बराबर होता है।

अब व्यापार की ओर दृष्टि डालें। ग्रेटब्रिटेन अपने कुल निर्यात का दशमांश, अर्थात् लगभग आधे बिलियन (पचास करोड़) डालर का माल भारतवर्ष मे बेचता है और अपने व्यापार का नवमांश लगभग $\frac{2}{5}$ बिलियन (चालिस करोड़) डालर का माल भारतवर्ष से ख़रीदता है। सारे ब्रिटिश शिल्प को भारतवर्ष से उतना लाभ नहीं है जितना वहां के कुछ खास व्यसायी—लोहे और कपड़े वालों को है। रूई और लोहे का ही व्यवसाय ब्रिटेन का मुख्य व्यवसाय है। इन व्यवसायो की उत्पत्ति का पंचमांश केवल भारतवर्ष मे खप जाता है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश कपड़े के व्यवसायियो का साल में भारतवर्ष मे ही २२५०००००० डालर का कपड़ा बिक जाता है। लोहे के व्यवसायियो का, जिनमें रेलवे आदि का सामान तैयार करने वाले भी है, दस करोड़ डालर का माल बिक जाता है। भारतवर्ष से साल मे बारह करोड़ डालर की चाय और करोड़ो रुपयो का जूट, रूई, चमड़ा और ऊन विदेश जाता है। यहाँपर खानों से भी काफी उत्पत्ति होती है। उनसे लाभ उठाना अभी हाल मे ही आरम्भ हुआ है।

भारत से ब्रिटेन का लाभ

पहले की अपेक्षा गत अर्द्ध शताब्दी में ब्रिटेन का भारतवर्ष से आर्थिक लाभ बहुत अधिक बढ़ गया है। १८७५ से १९१३ के बीच भारतवर्ष का आयात पाँच सौ प्रतिशत और निर्यात ३५० प्रतिशत बढ़ गया है। गत अर्धशताब्दी मे ही, खासकर महासमर के बाद, भारतवर्ष में विदेशी पूँजी आई है।

ये ही सब लाभ हैं जिनके कारण उन्नीसवी शताब्दी में

नेपोलियन के साथ अंग्रेजों का युद्ध हुआ था। उसके बाद से आज तक ब्रिटेन ने जितनी चाले चली, जितनी संधियाँ और मित्रताएं कीं, जितने देश अपने अधिकार मे लिये और जितने देश अपने संरक्षण मे किये, वास्तव मे सब केवल भारतवर्ष पर ही दृष्टि डालकर किये । आर्थिक साम्राज्यवाद का ज्यों-ज्यो विकास होता गया त्यों-त्यों ब्रिटेन भारतवर्ष को अपने अधिकार मे रखने के लिए मुस्तैदी से प्रयत्न करने लगा। अंग्रेजो का वर्तमान साम्राज्यवाद के युग में सब से बड़ा लाभ यदि किसी देश से है तो वह भारतवर्ष से है। अंग्रेजो के सभी उपनिवेशो की जितनी आबादी है उसका ४/५ केवल भारवर्ष की ही है। अंग्रेजो का भारतवर्ष पर अधिकार हो गया था इसीलिए वे यूरोप के और राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक लाभ उठा सके। १९१० मे इंग्लैड ने अपने प्रतिद्वंद्वी जर्मनी की अपेक्षा दस गुना अधिक माल भेजा। भारतवर्ष का जितना व्यवसाय दूसरे देशों के साथ होता है उसका तीन-चौथाई अंग्रेजी जहाजों द्वारा होता है। अंग्रेजी जहाज के व्यवसाय करने वाले और व्यापारियो का लाभ होता था फिर भला वे भारतवर्ष को राजनैतिक बंधनों से जकड़े रखने मे ब्रिटिश सरकार का साथ क्यो देते। आर्थिक साम्राज्यवाद के युग मे भारतवर्ष को अंग्रेजो ने आर्थिक तथा राजनैतिक दोनो ही दृष्टियो से जैसा निःसहाय और पंगु बना दिया है वैसा वह पहले कभी नही था। अपने लाभ के लिए साम्राज्यवादी अंग्रेजो ने भारतवर्ष के लोगों पर जितने अत्याचार किये हैं और कर रहे हैं उसका दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास मे कहीं भी ढूंढने से नहीं मिलेगा ।

अब हम लोग ऐसे देशों पर दृष्टि डालें जिन से साम्राज्य-वादियों का प्रत्यक्ष लाभ नहीं था फिर भी भारतवर्ष के कारण उन्हें अधिकार में लाया गया अथवा उनसे लड़ाई कर समझौता कर लिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में तिब्बत पर चीन का नाममात्र का प्रभुत्व रह गया था। यहां पर नमक, सोडा, पोटाश सोना, लोहा आदि की खानें थीं जो खोदी नहीं गई थीं। तिब्बत के साथ व्यापार करने के लिए भारत-सरकार ने १८९०–९३ में चीन के साथ सन्धि करली। तिब्बत वाले बाहरी देशों के साथ व्यापार नहीं करना चाहते थे। वे किसी विदेशी को अपने देश में, विशेषतः अपनी राज-धानी लासा के पास, नही फटकने देते थे। वहाँ के व्यापार मे कुछ अधिक लाभ नहीं था इसलिए ब्रिटिश सरकार वहाँ के कामों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी परन्तु दूसरी दृष्टि से तिब्बत बड़े ही महत्व का देश था। भारतवर्ष के लिए वह ढाल का काम करता था। तिब्बत वाले अपने यहां विदेशियों को घुसने नहीं देते थे इससे अंग्रेजों को उत्तर की ओर से भारत-वर्ष पर रूस के आक्रमण करने की सम्भावना नहीं थी परन्तु १९०० में अंग्रेजो ने सुना कि तिब्बत के राजा दलाई लामा के एक रूसी शिक्षक लामा की ओर से दूत बनाकर रूस के जार के पास भेजे गये है, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अंग्रेजों को सन्देह होने लगा कि कहीं रूस तिब्बत को अपने संरक्षण में तो नहीं रखना चाहता है। उन्हे यह भी सन्देह होने लगा कि रूस तिब्बत के मार्ग से भारत पहुँचने का उद्योग कर रहा है। तत्का-

तिब्बत में—

लीन भारतीय वायसराय ने इस मामले में चुप बैठना उचित नही समझा। उन्होंने १९०४ में शिकम के अंग्रेज पोलिटिकल अफसर के साथ कर्नल यंग हजबैंड को तिब्बत पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। आक्रमण करने के लिए सड़कें बनने लगी। भारत-सरकार यह नहीं चाहती थी कि तिब्बत किसी प्रकार रूस के चक्र में पड़े इसलिए वह उसे अपने अधिकार मे लाकर लासा में अपना रेजिडेंट रखना चाहती थी। तिब्बत अंग्रेजी आक्रमण को नहीं रोक सका। तिब्बत के साथ युद्ध नही किया गया वरन् वहां पर क़त्लेआम किया गया। अंग्रेजो के केवल सैंतीस सिपाही काम आये पर तिब्बतियो के पन्द्रह सौ आदमी मारे गये। दलाई-लामा भाग गये। ग्रेटब्रिटेन ने ७ सितम्बर को तिब्बतियो से एक सन्धि-पत्र पर जबर्दस्ती हस्ताक्षर करा लिया। उस सन्धि-पत्र के अनुसार निश्चय हुआ कि तिब्बत व्यापार के लिए खुल जायगा, बिना अंग्रेजों की सम्मति के तिब्बत वाले अपने देश का कोई भाग दूसरी शक्ति को न देंगे, कोई दूसरी शक्ति तिब्बत के कार्यों मे हस्तक्षेप न कर सकेगी और न वह अपना प्रतिनिधि वहाँ पर भेज सकेगी। किसी विदेशी शक्ति को उस समय तक व्यापार-सम्बन्धी अधिकार नहीं दिया जायगा जबतक वैसा ही अधिकार अंग्रेजो को न मिल गया हो। अंग्रेजों के सदा ये ही प्रयत्न रहे कि तिब्बत नवीन युग की झलक नही देख सके, उसका संसार के साथ सदा ही सम्बन्ध-विच्छेद रहे और वहाँ पर किसी विदेशी शक्ति का प्रभुत्व न होने पावे। २७ अप्रैल १९०६ को चीन ने भी यह सन्धि स्वीकृत कर ली, १९०७ मे अंग्रेजों का रूस के साथ जो समझौता हुआ उसमें यह

निश्चित हुआ कि वह स्वतंत्र रहेगा और वहाँ पर दोनों में कोई भी राष्ट्र रेल, सड़क, तार बनवाने का, खानों में सुविधा लेने का या शासन मे हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

मध्य एशिया में अंग्रेजों को रूस के बढ़ने का बहुत बड़ा खतरा रहता था। रूस सदा बढ़ने का और अंग्रेज़ उसके आक्रमण को रोकते हुए बढ़ने की चेष्टा करते थे।

अफगानिस्तान मे—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रूस बढ़ता-बढ़ता फारस और अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सीमा तक पहुँच गया। इस बात की खास कर अफ़ग़ानिस्तान के रूस के अधिकार मे चले जाने की सम्भावना देखकर अंग्रेज़ों को बड़ी चिन्ता हुई। अफ़ग़ानिस्तान पार कर जाने पर भारतवर्ष पर चढ़ाई कर देना रूस के लिए बहुत आसान हो जाता। १८७८-८१ में ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान भेजी गई। उसने वहां एक कमजोर अमीर को गद्दी पर बिठलाया। उस अमीर को इंग्लैंड अपने हाथ में कठ-पुतली की तरह रखनो चाहता था। अंग्रेजी सरकार उस अमीर को तनख्वाह देती थी। उसके बदले वह वहां की परराष्ट्र-नीति अपने हाथों मे रखती थी। इतने से भी अंग्रेजों को सन्तोष नही हुआ। १८९५ में जब रूस पामीर की उपत्यका तक बढ़ आया तो इंग्लैंड और रूस के बीच लड़ाई छिड़ जाने की सम्भावना दीखने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे दोनों राष्ट्रों की प्रतिद्वंद्विता बहुत अधिक बढ़ गई। अंग्रेज बोअर लड़ाई में फँसे हुए थे। उस समय रूस आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहा था। वह उस समय एशिया में नई-नई रेलवे लाइनें निकाल रहा था। जब वह पंजदेह तक पहुँच गया तब

मामला बहुत गंभीर हो गया। अभी तक अफ़गानिस्तान बीच में था। इसीलिए रूसी रेलो का सम्बन्ध भारतवर्ष की सीमा से नही हुआ था। इसलिए अंग्रेज कोई भी रेल अफ़गानिस्तान मे नही बनने देना चाहते थे। इसी समय अफ़गानिस्तान की गद्दी पर हबीबुल्लाखां बैठे। उन्होने अंग्रेजों की तनख्वाह लेने से इन्कार कर दिया। १९०४ मे अंग्रेज बहुत तंग आगये थे। उन्होंने इस साल काबुल में अपना एक मिशन भेजा। उस मिशन का कार्य सफल हुआ। हबीबुल्लाखां ने स्वीकार किया कि 'हम फिर से उस सन्धि को दुहरायंगे जिसे हमारे पिता ने की थी और अंग्रेजों से अबतक जितनी वृत्ति नही ली है उसका हिसाब लगा कर लेगे।' इसी समय उनकी वृत्ति बढ़ा कर ड्योढ़ी कर दी गई जिसमे अफगानिस्तान के अमीर अपने देश की रक्षा और प्रबन्ध भलीभांति कर सकें। इतना होने पर भी अंग्रेज और रूसियो की प्रतिद्वंद्विता १९०६ मे इतनी बढ़ गई कि लड़ाई छिड़ जाने की सम्भावना होने लगी परन्तु १९०७ मे ही दोनो राष्ट्रो का समझौता हो गया। इस समझौते मे रूस ने अफगानिस्तान को अपने प्रभुत्व-क्षेत्र के बाहर स्वीकार किया। उसने यह भी स्वीकार किया कि अफगानिस्तान के अमीर के साथ वह जो भी बात करेगा वह अंग्रेजों के द्वारा ही करेगा। दूसरी ओर अंग्रेजो ने भी स्वीकार किया कि जब तक अफगानिस्तान के अमीर सन्धि की शर्तों को मानेंगे—तनख्वाह लेगे और अपनी पर-राष्ट्रनीति अंग्रेजो के हाथ में रखेगे तबतक उनका देश ब्रिटिश साम्राज्य में नही मिलाया जायगा। राजनैतिक दृष्टि से यह इकरारनामा अंग्रेजो के लिए बड़े काम का

रहा क्योंकि भारतवर्ष पर अफगानिस्तान के रास्ते से रूस आक्रमण नहीं कर सकता था। इस प्रकार से अफ़गानिस्तान भी साम्राज्यवाद के चक्र में आ गया।

ईरान (फारस) में

एशियायी राष्ट्रों में फारस ऐसा देश है जहाँ पर आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति नग्न रूप में नृत्य करती हुई दिखलाई पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में केवल उसकी स्वतंत्रता और सभ्यता का ही नहीं वरन् उसके सर्वस्व का नाश करके युरोपीय राष्ट्र अपना प्रभुत्व जमाने के कार्य में लग गये। फारस की सभ्यता बहुत ही प्राचीन थी। यहां का राजनैतिक यंत्र भी बहुत विकसित था इसलिए इसे सीधे अपने साम्राज्य मे मिला लेना सम्भव नहीं था। यह देश व्यापारिक दृष्टि से युरोपीय राष्ट्रों के लिए बहुत अधिक महत्व का नहीं था। यहां आकर युरोपीय बैंकरों ने शाह को खूब अधिक सूद की दर पर रुपया देना आरम्भ किया। उनका ख़याल था कि शाह उस रुपये को ऐश-आराम मे खर्च करेंगे और उसका भुक्तान करने के लिए उन्हें बहुत अधिक कर बढ़ाना पड़ेगा। कर बढ़ने से जनता में असंतोष होगा, वह राजा के खिलाफ क्रान्ति करेगी। राज्यशक्ति कमजोर हो जायगी; उस समय व्यापारिक रक्षा का बहाना कर शाह के ऊपर जोर डाला जायगा, कर्ज के मुक्त करने के लिए उनसे उनके प्रांत ले लिये जायंगे और देश अधिकार में आ जायगा। वहां पर सब से पहले १८८९ में बैरन रूटर नामक अंग्रेज ने इम्पीरियल बैंक-ऑव् पर्शिया खोला। इनका उद्देश शाह को कर्ज देना और जो खानें निकलें उनकी खुदाई करवाना था। कुछ ही दिनों बाद

रूसी लोगों का भी एक ऐसा ही कर्ज देने वाला बैंक खुला। इन दोनों बैंकों में शाह को रुपया देने के लिए प्रतिद्वंद्विता चलती थी। रूस फ्रांस से कर्ज लेकर शाह को रुपया देता था। इसमे उसे थोड़ा लाभ होता था परन्तु इस कार्य में उसका असली उद्देश राजनैतिक यन्त्र पर दखल जमाना था। इसके सिवा कर्ज देने से उन्हे रेल बनाने का तथा तेल और कोयला निकालने का अधिकार मिल जाता था और उसमें सुविधाएँ भी हो जाती थी।

रूस और ब्रिटेन की होड

फारस की महत्ता स्थान-विशेष के कारण बहुत अधिक बढ़ गई थी। भारतवर्ष को बचाने के लिए अंग्रेज़ इस देश को रूस के अधिकार में नही जाने देना चाहते थे। रूस के पास जितने बन्दरगाह थे उनमे साल के अधिकांश दिनो मे बरफ जमी रहती थी इसलिए वह फारस की खाड़ी में एक बन्दरगाह चाहता था। बीसवी शताब्दी के आरम्भ में रूस और इंग्लैंड की प्रतिद्वंद्विता बहुत अधिक बढ़ गई। इस समय रूसी बैंक ने शाह को कर्ज दिया और फारस की खाड़ी पर के बन्दर अब्बास को कोयला लेने का स्थान बनाया। शाह ने यह भी स्वीकार कर लिया था कि यदि सूद मिलने मे विलम्ब हो जाय तो कर्ज देनेवाले इस बैंक को समुद्र-तट पर कब्जा कर लेने का अधिकार रहेगा। इतना ही नहीं फारस-सरकार ने यह भी मान लिया था कि बिना उस बैंक की स्वीकृति के वह पचहत्तर वर्ष तक किसी और विदेशी शक्ति से ऋण नहीं लेगी। इस प्रकार की चालों—द्वारा विदेशी शक्तियां फारस को लूट रही थी। १८९६ में, नासिरुद्दीन शाह की मृत्यु

के समय, फ़ारस का ख़जाना भरा हुआ था परन्तु दस साल बाद मुजफ्फ़रउद्दीन की मृत्यु के समय वह खाली हो गया और उस पर कुछ ऋण भी हो गया।

बोअर युद्ध से छुट्टी पाने पर अंग्रेजो ने रूस को आगे बढ़ने से रोका। इस समय लार्ड कर्जन बहुत-से लड़ाके जहाज लेकर फारस की खाड़ी मे गये। उनका उद्देश्य वहां के बाशिन्दो को अपनी शक्ति प्रदर्शित कर भयभीत करना था। रूस और अंग्रेज़ो की प्रतिद्वंद्विता १९०७ तक बढ़ती ही गई। इस समय इंग्लैंड का नया शत्रु जर्मनी बहुत तेजी से आगे बढ़ता जारहा था। इंग्लैंड ने पहले उसे परास्त करना अधिक आवश्यक समझा। इधर रूस मे भी इस समय लड़ने की शक्ति नही थी इसलिए दोनों ने आपस में समझौता कर लिया। रूस ने जब से एशिया में अपना प्रसार करना आरम्भ किया था तब से फारस पर अधिकार करने का वास्तविक अधिकारी अपने को ही समझता था। वह कास्पियन सागर के दोनो ओर से फारस को दबाता हुआ बढ़ता जारहा था। ट्रांस काकेशिया मे तेल की अच्छी से अच्छी खानें है। रूस ने उनपर अधिकार जमा लिया था। अब उसके रास्ते का कांटा फारस ही रहा था। दूसरी ओर फारस भारत के रास्ते में पड़ता था। इसलिए अंग्रेज उसको अपने अधिकार मे रखना चाहते थे।

परस्पर बटवारा

१९०७ के समझौते में रूस और इंग्लैंड ने फारस को आपस में बांट लेने और जर्मनी को नही घुसने देने का विचार निश्चित किया। फारस तीन विभागो में बांट दिया गया। उत्तरी विभाग में ग्रेटब्रिटेन ने अपने लिए

सुविधा लेने का और रूस के सुविधा लेने पर विरोध नहीं करने का वादा किया। रूस ने भी दक्षिणीभाग मे अंग्रेजों को सफेद-स्याह करने का अधिकार दिया। बीच का भाग फारस का था। वह दोनों के लिए खुला था। इस समझौते का असली मतलब रूस और इंग्लैंड का फारस पर क़ब्जा और एकाधिकार जमाना था। फारस अंग्रेजों और रूसियों से बिना पूछे किसी देश से ऋण नही ले सकता था। जर्मनी ने अंग्रेज और रूसियों का फारस में विशेषाधिकार मान लिया और १९११ में रेल बनाने के विषय में रूस से समझौता कर लिया। इस प्रकार से फारस का भी बॅटवारा हो गया।

तुर्कसाम्राज्य पहले बहुत विस्तृत था परन्तु सोलहवी शताब्दी के बाद उसका विस्तार दिन-दिन कम होता गया। उन्नीसवीं

तुर्की में

शताब्दी में ऐसी सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी कि सारे तुर्की पर रूस का अधिकार हो जायगा। तुर्क बहुत निर्बल हो गये थे, उनमें लड़ने की शक्ति शेष नहीं रही थी। तुर्की रूस के अधिकार मे चला जाता परन्तु युरोपीय शक्तियाॅ अकेले रूस को ही सारे तुर्क-साम्राज्य पर अधिकार नहीं जमाने देना चाहती थीं। सभी युरोपीय राष्ट्र मिलकर तुर्कसाम्राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लेना चाहते थे परन्तु उन लोगों में भी आपस में मतभेद था। उनके आपस के मतभेद के ही कारण तुर्क-साम्राज्य बचता चला आता था। अंग्रेज पूरे तुर्क-साम्राज्य पर अकेले अपना अधिकार नहीं जमा सकते थे और न वे दूसरी युरोपीय शक्तियो का थोड़ा भी अधिकार वहां पर होने देना चाहते थे क्योंकि वह भारतवर्ष

के मार्ग मे पड़ता था । इसीलिए उन्नीसवी शताब्दी में सदा इसी नीति का प्रतिपादन करते रहे कि तुर्क-साम्राज्य जितना बचा है वह अखण्ड बना रहे । युरोप की हरेक शक्ति को भय था कि यदि तुर्की का अंग—विच्छेद होगा तो दूसरी शक्तियो को उसके नये-नये प्रदेश मिल जांयगे जिससे उनका बल बढ़ जायगा । आर्थिक साम्राज्यवाद के आने पर प्रत्येक शक्ति यह आशा करती थी कि हम तुर्की को ऋण देकर उससे थोड़े-थोड़े अधिकार प्राप्त करके अन्त में उसके पूरे मालिक हो जाँयगे और दूसरे राष्ट्रों की उसमे कुछ भी नही चलेगी । ये ही मुख्य कारण थे जिनसे युरोपीय शक्तियों ने तुर्कसाम्राज्य को अपने अधिकार मे लाने के जितने भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यत्त प्रयत्न किये उनमें कोई भी सफल नहीं हो सके । कुछ युरोपीय राष्ट्रों के सहायता करने पर भी उन्नीसवी शताब्दी मे तुर्कसाम्राज्य अखण्ड नहीं रह सका । दो युद्धो मे रूस ने तुर्की से कृष्णसागर के पूर्व का बहुत-सा प्रदेश छीन लिया । इधर यूनान, सर्विया, मांटिनिग्रो रूमानिया और बलगेरिया अपने उद्योग से स्वतंत्र हो गये और यहा तक बढ़े कि तुर्कों को युरोप से बाहर निकल जाना पड़ा ।

जर्मनी दर से पहुँचा

जर्मनी ने साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे भाग लिया । उस समय तक एशिया और अफ्रिका का बंटवारा लगभग खतम हो चुका था । अफ्रिका मे उसे जो भाग मिला था वह बहुत ही कम था इसलिए वह तुर्कसाम्राज्य मे बढकर अपनी कमी पूरी कर लेना चाहता था । बिस्मार्क तुर्क-साम्राज्य की महत्ता को नहीं समझता था । १८८८ में जब विलियम द्वितीय गद्दी पर बैठा

तो उसने जर्मन साम्राज्यवादियों की सहायता की। १८९२में जर्मन-सम्राट् द्वितीय बार तुर्की गये। उनका उद्देश राजनैतिक और आर्थिक था। इसी समय से तुर्की में जर्मन साम्राज्यवादी चाल सफल होने लगी। कैसर के तुर्की जाने का यह परिणाम हुआ कि जर्मन लोगों को हैदरपाशा बन्दर बनाने में सुविधाएँ मिल गईं और साथ ही साथ बगदाद तक ऐनेटोलियन रेलवे बनाने का अधिकार भी मिल गया। इन कार्यों से एशिया माइनर का आर्थिक दरवाजा खुल जाता था। अभी तक जर्मनी का तुर्की में बहुत कम लाभ था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में वहां पर साम्राज्यवाद के सभी दूत पहुँचने लगे। वहां पर मिशनरी, जहाज चलाने वाले, आयात-निर्यात का व्यवसाय करने वाले, बैंकर, पूंजी लगाने वाले और सैनिक सब को काम मिलने लगा। इन सब में अधिक महत्व का कार्य जर्मनी का रेल बनाना था।

जर्मन रेलवे लाइन

सुलतान ने जर्मनी को रेल बनाने का अधिकार दिया। फ्रेंच, ब्रिटिश और रूसी प्रतिद्वंद्वियों ने इस कार्य मे बाधाएँ डालीं। अन्त में १८९९ मे रूस को कृष्णसागर के किनारे के प्रान्तों पर रेलवे की सुविधा का एकाधिकार दिया गया। जर्मनी की रेल डियारब्रेक, टाइग्रिस और मोसल होकर जाने वाली थी। इसका रूस ने विरोध किया क्योंकि रूसी पूंजीपति उन प्रान्तो को अपने लिए चाहते थे। रूसी लोगों के विरोध करने के कारण जर्मन लोगों को दूसरे रास्ते से रेल ले जानी पड़ी।

बग़दाद रेलवे के लिए तुर्की सरकार ने बहुत सुविधाएँ दीं। उस रेल कंपनी की रजिस्ट्री तुर्की में होने को थी और तुर्की की

सरकार २७५००० फ्रैंक का बौंड प्रत्येक मिलोमिटर रेललाइन के लिए देने को तैयार थी। वही बौंड युरोपीय पूँजीपतियों के हाथ वेंचा जाता और कंपनी के कार्य-संचालन के लिए नगद रुपया मिलता। तुर्की सरकार ने इस रेलवे के घाटे का भी ठीका ले लिया था। प्रत्येक किलोमीटर में यदि ४५०० फ्रैंक से कम आमदनी होती तो उसे तुर्की सरकार पूरी करती। रेल के लिए जमीन मुफ्त दी गई थी। ये सभी सुविधाएँ तुर्की सरकार ने अपनी भलाई सोचकर ही दी थी। उसे आशा थी कि रेल बनने से राज्य की आमदनी बढ़ जायगी और निन्नानवे साल के बाद रेल तुर्की सरकार की हो जायगी।

इस रेलवे में अंग्रेज और फ्रेंच दोनो ही देशों के पूँजीपतियों की पूँजी शामिल होने को थी। परन्तु अंग्रेजों के जहाजी व्यवसाय को इस रेल से घाटा होता और भारतवर्ष का रास्ता सुरक्षित नहीं रह जाता इसलिए उन्होंने इस रेल के बनाने का विरोध किया। फ्राँस पहले इस रेल मे भाग लेना चाहता था क्योंकि उससे मोरक्को के झगड़े से हटकर जर्मनी का ध्यान तुर्की में लग जाता; फिर मोरक्को में सफेद-स्याह करने का अधिकार फ्राँस को मिलता। परन्तु इससे फ्रेंच लोगों को सीरिया आदि की रेलों में घाटा होने की सम्भावना थी इसलिए उन्होंने रेल का विरोध करने में रूस का साथ दिया। रूस आर्थिक दृष्टि से और अधिकतर इस दृष्टि से प्रेरित होकर रेल का विरोध करता था कि रेल बन जाने पर जर्मन सेना रूसी सीमा पर बहुत जल्दी पहुँचाई जा सकती थी।

दूसरों की ईर्ष्या

रेल का प्रश्न बड़े-बड़े राष्ट्रों की साम्राज्यवादी नीति से

टकरा गया। साम्राज्यवाद का चक्र तुर्की में भी चला परन्तु बड़े राष्ट्रों के परस्पर द्वेष के कारण उसका बंटवारा नहीं हो सका।

टापुओं पर अधिकार

एशिया के इन बड़े-बड़े देशों के सिवा भूमध्य सागर में अरब के पश्चिम साइप्रस से लेकर चीन के पूर्वी बन्दर वेई-हाई-वेई तक एशिया महाद्वीप के दक्षिणार्ध में जितने टापू, बन्दर और युद्धोपयोगी स्थान हैं उन सब पर अंग्रेजों ने अधिकार जमा लिया। अंग्रेजो के अधिकार में साइप्रस, स्वेज, पेरिमबन्दर, अदन, सुकोट्रा, कुरिया मुरिया, वेहरीन टापू, लखद्वीप, मालद्वीप, लंका, बर्मा, अंडामन नीकोबार, मलय देश, सिंगापुर, सरवक, उत्तरी बोर्नियो, हॉग-कॉंग, वेई-हाई-वेई आदि सभी स्थान आ गये। अमेरिका ने ११ अप्रेल १८९९ की सन्धि के अनुसार फिलिपाइन्स का द्वीप-पुञ्ज प्रायः छः करोड़ रुपये में स्पेन से अपने आर्थिक लाभ के के लिए खरीद लिया। सामोआ टापू का बटवारा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और जर्मनी के बीच व्यापारिक लाभ के लिए कर लिया गया। पुर्तगाल ने एशिया के एक हजार वर्गमील पर, जहाँ दसलाख आदमी बसते हैं, अपने व्यापारिक लाभ की दृष्टि से अधिकार कर लिया। डच ईस्ट इण्डीज, जिसमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि के टापू हैं, पर आर्थिक लाभ के लिए ही हालैंड का अधिकार कायम रखा गया है। इन सभी एशियायी देशों पर व्यापारिक लाभ के लिए बहुत पहले से ही आधिपत्य जमाना आरम्भ हुआ था परन्तु इनमें अधिकांश भाग पर आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र चलने के बाद ही कब्जा किया गया।

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र १८७० के बाद चला और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक एशिया के लगभग सभी प्रदेशों पर युरोपीय शक्तियों ने आधिपत्य जमा लिया।

[३]

एशिया की घोर निशा

जिस समय साम्राज्यवाद का चक्र चलना आरम्भ हुआ उस समय सम्पूर्ण एशिया घोर अन्धकार में पड़ा हुआ था। संसार में कितना उलट-फेर हो गया इसका उसे कुछ भी पता नहीं था। तत्कालीन संसार में उसे निज के स्थान का भी ज्ञान नहीं था। महान् चीन-सम्राट् की शान खतम हो चुकी थी परन्तु उनके विचारों में परिवर्तन नही हुआ था। एशिया के प्रमुख राष्ट्र अपनी प्राचीन सभ्यता के अभिमान में फूले हुए थे। वे समझ रहे थे कि हम उन्नति की उस चरमसीमा तक पहुँच चुके हैं जहां से और आगे नही बढ़ा जा सकता। ऐसी अवस्था में उनकी तरक्की नही हो सकती थी। भारतवर्ष ने समझ लिया कि संस्कृति के विषय में और अधिक उन्नति नहीं की जा सकती, अब वह पूर्णता की चोटी पर पहुँच चुका है। अपने को पूर्ण समझ लेने के वाद ये राष्ट्र दिन-दिन नीचे गिरने लगे। जबतक उनके गर्व पर प्रत्यक्ष रूप से धक्का नहीं पहुँचता था उनकी नींद नहीं टूटती थी। यह समय एशिया के लिए घोर अन्धकार का था। दिन-दिन पराधीनता की कड़ी से कड़ी बेड़ियों से वह जकड़ता जा रहा था परन्तु उसे उसका अनुभव भी नहीं हो पाता था। झूठी आध्यात्मिकता के अभिमान मे फूलकर एशियायी राष्ट्र सांसारिक चीजों की परवा नहीं करते

थे; भारतवर्ष में रहने वाले और अच्छे विद्वान् कहे जाने वाले लोगों को भारतवर्ष के विषय में बहुत ही साधारण ज्ञान रहता था। भूगोल का ज्ञान इतना कम था कि पंजाब के रहने वाले बनारस कहां पर है, नहीं जानते थे। भारतवर्ष से केवल उत्तरी भारत का मतलब लिया जाता था। उत्तरी भारत में रहनेवाले दक्षिणी भारतवर्ष वालों के हित-अनहित से अपना कोई सम्पर्क नहीं समझते थे। भारतवर्ष की राजनैतिक एकता नहीं थी। जिन लोगों के साथ उन्हें लड़ना था उन लोगों के उद्देश्यों को भी वे नहीं समझ पाते थे। एशियायी राष्ट्र कृषि-प्रधान राष्ट्र थे। यहां के उद्योग-धंधे न तो आरम्भ ही हुए थे और न आगे ही बढ़ रहे थे। देश अनेक प्रांतों में विभक्त था। लोगों में राष्ट्रीयता का भाव नहीं था। उन्हे यह पता नहीं था कि एक भाषा बोलने-वाले, एक जाति, एक संस्कृति और एक ही प्रकार के, प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का गर्व करनेवाले लोगों की एकता किस प्रकार की होती है। ये ही कारण थे जिनसे विस्तार में बड़े होने पर भी युरोप के छोटे राष्ट्रों का सामना एशियायी राष्ट्र नहीं कर सके।

दूसरों के सुधार का ठेका

युरोपीय राष्ट्रों ने एशिया के इस घोर निशाकाल का खूब उपयोग किया। साम्राज्यवादियों की नीति सफल होती दिखलाई देने लगी। युरोपियन लोगों में विजय पर विजय प्राप्त करते जाने से आत्माभिमान का भाव आया। भविष्य में और अधिक विजय प्राप्त करने में आत्माभिमान ही मुख्य वल होता है। एशियायी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करते जाने से विजयी राष्ट्रों के भीतर अपनी

शक्ति का गर्व होने लगा। वे अपने को श्रेष्ठ तथा विजित लोगों को नीच समझने लगे। इतना ही नहीं पिछड़े हुए राष्ट्रों (एशिया के सभी राष्ट्र युरोपियनों की दृष्टि में पिछड़े हुए थे) को आगे बढ़ाने का ठेकेदार भी वे अपने को ही समझने लगे। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए एशियायी राष्ट्रों पर अपना और अधिक आधिपत्य जमाना उन्हें नैतिक दृष्टि से भी न केवल उचित ही परन्तु आवश्यक प्रतीत होने लगा। वे समझने लगे कि उनका अधिपत्य जमाना उनके अपने देश के लिए उतना लाभदायक सिद्ध नहीं होगा जितना विजित राष्ट्र के लिए कल्याणकारी होगा। एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि उन्होने पीछे पड़े हुए लोगों को सुधारने का ठीका ले लिया था। उनमें कितने इसे अपने ऊपर भार भी समझने लगे थे।

विजित देशो के भीतर यह भाव जमाने के लिए कि गोरे श्रेष्ठ हैं विजेताओं ने उन देशो का शिक्षा-कार्य अपने हाथो में ले लिया। वे उन देशो के नवयुवकों को अपने स्कूल-कालेजो में शिक्षा देने लगे। उनकी शिक्षा का नवयुवकों पर यह असर होता था कि उनके भीतर से स्वाभिमान का भाव जाता रहता था। वे समझने लगते थे कि उनके देश का वर्तमान इतिहास तो कोई महत्व रखता ही नहीं, साथ ही प्राचीन काल मे भी वे वैसे समुन्नत नही रहे थे। उनकी कोई सभ्यता नहीं थी। वे नवयुवक विदेशियों की सभ्यता को ही अपना पैमाना बना लेते थे। जहाँ उस प्रकार की सभ्यता उन्हे दृष्टिगोचर न होती वहाँ के लोगों को असभ्य समझने लगते थे। नवयुवकों के

विषैली और आत्म-विस्मरणशील शिक्षा

सामने एक ओर अपने देश का भद्दा से भद्दा चित्र रहता था, दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता का सुन्दर से सुन्दर रूप रहता था। वैसी अवस्था में उनका अपने देश को नीचा समझने लग जाना स्वाभाविक ही था। अंग्रेज देशी लोगों से हिलते-मिलते नहीं थे। वे सदा उनसे अपने को अलग रखने का प्रयत्न करते थे, इससे उनका और भी अधिक असर पड़ता था। उन लोगों के भीतर की दैनिक जीवन की बुराइयाँ लोगों को मालूम नहीं पड़ती थीं इसलिए वे लोग ऊँचे समझे जाते थे। इन सब बातों का एशियायी लोगों पर इतना अधिक असर पड़ा था कि वे दैनिक जीवन की अपनी भूलों को 'हिन्दुस्तानीपन' वा 'वहशीपन' कहने में भी हिचकते नहीं थे। विजित देशों में सड़कों पर यदि युरोपियन चलते थे तो कितने देशी लोग रास्ता छोड़ उनसे नीचे हो चलने लगते थे। वे लोग अपने को युरोपियनों की बराबरी का नहीं समझते थे।

नैतिक और मान-सिक पतन

अंग्रेजी शिक्षा और युरोपियन प्रचारकों ने एशियायी लोगों की नस-नस में गुलामी का भाव भर दिया। वे लोग समझने लगे कि विधाता ने ही उनके भाग्य में गुलामी लिख दी है। उसे कोई मिटा नहीं सकता। वे लोग इतने हतोत्साह हो गये थे कि अपने को अपना राज्य चलाने में सर्वथा अयोग्य समझते थे। वे लोग यह भी समझने लगे थे कि युरोपियन जातियाँ बड़ी परोपकारी होती हैं। वे अपने देश का बहुत-सा रुपया खर्च करके और बहुत-से आदमियों का खून बहाकर उपनिवेशों पर उनकी ही भलाई के लिए अधिकार करती हैं। उन लोगों का

शासन देशी लोगों के लाभ के लिए ही होता है। विदेशियों के आने से ही देश की उन्नति हुई है। उनके आने से ही उस देश को उतना आर्थिक लाभ हुआ है जितना, यदि वे विदेशियों के अधीन न हुए होते तो, उन्हे स्वप्न में भी मिलने की आशा नहीं थी। विदेशियो के आने के ही कारण उनका देश सभ्य बना है। रेल-तार आदि वर्तमान युग की सभी आश्चर्यजनक सामग्रियाँ उनके देश में विदेशियों के ही कारण प्राप्य है। यदि विदेशी नहीं पहुँचे होते तो उनका देश जंगली हालत में पड़ा रहता। भविष्य में भी कुछ दिनों तक विदेशियो का अपने देश में राज्य कायम रहने देना वे आवश्यक समझते थे। क्योंकि उनको विश्वास था कि उनके जाते ही देश में अराजकता फैल जायगी, उनका देश दूसरे आक्रमणकारियो का शिकार हो जायगा इसलिए उनकी समझ में देश मे शांति बनाये रखने के लिए विदेशियो का रखना अत्यन्त आवश्यक था।

युरोपियनों की इतनी धाक जम गई थी कि उनके चले जाने की लोग कल्पना ही नही करते थे। लोग समझते थे कि विदेशी बहुत दिनो से देश में जम गये हैं और अब वह समय निकल गया जब कि उनके अधिकारो में किसी प्रकार का सन्देह किया जा सके। विजित देश अब उनके साम्राज्य का मुख्य अंग बन गया है, उन देशों मे उन्होने बहुत बड़ी मात्रा मे पूँजी लगा रखी है और विजित देशो ने भी अपने राष्ट्रीय ऋण का बहुत बड़ा भाग उनसे लिया है। केवल शासन करने वाला राष्ट्र ही नहीं परन्तु और भी दूसरे विदेशी राष्ट्रो ने केवल इसी विचार से इस

आत्म-विश्वास का विनाश

देश में पूँजी लगाई कि जब तक तत्कालीन शासक शासन करेंगे तब तक उनकी लगाई हुई पूँजी मे धोखा नहीं हो सकता। इसीलिए न तो विदेशी ही उन देशों से बाहर जायंगे और न अपने देश से शासनाधिकार ही निकलने देना चाहेंगे। विदेशियों के निकालने मे सबसे बड़े बाधक उनके देशवासी ही हो जायंगे। जिन लोगो ने विदेशी शासन में उच्च पद प्राप्त किये है अथवा जो देश के बड़े-बड़े ज़मीदार अथवा शिल्पी हैं वे विदेशियो को नहीं जाने देना चाहेंगे। यदि विदेशी चले जायंगे तो उसे वे लोग अपना बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझेंगे इसलिए विदेशियो के निकाले जाते समय वे लोग बिना क्रान्ति मचाये दम नही लेंगे।

एशियायी राष्ट्रों मे प्राचीनकाल मे चाहे राजाओं के प्रति वे भाव भले ही न रहे हों परन्तु आगे चलकर अवश्य ही उनके प्रति बहुत अधिक आदर के भाव आगये थे। वे लोग समझने लगे थे कि राजा ईश्वर-द्वारा ही शासन करने के लिए भेजा जाता है। उसे हटाना महापाप है। विदेशी भी राजा हैं अतः उनके खिलाफ भी क्रान्ति करना उचित नहीं है। विदेशियों ने उनके देशों के पुराने शासकों से सन्धि करके देश पर अधिकार प्राप्त किया है, उस सन्धि को प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सारे संसार ने मान लिया है। विदेशियों के हाथ उन देशों के राजा-महाराजाओं ने ही यह देश अर्पण कर दिया है अतः विदेशियों को राज्य करने का पूर्ण अधिकार है। उनके वैसे अधिकारप्राप्त राज्य के खिलाफ क्रान्ति करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त सभी बातों की जड़ में एशियायी राष्ट्रों के भीतर छिपी हुई अपनी निजी कमजोरी थी। वे अपने को किसी भी

प्रकार से विदेशियों को देश से भगा देने में असमर्थ पाते थे। उन लोगों का ख़याल ही बंध गया था कि एशियायी राष्ट्रों में शक्ति नहीं, संगठन नहीं, उनकी सामाजिक अवस्था अत्यन्त

शक्ति और साधन का अभाव

ख़राब है, उनमें आपस में फूट का भाव कूट-कूट कर भरा है, उनका प्राचीन इतिहास आपस की लड़ाइयों की कहानियाँ है, फारसी और हिन्दू कवियों की गाथाओं ने ईरानी और तूरानी तथा मंगोल और आर्य जातियो के बीच की लड़ाइयों को अमर बना दिया है। वर्तमान समय में भी वैसे उदाहरणों की कमी नहीं है। तुर्कों के खिलाफ लड़ने वालो का साथ फ़ारस, अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने दिया। एक जाति का भी आपस में मेल नहीं रहा है। चीनी लोग कोरियन और जापानियों से तो वैर का भाव रखते ही थे साथ ही अपने देश में शासन करनेवाले मंचू लोगों से भी उनका विरोध रहा है। अंग्रेजो के आने के पहले भारतवर्ष के लोग आपस में ही लड़ा करते थे। यहां पर धार्मिक विभेद भी वहुत बड़ा विभेद है। हिन्दुओं के आपस के साम्प्रदायिक झगड़े, आपस के जाति-भेद तो हैं ही, साथ ही मुसलमान, जिन्होंने हिन्दुस्तान में ही अपना घर बना लिया है, उनके सबसे बड़े शत्रु हैं। हिन्दू मुसलमानों को सदा अपने से नीचे समझते आये हैं; मुसलमानी अमलदारी में हिन्दू उनका विरोध करते ही थे आगे चलकर भी उन लोगों ने आपस के ही झगड़े के कारण अंग्रेजी शासन की नीव मज़बूत कर दी। सामाजिक कुरीतियों में अफीम खाना, स्त्रियों की गिरी हुई दशा, बाल-विवाह और शिक्षा का

अभाव मुख्य है। इसके अलावा एशियायी राष्ट्रों के पास लड़ाके जहाज, हवाई जहाज, तोप, बन्दूक और मनुष्यों के प्राण-नाश करने वाले गेस नहीं, फिर भला वे इतने अभावों और दुर्बलताओं के रहते हुए विदेशियों को अपने देश से क्योंकर भगा दे सकते थे? वर्तमानकाल में युद्धोपयोगी आवश्यक सामग्रियों के अभाव में वे क्योंकर विदेशियों का प्रभुत्व हटा सकते थे? खाने के बिना तड़पते हुए, दुर्बल, वैसे प्राणी, जिनकी ठठरी निकली हुई है, क्या युद्ध कर सकते हैं? देश मे काफ़ी धन नहीं जिससे सेना रखो जा सके। देश की जितनी लड़ने वाली जातियां हैं रुपये के लोभ में विदेशियों के अधीन हैं। विदेशियों के पास पर्याप्त धन और संगठन है, उनके पास युद्ध की वर्तमान सामग्री दिन-दिन बढ़ती जा रही है, देश के अधिकांश लोग शिक्षित हैं। वैसी अवस्था में उनसे क्योंकर लड़ाई छेड़ी जा सकती है? यदि लड़ाई छेड़ भी दी जाय तो भी क्या एशियायी राष्ट्रों के विजयी होने की सम्भावना है?

एशिया में जहां-कहीं भी युरोपियनों का व्यावसायिक अथवा राजनैतिक आधिपत्य हो पाया था, चमड़े के रंगों की विभिन्नता काम कर रही थी। गोरे लोगों में और उनके सम्पर्क में आये हुए एशियायी लोगों में भी यह भाव भर गया था कि गोरी जातियों में पुश्तैनी श्रेष्ठता का वीज है। उन लोगों की संस्कृति के समान संसार में और कहीं की भी संस्कृति नहीं है। वे स्वयं तो कभी ग़ुलाम हो ही नहीं सकते, साथ ही ईश्वर ने उन्हें दूसरों पर राज्य करने के लिए ही उत्पन्न किया है। रंगीन चमड़ेवाले लोगों पर राज्य करने के लिए ही वे संसार

मे आये हैं। उन आर्य लोगों पर भी उन्हें अधिकार करने का हक़ है जिनकी एक शाखा वे स्वयं हैं और जिनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा है। ठीक ही है, इन युरोपीय राष्ट्रों को ईश्वर के यहां से अपनी सभ्यता प्रसार करने का परवाना न मिल गया होता तो ये अपना घर-बार छोड़ अनेक समुद्र पार के देशों में जाकर शासन करने के लिए क्यों झगड़ते फिरते ?

इन भावों के फैलाने में युरोपीय लोगो का मुख्य उद्देश्य एशियायी लोगों के भीतर से आत्मविश्वास और स्वदेशाभिमान के भाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना था। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए एशियायी युवकों के दिमाग़ उलटे-सीधे इतिहास पढ़ाकर फेर दिये जाते थे। एशिया के लोग इसे समझ नही पाते थे। उनके लिए यह घोर निशा का काल था।

आरम्भ में भारतवासियों ने समझा कि वे अंग्रेजों से कम शिक्षित है, इसीलिए गोरे चमड़ेवाले उनका आदर नहीं करते। वे लोग विदेशो मे जाकर वहां की शिक्षा प्राप्त करने लगे। शिक्षा में वे अंग्रेजों की बराबरी करने लगे, फिर भी उनका मान गोरे चमड़े वालो जितना नही होता था। एशिया के दूसरे विभाग के लोगों ने इस प्रकार का अनुभव प्राप्त नहीं किया।

चीन-वासी विदेशी शक्तियो की बराबरी में आ जाना चाहते थे। वहाँ पर इस समय तक साम्राज्यवाद के साथ-साथ आनेवाली सभी चीजें आ गईं थीं। वह अपनी आर्थिक उन्नति करना चाहता था परन्तु उसके पास रुपये नही थे। विदेशी पूंजीपति अपना रुपया अच्छी से अच्छी शर्तों पर लगाना चाहते

आकांक्षा की दौड़ में चीन

थे। उन्होंने चीन को ऋण दिया। चीनी लोगों ने उन्हीं रुपयों से विदेशी यंत्र मंगाने आरम्भ किये। विदेशी यंत्र के व्यापारियों को अपने सामान की खपत करनी थी इसलिए वे चीन मे यंत्र भेजने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में छोटे पैमाने पर चलने वाले व्यवसाय बंद हो गये। व्यापारिक श्रेणियाँ (Trade guilds) टूट गईं। विदेशी अर्थ-संचालकों से रुपया लेकर कल-कारखाना चलाने वालों का एक दल क़ायम हो गया। इन लोगों की प्रतिद्वंद्विता विदेशी व्यापारियों से चलने लगी। ये लोग विदेशी व्यापारियों के लाभ से जल रहे थे। विदेशी व्यापारी इतना अधिक अन्याय करने लगे थे कि चीनी नौका-श्रयों में ठहरने मे चीनी जहाजों को भी रोक देते थे। देश की रेल और खानों पर उन्हीं लोगों का अधिकार था और वे उससे बहुत अधिक लाभ उठाते थे। इतना होते हुए भी विदेशियों के प्रतिद्वंद्वी चीनी व्यापारी अपने देश में सुधार नहीं होने देना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि चीन दृढ़ और सगठित हो और नये ढंग की शासन-प्रणाली प्रस्थापित कर विदेशी महाशक्तियों से टक्कर लेने योग्य बन जाय। फिर भी वे विदे-शियों से घृणा करते थे। विदेशी आक्रमण से देश को बचाना चाहते थे। पीटर के साथ अपनी तुलना करनेवाले क्वांगसू नामक चीनी सम्राट् ने देश में सुधार करना चाहा। उन्होंने चीन को पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने के लिए ख़रीता निकाला। चीन इस समय अन्धकार में था। वह नहीं जानता था कि उसकी उन्नति का वही मार्ग है। वहां वालों ने उसका विरोध किया और उपर्युक्त प्रकार के चीनी देशी व्यापारियों ने

कुल्हाड़ी की मूठ

विरोधियों का साथ दिया। इस प्रकार वे स्वयं अपने देश को नष्ट करने में 'कुल्हाड़ी की मूठ' बन गये।

चीन-वासी विदेशियों की आतंक-दायिनी नीति से अवश्य ही घबड़ा गये थे। वे समझ गये थे कि युरोपीय शक्तियाँ समझने लगी है कि चीन अब इस योग्य हो गया है कि सभी महान् शक्तियाँ मिलकर उसे बाँट ले; उसकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी जाय। इसके खिलाफ उन्हे क्रान्ति करनी थी परन्तु विदेशियों की नीति अपनाकर अपना हित साधने की उन्हें नहीं सूझी। उन्होंने घूँसे के बल पर विदेशियो को निकाल देना चाहा। १८९६-९९ तक की छीना-झपटी से चीन-वासी बहुत दुखी हो गये थे। विदेशियो ने वहाँ पर जहाँ-जहाँ रेलें बनवाई थीं, खानें खोदी थीं और बन्दरो आदि में अधिकार प्राप्त किये थे उनके कारण उन स्थानों पर चीनियों में विदेशियो के प्रति अधिक घृणा उत्पन्न हो गई थी।

'बाक्सर'-विद्रोह

विदेशियों के कट्टर विरोधी, तलवार के बल से विदेशियों को निकाल देने की इच्छा रखनेवाले लोगों को ही युरोपियन 'बॉक्सर' कहा करते थे। शारीरिक शक्ति के वल पर ही बॉक्सर विदेशियों को निकालकर अपने देश की और देशों के बराबर उन्नति करना चाहते थे। तत्कालीन राजमाता जू-ह्शी (Empress Dawager) ने भी उन लोगों का साथ दिया। उसने बॉक्सर आन्दोलन के संचालक यूचुंग नामक एक राजकुमार को राज्य का अधिकारी चुना। यूचुंग के पिता राजकुमार तुआन अच्छी तरह समझते थे कि फ्रांस, रूस, जर्मनी और ग्रेटब्रिटेन उनके देश को निगल जाना चाहते हैं। सेनापति यूनशिकाई ने भी

विद्रोहियों का ही साथ दिया। इसी समय सभी प्रान्तीय गवर्नरों के पास सूचनाएँ भेज दी गई कि चीन में शीघ्र ही विदेशियों का क़त्लेआम होने वाला है। १३ जून १९०० को यह बाक्सर-विद्रोह आरम्भ हुआ। रेल की लाइनें तोड़ी गईं, तार के खंभे उखाड़ फेंके गये और विदेशियो की सम्पत्ति लूटी और जलाई जाने लगी, विदेशियों की क़ब्रो तक से लाशें उखाड़कर फेंक दी जाने लगीं। लगातार कई दिनों तक विदेशियो की हत्या होती रही। विदेशी स्त्री-बच्चे आ-आकर विदेशी राजदूतावासों में शरण लेने लगे। इस समय ६००० विदेशी और चीनी ईसाई इन राजदूतावासों में छिपे थे। इसी समय रास्ते पर ही जर्मन राजदूत वैरन वानकटलर को एक मंचू अफसर ने मार डाला। अगस्त के महीने मे विदेशियो की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सेना (जापान की दस हजार, रूस की चार हजार, ब्रिटेन की तीन हजार, अमेरिका क दो हजार और कुछ फ्रान्स और जर्मनी की सेनाएँ) विद्रोह दबाने के लिए भेजी गईं। यह मुसलमानों के जेहाद और रूसी लोगों द्वारा यहूदी लोगो पर किये गये आक्रमण से बढ़कर था। इस सेना ने बाक्सर-विद्रोह को दबा दिया और पेकिंग पर अधिकार कर लिया। इन विदेशी सैनिकों ने पेकिंग मे खूब लूट-मार मचाई। वहां की वैधशाला के सभी बहुमूल्य यंत्र जर्मन सैनिकों ने लेकर जर्मनी भेज दिये। जर्मन-सरकार को भी इस लूट

पराजित चीन की लूट

के माल को अपनाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। विजयी युरोपीय शक्तियों ने चीन के सामने अपनी मनमानी शर्तें पेश कीं। उन्होने अपने लिए बहुत-सी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कं।

विद्रोहियों को दण्ड दिये जाने के सिवा चीन पर ३२५००००००० डालर हर्जाने की रकम लाद दी गई। प्रायः सभी शक्तियों ने चीन को अपना कर्जदार बना रक्खा था इसलिए उन्हे आशा थी कि उनके साथ चीन और भी रियायत करेगा और अपने देश में उनके लिए अनेक प्रकार के आर्थिक सुभीते कर देगा। विदेशी शक्तियां ऋण की रकम लाद कर चीन को सदा अपनी गुलामी मे रखने का प्रयत्न कर रही थी। मई के महीने मे चार रुपये सैकड़े सूद की दर से चालीस वर्ष के वादे पर चीन पर एक और बहुत बड़ी कर्ज की रकम लाद दी गई। चीन मे विदेशियो के जितने राजदूतावास थे वे सब एक स्थान पर कर दिये गये और उनके चारो ओर किलेवन्दी कर दी गई और उसकी रक्षा के लिए सैनिक नियुक्त कर दिये गये। चीन ने संसार के और राष्ट्रों की बराबरी करनी चाही थी परन्तु वह और भी नीचे ढकेल दिया गया।

स्वार्थ की प्रबलता

इसी समय युरोपीय राष्ट्रो मे कुछ ने आपस मे, और चीन के साथ भी, कुछ ऐसी गुप्त सन्धियाँ करली थी जिनके द्वारा केवल उनका ही निजी लाभ हो सकता था। दूसरी शक्तियाँ उनके लाभ में हिस्सेदार नहीं बन सकती थीं। इंग्लैंड और जर्मनी मे समझौता हो गया था कि वे दोनों चीन में एक ही नीति से काम लेगे। इस समय विदेशी राष्ट्रो के आपस में मतभेद रहने के कारण उसका बँटवारा नहीं हो सका। १५ मार्च १९०१ को जर्मन पार्लमेण्ट मे चांसलर बूलो ने कहा था—"जर्मनी ऐसी शक्तियो में है जो चीन में केवल व्यापारिक अधिकार चाहती हैं। इसीलिए उसने ग्रेटब्रिटेन से

समझौता किया। जर्मनी को शॉटुंग, वेईहाई, वेई, शांघाई, हाँग-कॉग आदि की चिन्ता नहीं। 'मंचूरिया से उसका कोई मतलब नहीं। वह केवल यही चाहता है कि चीन का बंटवारा न होजाय जिससे आय-मार्ग बन्द हो जाय और ऋण की वसूली में बाधा पहुँचे।" यही नीति सब यूरोपीय राष्ट्रों की थी। उन्हे केवल अपने ही लाभ का ध्यान रहता था; कोरिया की स्वतंत्रता नष्ट होने से अथवा मंचूरिया में चीन के अधिकार छिन जाने से उन्हे कोई मतलब नही था। युरोपीय राष्ट्रो की सभी स्थानों पर केवल यही नीति रही है कि उनका अपना स्वार्थ सिद्ध होता जाय।

बाक्सर क्रान्ति के बाद युरोपीय राष्ट्रों ने लोगों में यही भाव भरने की चेष्टा की कि बॉक्सर लोगों ने निर्दोष विदेशी लोगों की, खासकर पादरियों की, हत्या की थी इसीलिए उन्हे दबाया गया है। हम विदेशी लोग चीन में वे ही कार्य कर रहे हैं जिसे करने का सन्धियों द्वारा अधिकार प्राप्त हुआ है और उन्ही बातों का प्रचार कर रहे हैं जिनसे चीनियों का ही हित-साधन होता है। इस प्रकार के स्वार्थ-त्याग का बहाना कर उस समय विदेशी अपना हित-साधन कर रहे थे जिस समय एशिया घोर निशा मे सो रहा था। ऐसा मालूम होता था मानों अधिकारों का सारा ठेका गोरो के ही नाम लिखा गया है और दूसरों को ईश्वर ने उनकी दासता करने के लिए ही बनाया है।

आत्म-निष्ठा का अभाव

इस समय सारे एशिया में यह भाव दृढ़रूप से जम गया था कि गोरे चमड़ेवाले राष्ट्र एशियायी राष्ट्रों से कभी हार ही नहीं सकते। जब कभी संघर्ष होगा, काले, भूरे अथवा पीले चमड़ेवालों

की हार निश्चित है। गोरे चमड़े वालों की युद्ध-विषयक सामग्रियों तथा धन की चमक से एशियायी राष्ट्र ऐसे चकाचौंध में पड़ गये थे कि उनकी आंखें मुंद गई थीं और वे गोरे लोगों की हार होने का अनुमान भी नहीं कर पाते थे। इस अन्धकार में साम्राज्यवादियों का कार्य बहुत जोरों से चल रहा था। एशियायी राष्ट्र दिन-दिन हतोत्साह तथा गुलाम दिमाग़ के होते जाते थे। उनमें किसी प्रकार की भी हलचल नहीं हो रही थी। वे चुपचाप नींद ले रहे थे। उनकी नींद तभी टूट सकती थी जब उनमें आत्मविश्वास का भाव आता। जबतक आत्मविश्वास का भाव उनमें न हो, तबतक उन्हें विश्वास नहीं हो सकता था कि हममें भी शक्ति है जिसे बढ़ाकर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वे क्रान्ति के लिए उठकर खड़े नहीं हो सकते थे।

आत्मविश्वास आने का एक ही मार्ग था। वह था गोरों का किसी प्रकार एक बार रंगीन चमड़ेवालों से हार जाना। इसके बिना उनकी आंखें नहीं खुल सकती थीं। परन्तु इस बात को न केवल एशिया के वरन् सारे संसार के लोग असम्भव समझते थे।

[४]

पौफट : रूस-जापान युद्ध

असम्भव भी कभी-कभी सम्भव हो जाता है। एक ही प्रकार के कार्य यदि बार-बार होते जाते हैं तो उसके विपरीत घटना घट जाने की आशंका नहीं की जाती, परन्तु ऐसी घटनाएँ कभी-कभी घट जाती हैं और लोगो को आश्चर्य मे डाल देती है। अभी तक लोग यही समझते थे कि किसी भी एशियायी राष्ट्र का किसी युरोपीय राष्ट्र पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। रूस-जापान युद्ध मे जापान की विजय ने लोगों की यह धारणा नष्ट कर दी।

रूस की महत्वाकाक्षा

बाक्सर युद्ध का बहाना बतलाकर चीन के बँटवारा कर लेने के खिलाफ ग्रेट-ब्रिटेन, जर्मनी और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने आवाज उठाई थी। रूस ने उन राष्ट्रों की बातें नहीं मानी। लड़ाई के समय मंचूरिया मे उसने जो सेना भेजी थी उसे वापस नहीं बुलाई। वह सेना मंचूरिया और लियाओटंग प्राय-द्वीप में उत्तरोतर आगे ही बढ़ती गई और पोर्टआर्थर पर किलेबन्दी कर जापान को चुनौती देने लगी। इतना ही नहीं रूस ने ट्रांससाइबेरियन रेलवे तैयार करके कोरिया की यालू नदी के तट पर अपने पैर जमा लिये और जापान के ठीक सामने मेसेनपो बन्दर को जहाजी बेड़ों का अड्डा बनाने के उद्देश से कोरिया ले लिया।

बाक्सर—विद्रोह के दूसरे ही साल रूस की यह कार्रवाई देखकर ग्रेटब्रिटेन, जापान और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने उसका विरोध किया। फ्रांस और जर्मनी चुप बैठे रहे क्योंकि रूस के लाभ में उनका भी लाभ सम्मिलित था। रूस ने उपर्युक्त तीनों शक्तियों के विरोध की परवा नहीं की। वह मंचूरिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ट्रांस-साइबेरियन रेलवे बनाकर और जिन भागों से होकर वह रेल गई थी उन भागों में सब प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट न हुआ वरन् सारे मंचूरिया, कोरिया और लियाओटंग पर कब्जा जमाने की ताक में रहने लगा। उसने मकदन से होते हुए पोर्टआर्थर तक रेल बनाने का अधिकार प्राप्त कर लेने पर एक गुप्त सन्धि द्वारा शीनशीन में बस्ती बसाने का अधिकार प्राप्त किया। १९०१ में वह मंचूरिया और चिली से सेना न हटाकर चीन के साथ एक गुप्तसन्धि करने की योजना करने लगा। उस गुप्तसन्धि में जो मांगें पेश की गई थीं उनका साफ मतलब था कि पेट्रोग्राड से पेकिंग तक सारा अधिकार रूस का हो जाय। १९०२ की जनवरी में ग्रेटब्रिटेन को रूस का भय होने लगा। रूस मध्य एशिया की ओर बढ़ रहा था जिससे भारतवर्ष पर भी अंग्रेजों के लिए खतरा था। वह मंचूरिया के दक्षिण की ओर बढ़ता जा रहा था; उससे अंग्रेजों को यांगत्सीकियांग घाटी का डर होने लगा। दूसरी ओर जापान रूस से अलग ही चिढ़ा था। चीन-जापान युद्ध में जापान के विजयी होने पर भी उसे विजय के पूरे-पूरे लाभ उठाने देने में

अन्य राष्ट्रों की चिढ़

खास बाधा रूस ने ही पहुँचाई थी। रूस ने जिस कार्य के करने से जापान को रोका था उस कार्य को वह खुद ही करने लगा। उस युद्ध के बाद रूस ने भी कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार की थी परन्तु फिर भी वह कोरिया के मामले में हस्तक्षेप करने से बाज नहीं आता था। इस समय जापान ने देखा कि जब वह चीन में अपना पैर जमाना चाहता था उस समय तो युरोपियन शक्तियों ने बीच में पड़कर उसे रोक दिया परन्तु अब रूस को आगे बढ़ने देने में कोई भी बाधा नहीं पहुँचाता। फ्रांस इस समय चुप बैठा था। इसका कारण यह था कि वहाँ के पूंजीपतियों को दृढ़ विश्वास था कि रूस मंचूरिया में जो आर्थिक लूट मचावेगा उसके लाभ का बड़ा अंश उनके ही हाथों में आयगा क्योंकि उनकी बहुत-सी पूंजी रूस में लगी हुई थी। जर्मनी यह सोचकर चुप बैठा था कि रूस को मंचूरिया में ज्योंही नया अधिकार मिलेगा वह उसकी नजीर पेश कर शांटुंग में अपने लिए अधिकार प्राप्त कर लेगा।

रूस के आगे बढ़ने से अंग्रेजों को भय था। जापानियों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्हे या तो रूस से लड़ना था अथवा उसे पूर्वी एशिया मे सर्वप्रधान शक्ति बन जाने देना था। इन्हीं कारणों से १९०२ की फरवरी मे ग्रेटब्रिटेन और जापान में मित्रता होगई। उनकी परस्पर मित्रता की शर्तों में यह विश्वास दिलाया गया था कि न तो चीन की स्वतंत्रता ही नष्ट की जायगी और न उसका अङ्ग-भंग ही किया जायगा। वहांपर व्यापार करने का सभी लोगों को समान अधिकार रहेगा। इसी मित्रता की सन्धि मे यह भी

जापान का विरोध

तै हुआ था कि उन राष्ट्रों के पूर्वी एशिया और भारतवर्ष के अधिकारों पर कोई भी राष्ट्र आक्रमण करेगा तो वे लोग एक-दूसरे की सहायता के लिए लड़ेंगे। इस सन्धि से यह स्पष्ट हो गया था कि यदि रूस-जापान युद्ध हुआ तो उसमे रूस की सहायता फ्रांस नहीं कर सकेगा। जापान का बल इस सन्धि से बहुत बढ़ गया। साम्राज्यवादियो के संघर्ष के दो ही परिणाम होते हैं, या तो वें आपस में मिल जाते हैं वा लड़ाई छेड़ देते है। साम्राज्यवादी रूस के साथ जापान का संघर्ष था। अंग्रेजो के साथ सन्धि हो जाने पर जापान ने रूस के साथ लड़ाई करने की नीति को अधिक उपयोगी समझा।

८ अप्रैल १९०२ को रूस और चीन के समझौते पर दस्तखत हो गया। चीन के जिम्मे यह कार्य सौंपा गया था कि वह रेल के प्रबन्ध का अधिकार रूसियों को दे दे और भविष्य में बिना रूस की मंजूरी के किसी दूसरी शक्ति को मंचूरिया में रेल बनाने का अधिकार न दे। रूस की यह भी इच्छा थी कि गुप्त सन्धि द्वारा यह भी तै हो जाय कि मंचूरिया की रेल और कुल खानों का अधिकार और प्रबन्ध रूसियो के रूसी-चीनी बैंक के अधिकार में चला जाय परन्तु यह बात सभी शक्तियों को विदित हो गई और रूस इसमें सफल नही हो सका। इसी साल गुप्तसन्धि द्वारा यह भी निश्चय कर लिया गया कि मंचूरिया में रूसियों के अतिरिक्त और कोई विदेशी राष्ट्र व्यापार नहीं कर सकेगा। इस समय रूस मंचूरिया से अपनी सेनाएँ न हटाने के बहाने कर रहा था। उसने सेना तो हटाई ही नहीं उल्टे आर्थर बन्दर में अपनी जल तथा स्थल सेना का प्रदर्शन किया और मकदन में और भी सेना ला रखी।

जापान रूस की कार्रवाई से चौंक पड़ा। चीन-जापान युद्ध के बाद पूर्वी एशिया में जापान एक महाशक्तिशाली राष्ट्र बन गया था। उसी युद्ध के बाद उसने समझ लिया था कि बिना आर्थिक बल बढ़ाये सैन्यबल नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसी युद्ध के बाद से उसने अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाकर १८०००० सैनिक प्रस्तुत और ६००००० ऐसे तैयार कर रखे जो आवश्यकता पड़ने पर लड़ने के लिए भेजे जा सकते थे। यह शक्ति उसकी पहली शक्ति की अपेक्षा दूनी थी।

रूस की बढ़ती जापान के लिए बहुत ही खतरनाक थी। जापान उससे अपनी रक्षा करना चाहता था और रूस से बदला लेने का भाव भी उसके भीतर उमड़ रहा था। इन दो भावों से भर जाने के कारण उसके बल की सीमा नहीं रही। अंग्रेजों के साथ मित्रता हो जाने से उसे इस बात का भी विश्वास हो गया था कि रूस के साथ युद्ध छिड़ जाने पर उसके खिलाफ शक्तिशाली युरोपीय राष्ट्रों का गुट्ट नहीं बन सकेगा। इन्हीं विचारों से भरकर उसने १९०३ मे रूस को मंचूरिया से सेना हटा लेने के लिए कहा। रूस को यह भी कहा कि यदि वह जापान के कोरिया के मामलो मे हस्तक्षेप करने तथा कोरिया से मंचूरिया और पूर्वी चीन को मिलाते हुए रेल बनाने के अधिकार को मान लेगा तो वह भी मंचूरिया के अधिकांश भाग मे रूस का अधिकार मान लेगा।

युद्ध का शखनाद

रूस की ओर से सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर उसने और अधिक विलम्ब करना उचित नहीं समझा। उसने सोचा कि रूस से एक न एक दिन

तो लड़ना ही पड़ेगा फिर ऐसे ही समय क्यों न लड़ लिया जाय जब शत्रु पूर्णरूप से लड़ने के लिए तैयार नहीं है ! उसने ८ फरवरी १९०४ को लड़ाई छेड़ दी। बाहर से देखने से मालूम पड़ता है कि जापान ही आक्रमणकारी था परन्तु बात वैसी नहीं थी। लड़ाई के लिए रूस ही जिम्मेदार था। उसने ही जापान को लड़ाई करने के लिए मजबूर किया था। शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने के लिए ही जापान ने आक्रमण किया था।

जापान की शक्ति रूस की अपेक्षा कहीं कम थी परन्तु रूस की असुविधाएँ जापान की सुविधाएँ थीं। रूस लड़ाई में अपनी पूर्ण शक्ति का परिचय नहीं दे सकता था। रूस के लोग यह नहीं समझ पाते थे कि यालू नदी के तट पर कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए इतनी बड़ी लड़ाई क्यों लड़ी जाय। रूस मे उस समय क्रान्ति की आग धधक उठी थी जिसे दबाने के लिए देश मे ही शक्ति लगाने की आवश्यकता थी। वह उस समय लड़ने के लिए तैयार नहीं था।

लड़ाई में रूसी बेड़े डुबाये जाने लगे। उनके ब्लाडीवास्टक वाले बेड़े ने जापान-सागर पर कई आक्रमण किये परन्तु सफल नही हुआ। जापानियों ने सारे समुद्र को अधिकार मे रखा और कोरिया पर अधिकार करके मंचूरिया में रूसियों पर आक्रमण करने की तैयारी करली। उनकी विजय पर विजय होती गई। १ जनवरी १९०५ को उन्होंने अजेय दुर्ग आर्थर बन्दरवालों को भी आत्मसमर्पण कर देने के लिए बाध्य किया। मकदन की लड़ाई में रूसी सेना बुरी तरह परास्त हुई और युरोप के रास्ते से छत्तीस जहाजों का रूसी बेड़ा भी नष्ट कर दिया गया।

जापान भी लड़ाई के खर्च से तबाह हो चुका था। उसके पास भी उतनी शक्ति नहीं बची थी कि रूस के भीतर घुसकर लड़ाई करे। रूस भी भीतरी झगड़ों के भीषण रूप धारण कर लेने के कारण बहुत तबाह हो गया था। वह भी सन्धि कर लेना चाहता था। अन्त में जर्मनी और अमेरिका के प्रयत्न से दोनो राष्ट्रो के बीच पोर्टस्माउथ में सन्धि हो गई। सन्धि-पत्र पर ५ सितम्बर १९०५ को दस्तखत कर दिये गये। इस सन्धि के अनुसार रूस ने यह स्वीकार किया कि कोरिया में जापान के सर्वप्रधान अधिकार और स्वत्व हैं। उसे आर्थर बन्दर का पट्टा, डाल्नी, लियाओ टंग प्रायद्वीप तथा दक्षिणी मंचूरिया की रेलो और खानों के सम्बन्ध के सभी अधिकार जापान को दे देने पड़े। सघेलियन टापू का दक्षिणार्द्ध भाग भी दे देना पड़ा। रूसी प्रशांत महासागर में मछली मारने का अधिकार जापान को मिला। यह भी तय हो गया कि मंचूरिया को रूस खाली कर दे और उसपर चीन का अधिकार रहे। वहां की रेलादि की रक्षा के लिए जापान और रूसी सेना कितनी-कितनी संख्या में रखी जा सकेगी इसका भी निश्चय हो गया। इस सन्धि-द्वारा जापान जो चाहता था वह उसे मिल गया। चीन से युद्ध करने के बाद लगातार बारह वर्षों तक जापान ने इस बात के लिए सिरतोड़ परिश्रम किया था कि वह चीन, मंचूरिया और कोरिया से रूस को निकाल दे। इसी उद्देश की सिद्धि के लिए उसने अपनी सेना तथा शक्ति बढ़ाई थी। अन्त मे वह सफल हुआ। जापान की निगाह एशिया में रूस के अधीनस्थ और किसी देश पर नहीं थी। साइबेरिया

जापान की विजय

और मेरिटाइम बहुत ठंडे स्थान थे, उसके लिए वे व्यर्थ-से ही थे। पूर्वी एशिया में जापान सर्वशक्तिशाली राष्ट्र हो गया।

रूस के साथ लड़ाई में विजय प्राप्त करने पर जापान की गणना संसार के बड़े राष्ट्रों मे होने लगी। १९०५ के अगस्त मे उसकी अंग्रेजों के साथ मित्रता की सन्धि दुहराई गई। इस बार की सन्धि में निश्चित हुआ कि कोई भी राष्ट्र (पहले था दो राष्ट्र) यदि मित्र राष्ट्रों के पूर्वी एशिया और भारतवर्ष के अधिकारो में हस्तक्षेप करेगा तो वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। पहली सन्धि में चीन और कोरिया के स्वातंत्र्य-रक्षण की बात थी; इसमें रखा गया कि जापान को कोरिया की रक्षा, संचालन और नीति निर्धारित करनेका अधिकार रहेगा। कोरिया में सबसे अधिक अधिकार जापान का है। पूर्वी एशिया मे शांति स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जापान अपने उन अधिकारो की रक्षा के लिए कोरिया में अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करे। अब जापान कोरिया के विषय मे चाहे जो कर सकता था। रूस के साथ भी मित्रता हो जाय इसलिए जापान ने कोरिया और दक्षिण मंचूरिया का अधिकार लिया और रूस को उत्तरी मंचूरिया में सफेद-स्याह करने का अधिकार दिया।

कोरिया मे अपनी साम्राज्यवादी नीति काम में लाने में अब जापान के लिए कोई बाधा नही रह गई। वह देश जापानी सेनाओ द्वारा अधिकार मे लाया गया। जापानी अफसर ही वहाँ का राज्य-कार्य सम्हालने लगे फिर भी कोरिया के सम्राट नामसात्र के सम्राट कहलाते ही रहे। दिन-दिन जापान उस पर अपना प्रभुत्व

जापान कोरिया का भाग्य-विधाता

बढ़ाता गया और अन्त में १९१० में उसने कोरिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। जापान के इस प्रकार के कार्य को विशेष बुरा नहीं कहा जासकता। उसने वही किया जो अन्य युरोपीय राष्ट्र कर रहे थे। यह साम्राज्यवादी नीति का स्वाभाविक परिणाम था। उसने अपने आपको और साथ ही एशिया के कुछ देशों को युरोपियन शक्तियों के अधिकार में जाने से रोक लिया और उन-पर उनका अधिकार होने के पहले अपना अधिकार कर लिया। एशिया के अन्य दुर्बल राष्ट्रों को जिस दुरवस्था में युरोपियनो ने पहुँचा दिया था यदि जापान यथेष्ट बलवान न हो गया होता और युरोपियनों की साम्रज्य-लोलुपता का ज्ञान प्राप्त करके अपनी पर-राष्ट्रीय नीति अपने ही हाथों में नहीं रखता तो कोरिया भी उसी दुरवस्था में पहुँचा दिया जाता। जापान को इस बात का भय था कि कहीं रूस अथवा ग्रेट ब्रिटेन का कोरिया पर कब्जा न हो जाय इसीलिए उसने कोरिया के कामों में हस्तक्षेप किया और अन्त में अपने अधिकार में कर लिया।

युरोप से जो कुछ भी सीखना था जापान ने अर्द्ध शताब्दी में सीख लिया और युरोपियनों के अस्त्र से ही एक युरोपीय राष्ट्र को हरा दिया। जापान भौतिक रूप में युरोपीय राष्ट्रों के ही समान हो गया। उसकी फैक्टरी, असन्तुष्ट मजदूर वर्ग, पूंजीपति, स्थल-सेना, जल-सेना, राज्यव्यवस्था और क़ानून आदि सभी चीजें पश्चिमीय सभ्यता की ही नकल हैं।

रूस-जापान युद्ध ने वह समय ला दिया जिस समय एशिया के समस्त राष्ट्र समझने लगे कि उनकी घोर निशा का भी अवसान हो सकता है। जापान ने इसका उदाहरण उपस्थित कर दिया। इस युद्ध ने समस्त एशियावासियों की आँखें खोल दीं।

[५]

आँखें खुलीं !

रूस-जापान युद्ध में समस्त एशिया-निवासियो ने केवल जापान का ही रूस पर विजय करना नही वरन् एशियायी लोगों का युरोपियनो पर विजय प्राप्त करना समझा। पोर्ट्समाउथ की सन्धि से उतने बड़े परिवर्तन नही हुए जितने एशियावासियों के दिमाग़ में इस युद्ध के फल-स्वरूप हुए। इस युद्ध ने एशियावासियों के जीवन में एक नया युग आरम्भ कर दिया। इस युद्ध ने युरोपीय लोगों में पुश्तैनी श्रेष्ठता के वीज रहने की वात भ्रान्ति-मूलक सिद्ध कर दिखाई। लोगों की यह धारणा जाती रही कि गोरे अजेय है; उनका रंगीन चमड़ेवालों से हार खाना भी सम्भव हो गया।

जापान की विजय को एशियावासियो ने अपनी विजय समझा, इसलिए उन लोगो में इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप आत्मविश्वास का भाव आगया। वे सोचने लगे कि ग़ुलामी का ठेका उनके ही भाग्य में नहीं लिख दिया गया है; उनमें भी शक्ति है। यदि वे उस छिपी हुई शक्ति का विकास करे तो अवश्य ही उन्नत हो सकते हैं और संसार के किसी भी समुन्नत राष्ट्र की कोटि में गिने जा सकते हैं। इस समय सारे एशिया से एक ही प्रकार की आवाज़ उठ रही थी। वह थी 'एशिया एशियावासियों

'एशिया एशियावासियों के लिए

के लिए है।' कुछ ही वर्षों पहले जापान भी उसी अवस्था में था, जिसमें एशिया के और राष्ट्र थे। जापान ने जिस रास्ते से उन्नति की है दूसरे राष्ट्र भी उन्नति कर सकते हैं। सभी एशियायी राष्ट्रों में यही भाव भर रहा था कि जो कार्य जापान ने कर दिखलाया है वही चीन, तुर्की, भारतवर्ष अथवा अन्य एशियायी राष्ट्र भी करके दिखला दे सकते हैं।

इस समय तक विजेताओं ने लोगों को कायर बनाने के लिए जो-जो पाठ पढ़ाये थे लोग उन्हे भूलने लगे। विजेताओं की सभी दलीलें उन्हें बिलकुल झूठी दिखलाई पड़ने लगीं।

भ्रम टूटा

अब वे लोग विजेताओं के बल-प्रयोग द्वारा किये गये अधिकार को उचित अधिकार मानने के लिए तैयार नहीं थे। पुराने शासकों के साथ विदेशी लोगों ने जो नाजायज़ सन्धियां की थीं उन्हें मानने के लिए वे अपने को बाध्य नहीं समझते थे, क्योंकि वे सन्धियां प्रजा वर्ग से पूछकर नही की गई थीं। संसार के दूसरे देशों ने भी उन सन्धियों को मान लिया है, इसकी भी उन्हे परवा नहीं थी। लोग समझने लगे कि शासकों को अपनी प्रजा का भाग्य-निर्णय करने का कोई अधिकार नही था। उन लोगों को कोई अधिकार नही था कि विदेशियों के हाथ अपना देश बेच दें। प्रजा का अपने देश पर पूर्ण अधिकार रहता है और उस अधिकार से उसे कोई भी वंचित नही कर सकता। इस समय से लोगों की समझ मे यह बात आने लगी कि विदेशी शासन विदेशी लोगों के हित के लिए ही हुआ करता है। विदेशी शासक देशी लोगों से रुपया वसूल कर उसी रुपये से उन्हें दबाये रखने के लिए बहुत बड़ी-

बड़ी सेनाएँ रखते हैं। अब लोगों को विदेशियों के खिलाफ क्रान्ति कर देने में अपना नैतिक पतन नहीं मालूम पड़ता था। इस समय से वे डाकुओं को अपना राजा मानने के लिए तैयार नहीं थे। क्रान्ति हो जाने पर विदेशी लोगो की पूँजी डूब जायगी, इसकी भी उन्हें परवा नहीं थी। विदेशी लोगों ने अपनी ही जिम्मेवारी पर उन देशों में पूँजी लगाई थी। उन राष्ट्रो को जो ऋण दिया गया था वह बिना प्रजा वर्ग की सम्मति लिए ही दिया गया था इसलिए वे उस रकम के जिम्मेवार नहीं हो सकते। विदेशी लोगों ने ऋण का बहुत अधिक बोझ तो केवल यही समझकर लादा था जिसमे विजित देश पर उनका अधिकार अधिक दिनों के लिए दृढ़ होजाय। उन्हीं देशों से रुपये उपार्जन कर उन्हीं लोगों को ऋण-रूप मे दिये गये हैं; वैसे ऋण तो यदि न वसूल हो सकें तभी ठीक है। अब लोग समझने लगे कि विदेशी लोगों ने देश में रेल, तार, कल, कारखाने आदि जितने भी सुधार किये है सभी अपने ही लाभ की दृष्टि से किये हैं; विजित देशों को उनसे कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। विजेताओ के पहुँचने के पहले वे कही अधिक सुखी थे। जबतक युरोपियन नहीं पहुँचे थे उन देशों में उतने अकाल नहीं पड़ते थे, भूखे आदमी जूठी पत्तलों पर कुत्तों के ही साथ नहीं टूटा करते थे।

स्वतंत्रता में ही गति है

जापान विदेशी लोगों के कब्जे में नहीं था यही उसके उन्नति करने का मूल कारण था। विदेशी कहते हैं कि देशी लोगों की उन्नति के लिए ही उनका राज्य है, यदि ऐसी ही बात होती तो जापान की बराबरी में दूसरे देशों ने किसी भी क्षेत्र में क्यों न

उन्नति करली; कुछ देर के लिए मान भी लिया जाय कि विजित देशों कीउन्नति हुई है फिर भी तो उन्हे यही कहा जाता है कि वे अपना·राज्य आप चलाने के योग्य नहीं है। जिस जाति को अपना शासन आप करनेका अवसर नही मिलता वह कभी अपना शासन चलाने में केवल विदेशियों से सीखकर ही समर्थ नहीं हो सकती। पराधीन रहकर कोई देश कितनी भी उन्नति क्यों न करले वह न तो नैतिक उन्नति कर सकता है, न उच्च सभ्यता सम्पादित कर सकता है और न अपने आत्मसम्मान की रक्षा ही कर सकता है। विदेशियों को यदि अपने ही देश-जैसा दूसरे देशो को भी समुन्नत बनाना होता तो वे अपने देश-जैसी व्यवस्था विजित देश में भी करते। विदेशियो के निजी देशों मे सब लोगों को मत देने का अधिकार दिया जाता है, क़ानून की दृष्टि में सभी समान समझे जाते हैं और वहां पर प्रजातंत्र के सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं परन्तु वैसी बातें विजित देशों मे नही करने दी जातीं। वहां पर तो ऐसी नौकरीशाही क़ायम की जाती है जो उन देशवासियों के सामने उत्तरदायी होने की तो बात अलग रही किसी के भी सामने उत्तरदायी नहीं होती। विजित देशों के अच्छे से अच्छे आदमियो को रुपये अथवा सम्मान के लोभ मे फॉसकर उनसे देश के ख़िलाफ़ कार्य कराया जाता है।

विदेशी शासकों के चले जाने पर देश की कैसी अवस्था हो जायगी इसकी भी चिन्ता लोग नहीं करते थे। पराधीनता की अपेक्षा देश को क्रान्ति की अवस्था में देखना लोग कहीं अच्छा समझने लगे। देश को यदि उन्नति के पथ पर अग्रसर होना है

तो आरम्भ से उसे क्रान्ति की अवस्था पार करनी ही पड़ेगी। संसार मे ऐसा कोई भी देश नही जहाँ बिना अराजकता, गृहयुद्ध और राज्यक्रान्ति के स्वराज्य स्थापित हुआ हो। कोई ऐसा देश नही जहाँ स्वराज्य स्थापित होने के पूर्व बहुत-सी जाने न गई हो और देश की सम्पत्ति नष्ट न हुई हो। किसी भी विदेशी राज्य के शासन में रहकर जिसका धर्म, भाषा, संस्कार सभी भिन्न हों और जो अपने को विजित लोगो से श्रेष्ठ समझता हो कोई भी देश कभी स्वतंत्रता उपभोग करने योग्य नहीं बन सकता। विजित देश के विकास और उन्नति में विदेशी शासन सदा बाधक होता है।

विदेशियो की शिक्षा आदि से लोगों के मनोभावों पर जो प्रभाव हुआ था उसपर भी इस समय बहुत बड़ा आघात पहुँचा। लोगो ने देखा कि जापान स्वतंत्र था इसीलिए वह उन्नति कर सका, और देशो को भी यदि उन्नति करनी है तो उन्हे स्वतंत्र होना चाहिए। इस समय सभी एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि जापान की ही ओर खिची। उसका ही उदाहरण सभी अपने सामने रखने लगे।

जापान की उन्नति का मूल कारण था उसका अपने आपको सबसे पहले पाश्चात्य सांचे मे ढाल लेना। दासत्व से बचने के लिए उसने उचित मार्ग का अवलम्बन किया था। एशियायी राष्टो मे अभी तक केवल जापान का आधुनिक इतिहास ही एक ऐसे राष्ट्र का इतिहास था जो अपनी कमजोरियो को समझता था। उसने शौक से वा चमक-दमक मे ही आकर युरोपियनों की नक़ल नहीं की वरन् उनके शिकार बनने से अपने को बचाने के

उन्नति करली; कुछ देर के लिए मान भी लिया जाय कि विजित देशों की उन्नति हुई है फिर भी तो उन्हें यही कहा जाता है कि वे अपना राज्य आप चलाने के योग्य नहीं है। जिस जाति को अपना शासन आप करनेका अवसर नहीं मिलता वह कभी अपना शासन चलाने में केवल विदेशियों से सीखकर ही समर्थ नहीं हो सकती। पराधीन रहकर कोई देश कितनी भी उन्नति क्यों न करले वह न तो नैतिक उन्नति कर सकता है, न उच्च सभ्यता सम्पादित कर सकता है और न अपने आत्मसम्मान की रक्षा ही कर सकता है। विदेशियों को यदि अपने ही देश-जैसा दूसरे देशो को भी समुन्नत बनाना होता तो वे अपने देश-जैसी व्यवस्था विजित देश मे भी करते। विदेशियों के निजी देशों मे सब लोगों को मत देने का अधिकार दिया जाता है, क़ानून की दृष्टि में सभी समान समझे जाते हैं और वहां पर प्रजातंत्र के सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं परन्तु वैसी बातें विजित देशों मे नही करने दी जातीं। वहां पर तो ऐसी नौकरीशाही क़ायम की जाती है जो उन देशवासियो के सामने उत्तरदायी होने की तो बात अलग रही किसी के भी सामने उत्तरदायी नहीं होती। विजित देशों के अच्छे से अच्छे आदमियों को रुपये अथवा सम्मान के लोभ में फॉसकर उनसे देश के खिलाफ कार्य कराया जाता है।

विदेशी शासकों के चले जाने पर देश की कैसी अवस्था हो जायगी इसकी भी चिन्ता लोग नहीं करते थे। पराधीनता की अपेक्षा देश को क्रान्ति की अवस्था में देखना लोग कहीं अच्छा समझने लगे। देश को यदि उन्नति के पथ पर अग्रसर होना है

तो आरम्भ मे उसे क्रान्ति की अवस्था पार करनी ही पड़ेगी। संसार में ऐसा कोई भी देश नही जहाँ बिना अराजकता, गृहयुद्ध और राज्यक्रान्ति के स्वराज्य स्थापित हुआ हो। कोई ऐसा देश नहीं जहाँ स्वराज्य स्थापित होने के पूर्व बहुत-सी जानें न गई हों और देश की सम्पत्ति नष्ट न हुई हो। किसी भी विदेशी राज्य के शासन में रहकर जिसका धर्म, भाषा, संस्कार सभी भिन्न हों और जो अपने को विजित लोगो से श्रेष्ठ समझता हो कोई भी देश कभी स्वतंत्रता उपभोग करने योग्य नही बन सकता। विजित देश के विकास और उन्नति मे विदेशी शासन सदा बाधक होता है।

विदेशियो की शिक्षा आदि से लोगों के मनोभावो पर जो प्रभाव हुआ था उसपर भी इस समय बहुत बड़ा आघात पहुँचा। लोगो ने देखा कि जापान स्वतंत्र था इसीलिए वह उन्नति कर सका, और देशो को भी यदि उन्नति करनी है तो उन्हें स्वतंत्र होना चाहिए। इस समय सभी एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि जापान की ही ओर खिची। उसका ही उदाहरण सभी अपने सामने रखने लगे।

जापान की उन्नति का मूल कारण था उसका अपने आपको सबसे पहले पाश्चात्य सांचे मे ढाल लेना। दासत्व से बचने के लिए उसने उचित मार्ग का अवलम्बन किया था। एशियायी राष्ट्रो मे अभी तक केवल जापान का आधुनिक इतिहास ही एक ऐसे राष्ट्र का इतिहास था जो अपनी कमजोरियों को समझता था। उसने शौक से वा चमक-दमक में ही आकर युरोपियनों की नक़ल नहीं की वरन् उनके शिकार बनने से अपने को बचाने के

लिए और उनके समान शक्तिशाली होने के लिए ही उनकी नक़ल की। युरोपियनों को श्रेष्ठ समझकर नहीं वरन् समयानुसार अपना वेश परिवर्तन करने की दृष्टि से जापान ने पाश्चात्य विद्या सीखी। जापानियों ने पश्चिम के ढंग पर सैन्य-संगठन किया था; उनके ही समान व्यवसाय, कला-कौशल में वृद्धि की थी, उनकी ही सभ्यता स्वीकार की थी, इसीलिए उसकी विजय हुई।

जापान का अनुकरण

एशिया के दूसरे राष्ट्रों ने भी इस समय जापान का अनुकरण किया। उन लोगो में पाश्चात्य शिक्षा के प्रति आदर का भाव आने लगा! वे उसी प्रकार की शिक्षा में अपना उत्थान देखने लगे। इन राष्ट्रों ने अपने सुन्दर, मधुर अतीत का गर्व करना छोड़ दिया। वे पश्चिमाभिमुख हो गये। उन्हे अब पुरानी बाते अच्छी नहीं लगने लगी। उन्होंने नये जगत् की झलक देखी। वे अब अशोक वा चन्द्रगुप्त के राज्य मे रहने की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में रहना अधिक सुखकर समझने लगे। वे समझने लगे कि पुरानी बातों को मानते हुए चलने में ही उन्नति नहीं है। उन बातों को बिना समझे मान लेने से अवनति होगी। पुराने ख़याल, विचार वा परिपाटियो का यदि इस समय कोई मूल्य है तो उन्हें मानना चाहिए नहीं तो नहीं। अब वे अपने आप से प्रश्न करने लगे कि यदि बहुत से आदमी अनावश्यक कार्य करते हो तो क्या उन्हे भी करना उचित है? एशियायी राष्ट्रों का पहले आदर्श रहता था—'बड़े-बड़े लोगों के पीछे-पीछे चलो, प्राचीन जगत् को फिर से लाओ'—इस समय से उनका आदर्श होने लगा. 'खुद अनुभव [illegible] और नया से नया

युग लाओ ।' अब लोगो को पुराने धर्मग्रन्थो के पढ़ लेने से ही संतोष नहीं होता था । एशियायी लोगों के भीतर से झूठी आध्यात्मिकता का भाव जाने लगा । वे भौतिक जगत् की ओर भी ध्यान देने लगे । पुराने ग्रन्थो में सिर टकराने के बदले लोग इंजीनियरिंग, कानून, सैनिक शिक्षा, विज्ञान, डाक्टरी, रेल चलाने की कला, फोटो खींचना, कपड़े बुनना, साबुन बनाना आदि कलाओं में दक्षता प्राप्त करने की ओर झुके ।

जापान से रूस युद्ध में हार गया तब प्रायः सारे एशिया की आँखें खुल गईं । सभी में पराधीन देशो में अधिकार-प्राप्ति और अपने सर से विदेशी शासन का बोझ उतार फेंकने की इच्छा प्रबल हो उठी । पाश्चात्य शिक्षा ने लोगो के मानसिक जगत् में एकतंत्री और स्वेच्छापूर्ण राज्य के प्रति क्रांति करादी । इसी समय रूस में प्रजातंत्र के विचारों को कार्यरूप मे लाने का प्रयत्न हुआ । रूसकी १९०५ की क्रांति का एशियायी लोगो पर बहुत गहरा असर हुआ । तुर्की, फारस, चीन और भारत-वर्ष मे प्रजातंत्रशासन स्थापित करने के उद्योग चलने लगे ।

तुर्की में इस युद्ध ने महान् परिवर्तन ला दिया । वहां पर 'युनियन ऐण्ड प्रोग्रेस पार्टी' (ऐक्य और उन्नतिदल) की स्थापना हो गई जो अपने देश की रक्षा के लिए सुलतान को गद्दी से उतारने और प्रजासत्तात्मक राज्य क़ायम करने की कोशिश करने लगी ।

फारस मे विधानात्मक शासन स्थापित करने के लिए एक छोटा-सा राष्ट्रीय दल काम करने लगा । इस दल का मुख्य उद्देश अपने देश को विदेशियो के हाथ में जाने देने से बचाना

था। जब से साम्राज्यवाद का चक्र चला था तभी से लगभग सारा फारस रूसी और अंग्रेज साम्राज्यवादियों के यहां एक प्रकार से रेहन की तरह रखा जा चुका था। उन साम्राज्यवादियों ने अपनी ऋण—वसूली के लिए आय के जरियों पर क़ब्जा कर लिया था। उन्हे फारस के हित-अनहित का कुछ भी खयाल नहीं था। रूस-जापान युद्ध के बाद वहाँ के उदार मतवालों को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रीयदल नई—नई आशाएँ करने लगा। अन्त में शाह को झुकना ही पड़ा।

फारस में राष्ट्रीय दल का जन्म

चीन बॉक्सर-उपद्रव से समझ गया था कि पश्चिमीय जगत् से अपना दरवाजा बन्द रखकर वह जीवित नहीं रह सकता। रूस-जापान युद्ध ने उसकी आँखें खोल दीं। वह पाश्चात्य देशों की शासन—व्यवस्था तथा आर्थिक और सेना-सम्बन्धी विशेषता को समझने लगा। उस युद्ध से सब से बड़ी शिक्षा चीन को ही मिली क्योंकि उसी की भूमि पर उन लड़ाइयों का अधिकांश भाग लड़ा गया था। इस समय राजमाता को भी चेत हुआ। उसने भी समझा कि आत्म-रक्षा का सब से बड़ा उपाय पाश्चात्य ढंग स्वीकार करना है। पहले वह पाश्चात्य ढंग के निकालने का जितना प्रयत्न करती थीं इस समय उतना ही प्रयत्न उसे लाने के लिए करने लगी।

चीन में जागृति

रूस-जापान युद्ध के बाद बहुत बड़ी संख्या मे चीनी विद्यार्थी जापान जाने लगे। वहां पर वे भौतिक शास्त्रो का अध्ययन करते थे। बहुत-से विद्यार्थी अमेरिका भी गये। चीनी अमेरिका

को ही और दूसरी विदेशी महाशक्तियों में अच्छा समझते थे। इसका कारण यह था कि शिमोनोसेकी की सन्धि के समय से लेकर पोर्टसमाउथ की सन्धि के समय तक यदि किसी महाशक्ति ने चीन का पक्ष लिया था तो वह अमेरिका था। उसने चीनी विद्यार्थियो को अपने देश में पढ़ने जाने के लिए सुविधाएँ भी दी थीं। बॉक्सर-विद्रोह के बाद उसे हर्जाने की रक़म मे जो भाग मिला था उससे उसने एक ऐसा फंड क़ायम कर दिया था जिससे चीनी विद्यार्थी अमेरिका में जाकर पढ़ सके। विदेश गये हुए विद्यार्थियों ने देखा कि टोकिओ आदि मे कितने ऐसे क्लब (समाज-गोष्ठी)हैं जहाँ पर लोग इकट्ठे होकर शासन-व्यवस्था, शासकों की कार्यवाही आदि की समालोचना खुले आम करते है। मंचू सरकार से वे पहले से ही असन्तुष्ट थे; इस समय उनका असंतोष और भी अधिक बढ़ गया। वाक्सर-विद्रोह के बाद महाशक्तियो मे जो निर्णय अथवा समझौते हुए थे उनसे उन लोगों के सामने स्पष्ट हो गया था कि विदेशी सब अधिकारों को [illegible] मे स्थापित करके फिर उसे टुकड़े-टुकड़े कर बाँट लेना चाहते हैं। जब पेकिंग सरकार ऋण और हर्जाने की रक़मो के बदले अपने देश की आय की भिन्न-भिन्न मदें और साधन व्यापारियो के यहां रेहन रखने लगी, चीन के प्रदेश और बन्दर विदेशियों को सौंपने लग गई और विदेशी लोगों को लूट मचाने की आज्ञा तक देने लग गई तब चीन-वासियों की आँखे खुल गईं। साम्राज्यवाद की सारी चाले लोगों की समझ में आने लगीं। लोगो ने भीषण आर्थिक नाश से अपने देश को बचाना चाहा। वहाँ के नवयुवको ने चीन को

था। जब से साम्राज्यवाद का चक्र चला था तभी से लगभग सारा फारस रूसी और अंग्रेज साम्राज्यवादियों के यहां एक प्रकार से रेहन की तरह रखा जा चुका था। उन साम्राज्यवादियों ने अपनी ऋण—वसूली के लिए आय के जरियों पर क़ब्जा कर लिया था। उन्हे फारस के हित-अनहित का कुछ भी खयाल नहीं था। रूस-जापान युद्ध के बाद वहाँ के उदार मतवालों को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रीयदल नई—नई आशाएँ करने लगा। अन्त में शाह को झुकना ही पड़ा।

फारस में राष्ट्रीय दल का जन्म

चीन बॉक्सर-उपद्रव से समझ गया था कि पश्चिमीय जगत् से अपना दरवाजा बन्द रखकर वह जीवित नहीं रह सकता। रूस-जापान युद्ध ने उसकी आँखें खोल दीं। वह पाश्चात्य देशों की शासन—व्यवस्था तथा आर्थिक और सेना-सम्बन्धी विशेषता को समझने लगा। उस युद्ध से सब से बड़ी शिक्षा चीन को ही मिली क्योंकि उसी की भूमि पर उन लड़ाइयों का अधिकांश भाग लड़ा गया था। इस समय राजमाता को भी चेत हुआ। उसने भी समझा कि आत्म-रक्षा का सब से बड़ा उपाय पाश्चात्य ढंग स्वीकार करना है। पहले वह पाश्चात्य ढंग के निकालने का जितना प्रयत्न करती थीं इस समय उतना ही प्रयत्न उसे लाने के लिए करने लगी।

चीन में जागृति

रूस-जापान युद्ध के बाद बहुत बड़ी संख्या मे चीनी विद्यार्थी जापान जाने लगे। वहां पर वे भौतिक शास्त्रों का अध्ययन करते थे। बहुत-से विद्यार्थी अमेरिका भी गये। चीनी अमेरिका

को ही और दूसरी विदेशी महाशक्तियों में अच्छा समझते थे। इसका कारण यह था कि शिमोनोसेकी की सन्धि के समय से लेकर पोर्टसमाउथ की सन्धि के समय तक यदि किसी महाशक्ति ने चीन का पक्ष लिया था तो वह अमेरिका था। उसने चीनी विद्यार्थियो को अपने देश में पढ़ने जाने के लिए सुविधाएँ भी दी थीं। वॉक्सर-विद्रोह के बाद उसे हर्जाने की रक़म मे जो भाग मिला था उससे उसने एक ऐसा फंड क़ायम कर दिया था जिससे चीनी विद्यार्थी अमेरिका में जाकर पढ़ सके। विदेश गये हुए विद्यार्थियों ने देखा कि टोकिओ आदि मे कितने ऐसे क्लब (समाज–गोष्ठी)हैं जहॉ पर लोग इकट्ठे होकर शासन-व्यवस्था, शासको की कार्रवाही आदि की समालोचना खुले आम करते है। मंचू सरकार से वे पहले से ही असन्तुष्ट थे; इस समय उनका असंतोष और भी अधिक बढ़ गया। वाक्सर-विद्रोह के बाद महाशक्तियो में जो निर्णय अथवा समझौते हुए थे उनसे उन लोगो के सामने स्पष्ट हो गया था कि विदेशी सब अधिकारों को [illegible] मे स्थापित करके फिर उसे टुकड़े-टुकड़े कर बॉट लेना चाहते है। जब पेकिंग सरकार ऋण और हर्जाने की रक़मों के बदले अपने देश की आय की भिन्न-भिन्न मदे और साधन व्यापारियो के यहां रेहन रखने लगी, चीन के प्रदेश और बन्दर विदेशियों को सौपने लग गई और विदेशी लोगो को लूट मचाने की आज्ञा तक देने लग गई तब चीन-वासियों की ऑखे खुल गईं। साम्राज्यवाद की सारी चाले लोगो की समझ मे आने लगी। लोगो ने भीषण आर्थिक नाश से अपने देश को बचाना चाहा। वहॉ के नवयुवको ने चीन को

ठीक उसी प्रकार खोल दीं जिस प्रकार उनके सैन्य आक्रमण ने उनकी सैन्य दुर्बलता के विषय में खोल दी थी। विदेशियों के चंगुल से बचने के लिए वे वर्तमान संसार के लोगो की जीवन-निर्वाह पद्धति का निरीक्षण भली-भाँति करने लगे।

रूस-जापान युद्ध में अंग्रेजों की मित्रता ने जापान को बहुत लाभ पहुँचाया था परन्तु उससे अंग्रेजों का कुछ लाभ नहीं हुआ उल्टे उन्हें हानि ही हुई। जापान की विजय से अंग्रेजों की धाक पर बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। रूस के आक्रमण से अंग्रेजों को उतना धक्का नहीं पहुँचा जितना उसकी हार से पहुँचा। अंग्रेज विद्यालयों में पढ़ने से भारतवासियों को पाश्चात्यजगत् की क्रांतियो के सिद्धान्त मालूम हो गये थे। रूस की १९०५ की क्रान्ति ने उन्हे कार्य-रूप में परिणत करना भी सिखला दिया। सफेद चमड़े वालों की अजेयता का जादू दूर होगया। कुछ ही दिन पहले जो भारतवासी अंग्रेजों द्वारा कुछ थोड़े से अधिकार पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते वे इस समय औपनिवेशिक स्वराज्य लेने पर तुल गये। अब दो-चार ऊँचे-ऊँचे पद उन्हे सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। उनमें भी एशिया के और राष्ट्रों की तरह एक नये प्रकाश का आविर्भाव हुआ था।

एक वाक्य मे यही कहा जा सकता है कि रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने सारे एशिया को अधिकार-प्राप्ति की इच्छा, राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र शासन के मद से मतवाला बना दिया। इस समय से एक नया युग आरम्भ हुआ। इस समय से साम्राज्यवादी राष्ट्रों के एशियायी राष्ट्रों के साथ के व्यवहार बिलकुल ही बदल गये।

नई लहर

इस समय से अपने प्रभुत्व क्षेत्र के लिए झगड़ने वाले राष्ट्रों को और भी अधिक कठिनाई होने लगी क्योंकि एशियायी राष्ट्रों पर से उनकी धाक उठ गई थी। एशियायी राष्ट्रों में नये-नये सामाजिक और राजनैतिक सुधार के भाव आ रहे थे। दूरदर्शी विचारकों ने इसी समय देख लिया था कि साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व एक अतीत की घटना होगई। जापान की विजय ने एशियायी राष्ट्रों को जिन भावों को प्रोत्साहित किया था उनसे क्रांति हुए बिना नहीं रह सकती थी। शिक्षा आदि कार्यों से जितने परिवर्त्तन नहीं लाये जा सकते थे उतने अकेले इस युद्ध से हुए। राष्ट्रों की विचार-धारा में परिवर्तन हो जाना क्रांति की पूर्व सूचना थी।

[६]

क्रान्ति का उषाकाल

संसार के प्रत्येक पदार्थ में मृत्यु का बीज रहता है। आधुनिक साम्राज्यवाद भी इससे वंचित नहीं है।

जागरण

एशियायी राष्ट्रों में पहले राष्ट्रीयता के भाव का अभाव था। साम्राज्यवाद के ही कारण उनमें उसका प्रादुर्भाव हुआ। अधीनस्थ देशों के वे ही शिक्षित स्वतंत्रता आदि के लिए आन्दोलन करते हैं जिन्हे पश्चिम की हवा लगी रहती है। साम्राज्यवादी कितना भी प्रयत्न क्यों न करें अधीनस्थ लोगों को पश्चिम की हवा से अलग रखने मे कभी समर्थ नहीं हो सकते। भारतवर्ष, तुर्की, अरब, फारस, अफ़गानिस्तान, चीन तथा एशिया के और भी छोटे-छोटे राष्ट्रों में अभी जो राष्ट्रीयता का भाव है उसका आविर्भाव कुछ ही दिनो पहले हुआ है। पश्चिमीय सभ्यता ही इस भाव की जन्मदात्री है और युरोपियन साम्राज्यवादी ही इसका बीज एशिया में बोने वाले है। इस राष्ट्रीयता के भाव मे ही साम्राज्यवाद की मृत्यु का बीज है। इसी भाव की प्रेरणा से एशियायी राष्ट्रों में स्वतंत्रता के लिए उमंगें उठने लगीं। वे युरोपीय लोगो के ख़िलाफ उठने लगे और उन्हे आगे बढ़ने से रोकने लगे। राष्ट्रीयता के भाव में सबसे पहली चीज एकीकरण है। जब भिन्न-भिन्न वर्ग के, भिन्न-भिन्न जातियों के लोग एक देश-विशेष को अपना राष्ट्र समझते हैं; जब वे भौगोलिक परिस्थिति को भी

वही स्थान देने लगते हैं जो जाति को देते थे तो समझना चाहिए कि उनमें राष्ट्रीयता का भाव आया है। साम्राज्यवाद का प्रभुत्व, धाक और आतंक एशिया में ज्यों-ज्यों बढ़ता गया एशियायी राष्ट्रों में भी आपस का बन्धन उतना ही मजबूत होता गया; वे अपनी विभिन्नताओं को छोड़कर उतनी ही तेजी से एकसाथ मिलकर शत्रु को दबाने के लिए उद्यत होने लगे और उतने ही जोरों से उनके भीतर युरोपीय लोगों के प्रति घृणा के भाव की अग्नि धधकने लगी। साम्राज्यवादी एशिया को जितना ही जकड़ने का प्रयत्न करते थे एशियावासी उतना ही उससे बिगड़कर उनकी चाल को विफल करने की चेष्टा करते थे।

प्रतिक्रिया की लहर

एशिया के इतिहास में सदा से राष्ट्रीयता के भाव का अभाव रहा है। यहाँ के लोगो की सभ्यता बहुत विकसित थी; उनमे उदारता की मात्रा बहुत अधिक थी। वे किसी देश-विशेष से अपनी एकता न मान कर प्राणिमात्र के साथ एकता के भाव का अनुभव करते थे। उनके नीचे गिरने के भी ये ही कारण हुए। साम्राज्यवाद-द्वारा सख्त चोट पहुँचाये जाने पर उन्हे चेत हुआ। पश्चिमीय विद्या, युद्धकौशल आदि को आसुरी समझते हुए भी उन्होने उसे अपनाया। उन्होने भी निश्चय कर लिया कि शत्रुओं का सामना करते समय उन्हें अपने पुराने 'असभ्य' वा 'आसुरी' रीति-रिवाजो को ही अपनाना चाहिए। युद्ध के मैदान मे उन्हे भी खून का प्यासा हो जाना चाहिए। स्त्री, बच्चों, बूढ़े, कमजोर किसी भी शत्रु को मारने से हिचकना नहीं चाहिए। इससे खून खराबी, दुःख तथा आतंक बढ़ता जाय तो भी परवा नहीं।

शत्रु से बदला लेना ही चाहिए। रूस-जापान युद्ध के बाद सारा एशिया अभूतपूर्व राष्ट्रीयता के भावों से भर गया। लोगों का मन आक्रमणकारी के प्रति ऐसा फिरा कि वे उसके खून के प्यासे हो गये।

विदेशियों के विरुद्ध असन्तोष

विदेशियों के खिलाफ यह भाव कुछ थोड़े-से अखबार निकालने वाले वा इनेगिने राजनीतिज्ञों में ही परिमित न रहकर सभी श्रेणियो के लोगों मे बँट गया। साम्राज्य-वाद ने सभी वर्गों के लोगों को गहरी चोट पहुँचाई थी इसलिए उसके खिलाफ़ सभी क्रांति करने के लिए उद्यत हो गये। क्रान्ति का भाव सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षित समुदाय में ही आया। जनता का भाव आगे जाकर प्रकट हुआ। देशी राजे-महाराजे और धनी लोग जो विदेशियो की अनुकम्पा से किसी-किसी प्रकार अपना खिताब वा जायदाद कायम रखने में सफल हुए थे वे भी युरोपीय लोगों से बहुत चिढ़ने लगे। उनके चिढ़ने का कारण यह था कि वे बिना अपने राज्य-स्थित विदेशी प्रतिनिधि की अनुमति के कलम जैसी छोटी चीज भी नही खरीद सकते थे। परन्तु ऐसे लोगों को भय था कि यदि क्रान्ति सफल नहीं हुई तो उनका रहा-सहा मौज भी छिन जायगा। इसीलिए वे खुलेआम किसी भी प्रकार के क्रान्ति-कारी आन्दोलन में भाग नहीं लेते थे। मध्यम वर्ग के लोगों में बहुत अधिक असन्तोष था। वे देखते थे कि अंग्रेजों के समान सभी प्रकार की योग्यता रखते हुए भी वे उनके समान उच्च पद नही प्राप्त कर सकते। इससे उन्हे बड़ा असंतोष होता था। उन्हीं लोगों को युरोप की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का

ज्ञान था । इसलिए वे ही लोग बन्धन से छूटने के लिए युरोपीय तरीको को काम मे लाना चाहते थे ।

युरोपीय विचार के अनुसार राष्ट्र की जो परिभाषा है वैसा राष्ट्र भारतवर्ष कभी नहीं रहा । जाति, भाषा, धर्म तथा राज्य-सम्बन्धी विभिन्नता यहाँ सदा से चली आई है। यहाँ पर कोल, भील, संथालादि जंगली जातियों के सिवा पुराने अरब,अफगान मंगोल, द्रविड़, आर्य आदि अनेक जातियाँ बसती हैं। बंगला, हिन्दी, मराठी, तेलगु, तामिल, कनाड़ी, उड़िया आदि नाना प्रकार की भाषाएँ है । हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदायों के लोग यहाँ बसते हैं । भला इतनी विभिन्नता के रहते हुए भी कोई देश एक राष्ट्र बन सकता है ?

इस कल्पनातीत बात को भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सम्भव बना दिया । अंग्रेजो ने भारतवर्ष को एक राष्ट्र बना दिया । भारतवर्ष की अधिक समय के लिए स्थायी राजनैतिक एकता अंग्रेजों के ही समय मे हुई । यहां के सभी प्रान्तों में अंग्रेजी शिक्षा दी जाने लगी इसलिए विभिन्न प्रांतो के लोग आपस में अंग्रेजी बोलने लगे । अंग्रेजी शिक्षा के ही कारण यहां के लोगो को पाश्चात्य देशो की राष्ट्रीयता का भाव समझ मे आया । यहां पर एक राष्ट्र बनने का सबसे बड़ा कारण विपत्ति थी । एक ही साम्राज्यवादी नीति के कारण तमाम भारतवर्ष के लोग पिसे जाते थे इसलिए उसके खिलाफ सभी एक हो गये । इसी विपत्ति ने मद्रासी और पंजाबी, बंगाली और मराठे सभी को एक साथ मिला दिया । विपत्ति के ही कारण लोग आपस का भेद-भाव भूलने लगे । यदि यह विपत्ति नही आई

शत्रु से बदला लेना ही चाहिए। रूस-जापान युद्ध के बाद सारा एशिया अभूतपूर्व राष्ट्रीयता के भावों से भर गया। लोगों का मन आक्रमणकारी के प्रति ऐसा फिरा कि वे उसके खून के प्यासे हो गये।

विदेशियों के विरुद्ध असन्तोष

विदेशियों के खिलाफ यह भाव कुछ थोड़े-से अखबार निकालने वाले वा इनेगिने राजनीतिज्ञों में ही परिमित न रहकर सभी श्रेणियो के लोगों में बँट गया। साम्राज्य-वाद ने सभी वर्गों के लोगों को गहरी चोट पहुँचाई थी इसलिए उसके खिलाफ सभी क्रांति करने के लिए उद्यत हो गये। क्रान्ति का भाव सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षित समुदाय में ही आया। जनता का भाव आगे जाकर प्रकट हुआ। देशी राजे-महाराजे और धनी लोग जो विदेशियों की अनुकम्पा से किसी-किसी प्रकार अपना खिताब वा जायदाद कायम रखने में सफल हुए थे वे भी युरोपीय लोगों से बहुत चिढ़ने लगे। उनके चिढ़ने का कारण यह था कि वे बिना अपने राज्य-स्थित विदेशी प्रतिनिधि की अनुमति के कलम जैसी छोटी चीज भी नहीं खरीद सकते थे। परन्तु ऐसे लोगों को भय था कि यदि क्रान्ति सफल नहीं हुई तो उनका रहा-सहा मौज भी छिन जायगा। इसीलिए वे खुलेआम किसी भी प्रकार के क्रान्ति-कारी आन्दोलन में भाग नही लेते थे। मध्यम वर्ग के लोगों में बहुत अधिक असन्तोष था। वे देखते थे कि अंग्रेजों के समान सभी प्रकार की योग्यता रखते हुए भी वे उनके समान उच्च पद नहीं प्राप्त कर सकते। इससे उन्हे बड़ा असंतोष होता था। उन्हीं लोगों को युरोप की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का

ज्ञान था । इसलिए वे ही लोग बन्धन से छूटने के लिए युरोपीय तरीको को काम मे लाना चाहते थे ।

युरोपीय विचार के अनुसार राष्ट्र की जो परिभाषा है वैसा राष्ट्र भारतवर्ष कभी नही रहा । जाति, भाषा, धर्म तथा राज्य-सम्बन्धी विभिन्नता यहाँ सदा से चली आई है। यहाँ पर कोल, भील, संथालादि जंगली जातियों के सिवा पुराने अरब,अफगान मंगोल, द्रविड़, आर्य आदि अनेक जातियाँ बसती हैं । बंगला, हिन्दी, मराठी, तेलगु, तामिल, कनाड़ी, उड़िया आदि नाना प्रकार की भाषाएँ है । हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदायो के लोग यहाँ बसते हैं । भला इतनी विभिन्नता के रहते हुए भी कोई देश एक राष्ट्र वन सकता है ?

इस कल्पनातीत बात को भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सम्भव बना दिया । अंग्रेजो ने भारतवर्ष को एक राष्ट्र बना दिया । भारतवर्ष की अधिक समय के लिए स्थायी राजनैतिक एकता अंग्रेजों के ही समय में हुई । यहां के सभी प्रान्तों में अंग्रेजी शिक्षा दी जाने लगी इसलिए विभिन्न प्रांतो के लोग आपस मे अंग्रेजी बोलने लगे । अंग्रेजी शिक्षा के ही कारण यहां के लोगो को पाश्चात्य देशों की राष्ट्रीयता का भाव समझ मे आया । यहां पर एक राष्ट्र बनने का सबसे बड़ा कारण विपत्ति थी । एक ही साम्राज्यवादी नीति के कारण तमाम भारतवर्ष के लोग पिसे जाते थे इसलिए उसके खिलाफ सभी एक हो गये । इसी विपत्ति ने मद्रासी और पंजाबी, बंगाली और मराठे सभी को एक साथ मिला दिया । विपत्ति के ही कारण लोग आपस का भेद-भाव भूलने लगे । यदि यह विपत्ति नहीं आई

होती तो नीचवर्ग में लोगों को, उच्च समझने वाले ब्राह्मण इस दृष्टि से भी नहीं देखते जिससे वे आज देख रहे हैं।

अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोग, जिनमें प्रधानता विदेश से लौटे हुए लोगों की थी, असन्तुष्ट हुए। पहले वे अलग-अलग असंतोष फैलाते रहे परन्तु साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर सभी एक हो गये। १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। इसकी स्थापना चाहे किसी और दृष्टि से ही क्यों न की गई हो परन्तु इसने जो कार्य किया वह असंतोष की अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित करने की दृष्टि से ही किया। इसमें जो लोग शामिल होते थे उन्हें अंग्रेजी शिक्षा मिली रहती थी। वे पाश्चात्य राजनैतिक दर्शन तथा इतिहास से परिचित रहते थे इसलिए उन्हें भारतवर्ष में स्वराज्य का नहीं रहना खटकता था। इस सभा का नाम राष्ट्रीय महासभा था परन्तु केवल हिन्दू ही आते थे। इने-गिने मुसलमानों को छोड़-कर और किसी ने इसमें भाग नहीं लिया। इस महासभा के लोग तत्कालीन ब्रिटिश वैध शासन से असन्तुष्ट थे। वे लोग समझते थे कि भारतवर्ष का शासन यहां वालों के लाभ के लिए नहीं परन्तु अंग्रेज व्यापारियो के लाभ के लिए है। उन लोगो को शिक्षा और कलाकौशल में पिछड़ा रहना बहुत खटकता था। सबसे अधिक उन लोगों को यही खटकता था कि उन्हे राज्य के ऊँचे-ऊँचे पद नहीं प्राप्त होते। १९१३ ई० में आठ सौ रुपये मासिक वेतन के २५०१ पदों में केवल २४२ पर हिन्दुस्तानी थे। जो लोग केवल उच्च पद प्राप्त करने की आशा से

सहयोग एवं संगठन

अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करते थे उनके असंतोष के लिए यह कुछ कम बड़ा कारण नहीं था। जो हो इस समय तक लोगों के भीतर, आम जनता में असंतोष की अग्नि नहीं भड़की थी। असन्तुष्ट लोगों में कुछ को छोड़ कर बाकी लोगो का उद्देश ब्रिटिश साम्राज्य का मूलोच्छेद अथवा स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं था। वे लोग पश्चिमी ढांचे पर भारतीय जीवन का विकास करना चाहते थे और अधिक से अधिक यही चाहते थे कि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो जाय।

१९०५ की हवा से असंतोष की अग्नि बढ़ने लगी। उसी समय असंतोष दबा देने के लिए अंग्रेजी सरकार ने एक ऐसा कार्य किया जिससे आग में घी डालने के जैसा कार्य हुआ। उस समय भारतवर्ष के बड़े लाट कर्जन थे। इनकी दृष्टि से भारतवासी बहुत ही नीच थे और अंग्रेजो के ही ज़िम्मे ईश्वर ने उन्हे सुधारने का कार्य सुपुर्द किया था। ये बहुत ही सख्ती से शासन किया करते थे। बंगालियों के विरोध करते रहने पर भी इन्होंने उनकी एक नहीं सुनी और बंगाल के दो टुकड़े कर दिये। बंग-भंग करने का मूल्य उद्देश बढ़ते हुए असंतोष को कम करना था। इन्होने असंतोष दबाने का प्रयत्न किया परन्तु इसके बदले वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया। उस समय तक बंगाल काफी जाग्रत हो चुका था। उस समय के लोगों ने रूसी निहिलिस्ट लोगों का अनुकरण किया। भारतवर्ष में 'वन्दे मातरम' की आवाज सर्वप्रथम इसी समय उठी। इसी

भारत में क्रांतिकारी दल

एक शब्द से मालूम हो जाता है कि परिवर्तन कितना अधिक हो गया था। राष्ट्रीयता की झलक इस एक शब्द में ही कूट-कूट कर भरी है। लोगों ने पहले-पहल इसी समय समझा कि हम लोगो का भी एक देश विशेष है जिसे हमे अपना राष्ट्र समझना चाहिए। देश के नवयुवक गुप्त समितियां बनाने लगे जिनका उद्देश षड्यन्त्र द्वारा अंग्रेजी राज्य को नीव सहित भारतवर्ष से उखाड़ फेंकना था। क्रान्तिकारी भाव फैलाने वाले उस समय के मुख्य पत्र 'कर्मयोगिन' 'युगान्तर' 'केसरी' और 'काल' थे। इन अखबारो से कई खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव फैलाते थे, उनके खिलाफ क्रान्ति कर देने की, उन्हे मार डालने तक की सलाह देते थे।

इस समय के नवयुवकों में जो भाव काम कर रहा था उसे स्वर्गीय लाला लाजपतराय के एक ही वाक्य में कहा जा सकता है—"स्वतंत्रता शहीदों के खून से ही पनपती है।"

भारतीय क्रांति के उषाकाल मे ये बातें केवल कागज़ ही काली करने वाली नही थीं। इने-गिने अंग्रेजो और खुफिया पुलिस वालो की तो हत्या हो ही जाती थी, साथ ही नवयुवको का दल बना रहता था जिनका अपने रोज के कामो मे एक काम यह भी रहता था कि वे सारे दिन मे किसी अंग्रेज को घूंसे, तमाचे वा लाठियो से अवश्य ही मारेगे। इस समय राजनैतिक डाके भी डाले जाते थे। उस पैसे से अस्त्र-शस्त्र खरीदे वा बनवाये जाते थे।

इसी समय भारतवासियो ने यह भी देख लिया था कि अंग्रेजो का हमारे ऊपर केवल राजनैतिक ही नही परन्तु आर्थिक अधिकार भी है। अंग्रेजो का सब से अधिक व्यवसाय कपड़े

और लोहे का चलता था। भारतवर्ष ही उनका सब से बड़ा खरीददार था। वह साल मे २० करोड़ डालर का कपड़ा और साढ़े बारह करोड़ डालर की मशीने खरीदता था। इसके खिलाफ़ उस समय यहां पर 'स्वदेशी आन्दोलन' चला। भारत इसीलिए निधन होता जा रहा है कि यहां का धन कपड़े के बदले प्रत्येक वर्ष विदेश चला जाता है। स्वदेशी आन्दोलन का उद्देश यह था कि जबतक भारतवर्ष को स्वराज्य नही मिल जाता वह अंग्रेजी कपड़ो का बहिष्कार करेगा। स्वराज्य होने पर भारतीय उत्पत्ति के विषय में संरक्षण की नीति काम मे लाई जायगी। उस समय धीरे-धीरे अंग्रेजी पूंजी भारत से निकाल दी जायगी, बड़े-बड़े अंग्रेज अधिकारियो के स्थान पर हिन्दुस्तानी रखे जायंगे और सब प्रकार से प्रयत्न किया जायगा कि भारतवर्ष का धन विदेश न जाने पावे। धन विदेश नही जाने से देश समृद्धिशाली बनेगा।

राष्ट्रीय महासभा के कलकत्तेवाले बाईसवें अधिवेशन में अंग्रेजी माल का बहिष्कार और स्वदेशी माल का व्यवहार करने का प्रस्ताव पास हुआ। यह अंग्रेजी साम्राज्य के सब से कमजोर और परमावश्यक अंग पर आघात था। यह कमजोरों का अस्त्र रहने पर भी बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

सरकार ने भारतीय आन्दोलन को दबाने में अपनी बहुत शक्ति खर्च की। बहुतेरे नवयुवक फांसी के तख्ते पर लटका दिये गये और बहुतेरे कालेपानी भेज दिये गये। उन लोगों को दंड देने के लिए नये-नये कानून बनाये गये और क्रान्तिकारी भाव फैलाने वाले अखबार

दमन

बंद कर दिये गये। परन्तु १९०८ के प्रेसऐक्ट और विस्फोटक पदार्थ-सम्बन्धी क़ानूनों से क्रांति दबी नहीं। सरकार ने देखा कि केवल दमन करने से नहीं चलेगा तब उसने १९०९ मे मार्ले-मिण्टो सुधार जारी किये और दो वर्ष के बाद घोषणा की कि बंगाल फिर एक कर दिया जायगा।

मार्लें-मिण्टो सुधार से सरकार की स्वेच्छाचारिता कुछ कम हुई-सी दीखने लगी। इस सुधार के अनुसार भारतवासियों को बड़े लाट और प्रांतीय लाटों की कार्यकारिणी में चुने जाने का अधिकार दिया गया।

मार्लें-मिण्टो सुधार

अभी तक की प्रांतीय कौंसिलों को केवल सलाह देने का अधिकार था। उसमें निर्वाचित लोगो की संख्या अधिकारियों की संख्या से अधिक कर दी गई। बड़ी व्यवस्थापिका सभा से अधिकारी ही अधिक संख्या मे रहे। प्रांतीय कौसिलों को बजट तथा अन्य कई बातों पर बहस करने का अधिकार दिया गया। वे सलाह भी दे सकती थीं परन्तु किसी बात को सरकार की इच्छा के ख़िलाफ रद्द नही कर सकती थीं। वह सभा एक प्रकार की वाद-विवाद समिति थी।

कई वर्षों के तरह-तरह के प्रयत्न से क्रांति दबी हुई-सी दीखने लगी। मालूम होने लगा कि देश मे असंतोष की मात्रा बहुत ही कम हो गई है। स्वदेशी-आन्दोलन भी वंग-भंग आन्दोलन मिट जाने पर कम हो गया। उसके लिए काफी जोश नही रह गया। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे हो गये जिन्होंने उसी समय आजन्म स्वदेशी चीजें, खास कर वस्त्र, इस्तेमाल करने का प्रण कर लिया। आन्दोलन दब गया परन्तु अपने

असर को अमिट बना गया। इसने दिखला दिया कि भारत-वासियों के भीतर अंग्रेजों से डर जाने का भाव जाता रहा है।

तुर्की में—

तुर्की के राष्ट्रीय नेता भी, जिनमें अधिकांश लोगों ने युरोप में शिक्षा प्राप्त की थी, इस समय युरोपीय ढांचे पर तुर्की का सुधार करने लगे। निःसन्देह तुर्की की राष्ट्रीयता को पाश्चात्य दवाव से प्रोत्साहन मिला। अपनी स्वतंत्रता खो देने के भय से तुर्क लोग अपने देश को जितना अधिक प्यार करते थे और उसका भविष्य उज्वल बनाना चाहते थे युरोपीय शक्तियां तुर्की का अंगच्छेद करने में उतनी ही तत्परता दिखलाती थीं। इससे तुर्क लोगो मे देश को बचाने का भाव और भी ज़बर्दस्त होता गया।

फिर भी तुर्की और भारत के राष्ट्रीय भावो में अन्तर था। तुर्की मे 'तुर्कीपन' का भाव काम कर रहा था परन्तु भारतवर्ष में 'हिन्दूपन' कार्य नही कर रहा था। तुर्की के राष्ट्रीयदल वालो का उद्देश्य था कि सभी तुर्की भाषा बोलने वाले लोग मिल जायं। तत्कालीन सुल्तान अब्दुल हमीद मे भी 'मुसलमानियत' का भाव आ गया था। वह चाहता था कि सारी दुनिया के मुसलमान मिल जायं और युरोपीय शक्तियो से लड़ाई छेड़ दे। उसे जब-तक तुर्की के अंगच्छेद का भय था उसने वैध शासनतंत्र चलाया, परन्तु ग्रेटब्रिटेन ने रूस के विरुद्ध ज्योंही उसकी सहायता की उसने समझ लिया कि उसके साम्राज्य की विपत्ति टल गई। उसने तीस वर्षों तक खूब ही अनियंत्रित शासन चलाया।

मेसिडोनिया तुर्कों के अधीन था। उसपर आस्ट्रिया और रूस की नज़र थी। १९०३ मे सुधार करने के बहाने सब शक्तियों ने

मिलकर अपनी ओर से वहाँ पर एक सेना रख दी। तरुण तुर्कों ने समझ लिया कि महाशक्तियों की नीयत ठीक नहीं है; हमारे साम्राज्य पर विपत्ति आने वाली है। उन लोगों ने उसके खिलाफ आन्दोलन करना आरम्भ किया। अब वैध शासन-तंत्र की मांग होने लगी। उन लोगों ने समझा कि तुर्क साम्राज्य की रक्षा के लिए अनियंत्रित शासन का अन्त करना और वैध-शासन स्थापित करना परमावश्यक है। रूस के जापान-द्वारा हराये जाने पर उन लोगों ने समझा कि अब रूस की कुछ भी नही चलेगी; जो काम जापान ने किया है वही वे भी कर सकते हैं। वे युरोपीय लोगों के अधिकार से निकलने की कोशिश करने लगे। शासन-तंत्र में लोग उसी समय परिवर्तन कर देना चाहते थे जिसमें तुर्क-साम्राज्य युरोप मे बचा रह जाय। उन लोगो ने तीन वर्ष तक बहुत प्रयत्न किया। अपना आन्दोलन जारी किया और सेना तथा राज्य के उच्च कर्मचारियों तक को अपनी ओर मिला लिया। सब से वे यही कहते थे कि अब्दुलहमीद के ही कारण देश रसातल को जा रहा है। उनसे शासन अपने अधिकार में ले लेंगे तो युरोपीय शक्तियों को हमारा सर्वनाश करने का अवसर नहीं मिलेगा।

आन्दोलन

१९०८ ई० के मध्य में तुर्की सेना में विद्रोह हुआ। विद्रोहियो का किसी ने विरोध नहीं किया इसीलिए इस क्रान्ति मे रक्तपात बिल्कुल ही नहीं हुआ। सुल्तान अब्दुल हमीद गद्दी से उतार दिये गये। उनके स्थान पर एक कमजोर सुल्तान गद्दी पर बिठलाया गया और तुर्की

रक्तहीन क्रान्ति

मे वैध शासन-तंत्र हो गया। मुसलमानों का मुसलमानपन छूट गया। वहां के शासन-सुधार से देश-विदेश दोनों ही स्थानों के लोग तरुण तुर्कों के विपक्ष में हो गये। रूस और आस्ट्रिया को भय होने लगा कि तुर्क बलवान हो जायेंगे तो उन लोगो का कुस्तुन्तुनियां और सिलोनिका पर अधिकार नहीं हो सकेगा। जर्मनी मेसोपोटामिया तक अपना आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व जमाना चाहता था। इटली की आंख ट्रिपोली पर थी। अंग्रेजो को मिश्र और साइप्रस छिन जाने का भय था। इसलिए ये शक्तियां सुधार की विरोधी थीं।

तरुण तुर्कों में धार्मिक कट्टरपन का भाव बहुत ही कम था। उन्होंने राष्ट्रीयता के ही भाव से प्रेरित होकर ईसाइयो को मुसलमान बनाने का उद्योग किया। उनका विचार था कि सब के एकमत हो जाने से शक्ति बढ़ जाती। उन्होंने यदि ईसाई लोगों पर अत्याचार भी किया तो उसी समय जब उन्होंने देखा कि वे लोग युरोपियन राष्ट्रो से मिलकर उनके प्रदेशो पर अधिकार जमाने की चेष्टा में लगे हैं। वे लोग धर्म को राजनीति से बिल्कुल ही अलग रखना चाहते थे। यदि उन्होने विद्रोही ईसाइयो पर अत्याचार किया तो वैसा ही विरोधी मुसलमानों पर भी किया।

अब्दुल हमीद को सिंहासन से उतार कर तरुण तुर्कों ने नवीन परिस्थिति का उपयोग करना चाहा। उन्होंने अनेक पुरानी प्रथाओ को दूर करने का प्रयत्न किया और प्रजा से कर तथा सैनिक मांगने लगे। तुर्क-साम्राज्य में बसनेवाली युरोपियन प्रजाएँ इससे नाराज होगईं। क्योकि पहले उनपर टैक्स नहीं लगता था; इस समय लगने को था। परन्तु तरुण तुर्कों को सफलता नहीं

मिली। सुल्तान के पक्ष के लोग उनके विरोधी थे। जमींदार और उच्च राज्यकर्मचारी भी उनसे असन्तुष्ट थे क्योंकि उन लोगो का वैभव और प्रभुत्व पुराने शासन में ही बना रह सकता था। साथ ही तरुण तुर्कों को राज्य-कार्य का काफी ज्ञान नहीं था। उनमें व्यावहारिकता का बहुत अभाव था इसीलिए उन्हें विफलता हुई।

अल्बानिया, मेसोपोटामिया और अरब के लोगों ने तरुण तुर्कों का भाव ठीक-ठीक नही समझा। उन्होंने उन्हें भी अब्दुल हमीद की ही तरह मुसलमानपन का भाव रखने वाला समझा। इसी कारण उन लोगों ने विद्रोह कर दिया। तरुण तुर्कों के खिलाफ़ हो जाने से तुर्कों के सिवा तुर्की मे बसने वाली जातियां अरब, यूनानी, कुर्द, आर्मीनियन, सीरियन आदि आपस मे इस तरह से मिल गईं जैसी पहले कभी नही मिली थी। अल्बानिया के विद्रोह से मेसिडोनिया में तुर्क-सेना इतनी निर्बल हो गई कि युद्ध में बाल्कन राज्यों की विजय निश्चित हो गई। इसी समय बल्गेरिया ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित करदी। क्रीट भी ग्रीस से मिल गया। तुर्कों के अपने अधिकार के प्रश्न उठाने पर आस्ट्रियाहंगरी ने बोस्निया और हर्जगोविना पर अधिकार कर लिया और इटली ने बिना युद्ध-घोषणा किये ही ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया। इस समय सभी शक्तियां चुप बैठी रहीं। जो काम इटली और आस्ट्रियाहंगरी ने इस समय किया वही काम इंग्लैंड ने मिश्र पर और फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार करके पहले ही कर दिखलाया था इसीलिए उन शक्तियों ने चूं तक नहीं की थी।

गलतफहमी और गृह-कलह

आरम्भ में तरुण तुर्कों ने समझा था कि वे सारी तुर्की

प्रजा में राष्ट्रीयता का भाव पैदा कर देंगे; उससे राष्ट्र-निर्माण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रह जायगी।

फल उलटा निकला

उन लोगों पर फ्रांस, इटली आदि देशो के विप्लवो का प्रभाव पड़ा था, परन्तु उन देशों में और तुर्की मे बहुत भेद था इसीलिए तरुण तुर्क उपयुक्त देशो की तरह तुर्की मे सफल नहीं हो सके। तरुण तुर्कों का अधिकार १९०८–१४ तक रहा। इसी बीच में उन्हे इटली और बाल्कन राज्यो से भी लड़ना पड़ा। वे लोग ट्रिपोली, बोस्निया, हर्जगोविना, अल्बानिया, मेसिडोनिया क्रीट आदि देशों को अपने अधिकार में रखना चाहते थे और साइप्रस और मिश्र वापस लेना चाहते थे। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए उन्होंने जान खतरे मे डालकर क्रान्ति की थी और बड़ी कठिनता से नये शासन की प्रस्थापना की थी परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। उनके राजत्वकाल मे तुर्की की राजकीय सीमा जितनी कम हो गई उतनी और कभी नहीं हुई थी। उनके अधिकार से इस समय अफ्रिका के प्रान्त, ईजियनसागर के टापू, थ्रेस का कुछ अंश और कुस्तुन्तुनिया के अतिरिक्त युरोप का सारा प्रदेश निकल गया। राजकीय सीमा बहुत कम होगई परन्तु नवीन तुर्की में इस समय जो भाव आगया था उसकी तुलना मे वह हानि कुछ भी नहीं थी। इस भाव के कारण भविष्य मे उससे कहीं अधिक राज्य विस्तार हो जाने की आशा थी। इस समय चाहे भले ही दीखने लगा हो कि युरोप का रोगी राष्ट्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा है परन्तु वास्तविक बात वैसी नहीं थी। उस समय तक उसमें इतनी ताकत आगई थी कि जिसे बढ़ाकर वह रोगोन्मुक्त हो सकता था और पुनरुज्जीवन प्राप्त कर सकता था। युरोपीय

राष्ट्रों के खिलाफ इस समय क्रान्ति का भाव उसके भीतर बहुत तीव्र हो चुका था।

जबतक युरोपीय राष्ट्र तुर्की के राज्य मे हस्तक्षेप करते थे अरबों ने तुर्कों के साथ का भेद-भाव भुला दिया था। वे दोनो ही युरोपियनो को अपना शत्रु समझते थे।

अरबों की स्वतन्त्रता के लिए

जब अब्दुलहमीद का अनियंत्रित शासन चलने लगा तब अरब लोगों पर अत्याचार होने लगे। फिर वे भी तुर्की के चंगुल से निकलने की कोशिश करने लगे। १८९५ मे पेरिस में एक 'अरेबियन नेशनल कमिटी' बनी। तुर्की के पंजे से अरब को छुड़ाना ही उसका उद्देश था। उसके सदस्य समझते थे कि उनके सुन्दर-सुखद अतीत वैभव को तुर्कों ने ही नष्ट किया है। तुर्कों ने ही उन्हे संसार में सब से निर्धन राष्ट्र बना दिया है। १९०५ की हवा से अरब भी बचे नही रहे। हेजाज और यमन मे क्रांति हो गई। उस क्रांति को दबाने के लिए तुर्की से सेनाऍ जाती रही परन्तु क्रांति कभी पूरी-पूरी दबाई नही जा सकी। १९०८ मे तुर्की में अनियंत्रित शासन के अन्त होने पर अरब लोगो को भी असीम आनन्द हुआ। परन्तु जब तरुण तुर्कों ने उन्हे भी तुर्क बनाने का प्रयत्न किया तब वे बिगड़ खड़े हुए। तरुण तुर्कों द्वारा दबाये जाने से उन लोगो में एकीकरण की शक्ति आने लगी। जिस समय महायुद्ध छिड़ा उस समय उन लोगों में वह शक्ति बहुत बढ़ गई थी और तुर्कों के खिलाफ भाव भी बहुत अधिक हो गया था। एशियायी क्रांति के उषाकाल मे उनमें भी एक शक्ति का आविर्भाव हो गया था। आगे देखना है उस शक्ति का विकास

किस ओर होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक फारस को रूसी और अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने बहुत ही कमजोर बना दिया था। उन लोगों के दबाव से वहां के लोगों में भी राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत हुआ। वहां के राष्ट्रीय दल के नेताओं ने अनियंत्रित शासन का अन्त कर देने और वैध अथवा प्रजातंत्र शासन स्थापित करने के लिए जोर लगाया। १९०६ मे उन लोगों के आन्दोलन का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि शाह को तेहरान मे एक नई मजलिस का उद्घाटन करना पड़ा। इस मे प्रजा-द्वारा चुने गये शिक्षित वयस्क प्रतिनिधि जाते थे। आगे चलकर शाह और मजलिस मे झगड़ा चलने पर शाह ने मजलिस तोड़ दी। इससे वहां का राष्ट्रीय दल हताश नहीं हुआ। तुर्की का उदाहरण उसके सामने आ गया था। उसके प्रभाव से उन्होंने विचार किया कि जो राजनैतिक स्वतंत्रता उन्हें प्राप्त हो चुकी है उसे वे कदापि नही छोड़ेगे। इसी समय १९०७ मे रूस और अंग्रेजो मे समझौता हो गया। इस समझौते द्वारा उन दोनों शक्तियों ने फारस को आपस मे बांट लिया था। फारस का राष्ट्रीय दल इससे बहुत ही क्षुब्ध हुआ। अब वह मरने-मारने के लिए तैयार हो गया। अन्त में युरोपीय परतंत्रता की जंजीर को तोड़ डालने का विचार उन्होंने निश्चित कर लिया। उन्होने क्रांति कर दी। क्रांति केवल युरोपियन लोगों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए ही नहीं परन्तु विदेशी क़जर खान्दान का अन्त कर देने की दृष्टि से भी की। मजलिस ने शाह को गद्दी से उतार दिया और

फारस में भी—

राष्ट्रों के खिलाफ इस समय क्रान्ति का भाव उसके भीतर बहुत तीव्र हो चुका था।

जबतक युरोपीय राष्ट्र तुर्की के राज्य में हस्तक्षेप करते थे अरबों ने तुर्कों के साथ का भेद-भाव भुला दिया था। वे दोनो ही युरोपियनो को अपना शत्रु समझते थे। जब अब्दुलहमीद का अनियंत्रित शासन चलने लगा तब अरब लोगों पर अत्याचार होने लगे। फिर वे भी तुर्की के चंगुल से निकलने की कोशिश करने लगे। १८९५ में पेरिस में एक 'अरेबियन नेशनल कमिटी' बनी। तुर्की के पंजे से अरब को छुड़ाना ही उसका उद्देश था। उसके सदस्य समझते थे कि उनके सुन्दर-सुखद अतीत वैभव को तुर्कों ने ही नष्ट किया है। तुर्कों ने ही उन्हे संसार में सब से निर्धन राष्ट्र बना दिया है। १९०५ की हवा से अरब भी बचे नही रहे। हेजाज और यमन मे क्रांति हो गई। उस क्रांति को दबाने के लिए तुर्की से सेनाएँ जाती रही परन्तु क्रांति कभी पूरी-पूरी दबाई नही जा सकी। १९०८ मे तुर्की में अनियंत्रित शासन के अन्त होने पर अरब लोगो को भी असीम आनन्द हुआ। परन्तु जब तरुण तुर्कों ने उन्हे भी तुर्क बनाने का प्रयत्न किया तब वे बिगड़ खड़े हुए। तरुण तुर्कों द्वारा दबाये जाने से उन लोगो मे एकीकरण की शक्ति आने लगी। जिस समय महायुद्ध छिड़ा उस समय उन लोगो मे वह शक्ति बहुत बढ़ गई थी और तुर्कों के खिलाफ भाव भी बहुत अधिक हो गया था। एशियायी क्रांति के उषाकाल में उनमे भी एक शक्ति का आविर्भाव हो गया था। आगे देखना है उस शक्ति का विकास

अरबों की स्वतंत्रता के लिए

विरोध किया तब उन लोगो ने राजच्युत शाह को फिर से सिंहासन प्राप्त करने के लिए उसकाया। इस कार्य मे जिस किसी देश-भक्त ने वाधा डाली उसे रूसी सेना ने गोली से उड़ा दिया। इस प्रकार का गृह-कलह उत्पन्न कर रूसी अपना स्वार्थ साधना चाहते थे। फ़ारस की आर्थिक व्यवस्था नष्ट कर देने के लिए इसी समय अंग्रेज और रूसी लोगो ने मिलकर अमेरिका से आये हुए शुस्टर को भी निकलवा दिया। साथ ही उसकी नई पार्लमेण्ट तुड़वा दी गई और १८ फरवरी १९१२ को उसे ऐंग्लो-रूसी-सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय से फारस किसी दूसरी शक्ति से ऋण नहीं ले सकता था। ये दोनो शक्तियां फारस को छोटी-छोटी रकमे बहुत अधिक सूद की दर पर देती थीं। इन्हीं दोनो के वैंको मे समुद्र-कर की सारी आय जमा की जाती थी। थोड़े ही दिनो मे फारस इन दोनों शक्तियों का दास बन गया। ये दोनो शक्तियां नाना-भांति से फारस का नाश करने लगी। फारस का इस अवस्था से बचना तबतक सम्भव नही दीखने लगा जबतक किसी प्रकार का उस देश पर जादू न चल जाय। इस प्रकार के जादू का बीजारोपण हो चुका था। और देशो के ही समान फारस की भी विचार-धारा में महान् परिवर्तन हो चुका था।

अफगानिस्तान में—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे अफ़गानिस्तान अनेक फिरक़ों के वीच वंटा हुआ था। वे आपस मे लड़ा करते थे। उन सब मे स्वतंत्रता की चाह बड़ी प्रबल थी। सभी शक्तिशाली भी थे परन्तु अनेक भागो में विभक्त रहने के कारण अफ़गानिस्तान की कोई शक्ति

१५ नवम्बर १९०९ को नई मजलिस का उद्घाटन शाह के छोटे लड़के द्वारा कराया। वही छोटा लड़का गद्दी पर बिठाया गया।

अब फारस अपने देश का शासन सुव्यवस्थित बनाने में लगा। उसने आर्थिक व्यवस्था ठीक कराने के लिए अमेरिका से शुस्टर महाशय को बुलाया। आर्थिक व्यवस्था ठीक होने से फारस की अवस्था सुधर जाने वाली थी परन्तु उसमें अंग्रेज और रूसी साम्राज्यवादियो का घाटा था। यदि फारस को नये वैध-शासन में सफलता हो जाती तो अंग्रेजो के लिए भारत और मिश्र में एक नई आफत आ खड़ी होती और रूसियों को तब्रेज में अपना पैर जमाना कठिन हो जाता। अंग्रेज और रूसी लोगो ने फारस सरकार के पास एक सूचना भेजी। उसमें कहा गया कि वह उन दोनो शक्तियों के सिवा और किसी शक्ति से ऋण नहीं ले सकता। इसका मतलब था फारस से यह स्वीकार करा लेना कि वह रूस और इंग्लैंड के संरक्षण में है।

अव्यवस्था

दक्षिण फारस के व्यापारिक मार्गों की व्यवस्था के लिए तथा सैनिक और पुलिस के खर्च के लिए फारस-सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता हुई। रूस और इंग्लैंड ने स्वयं तो ऋण दिया ही नही, साथ ही दूसरी शक्तियों को भी मना कर दिया। इस कार्य से उनका उद्देश फारस मे अव्यवस्था ला देना था। इसी अव्यवस्था का बहाना कर दोनो शक्तियो ने फारस मे अपनी सेना भी भेज दी। रूसियो ने तब्रेज पर अधिकार कर लिया और आजरबायजान मे अपना सैनिक गवर्नर नियुक्त किया। जब फारस ने इसका

विरोध किया तब उन लोगों ने राजच्युत शाह को फिर से सिंहासन प्राप्त करने के लिए उसकाया। इस कार्य में जिस किसी देश-भक्त ने बाधा डाली उसे रूसी सेना ने गोली से उड़ा दिया। इस प्रकार का गृह-कलह उत्पन्न कर रूसी अपना स्वार्थ साधना चाहते थे। फारस की आर्थिक व्यवस्था नष्ट कर देने के लिए इसी समय अंग्रेज और रूसी लोगो ने मिलकर अमेरिका से आये हुए शुस्टर को भी निकलवा दिया। साथ ही उसकी नई पार्लमेण्ट तुड़वा दी गई और १८ फरवरी १९१२ को उसे ऐंग्लो-रूसी-सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय से फारस किसी दूसरी शक्ति से ऋण नहीं ले सकता था। ये दोनो शक्तियां फारस को छोटी-छोटी रकमें बहुत अधिक सूद की दर पर देती थीं। इन्ही दोनो के बैंको मे समुद्र-कर की सारी आय जमा की जाती थी। थोड़े ही दिनो मे फारस इन दोनो शक्तियों का दास बन गया। ये दोनो शक्तियां नाना-भांति से फारस का नाश करने लगी। फारस का इस अवस्था से बचना तबतक सम्भव नही दीखने लगा जबतक किसी प्रकार का उस देश पर जादू न चल जाय। इस प्रकार के जादू का बीजारोपण हो चुका था। और देशो के ही समान फारस की भी विचार-धारा मे महान् परिवर्तन हो चुका था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे अफ़ग़ानिस्तान अनेक फिरक़ों के बीच बंटा हुआ था। वे आपस मे लड़ा करते थे। उन सब मे स्वतंत्रता की चाह बड़ी प्रबल थी। सभी शक्तिशाली भी थे परन्तु अनेक भागो में विभक्त रहने के कारण अफगानिस्तान की कोई शक्ति

अफगानिस्तान में—

नहीं थी। सेना भी संगठित नहीं थी, उसे शिक्षा भी नहीं मिलती थी इसीलिए उसकी वीरता का समुचित उपयोग नहीं हो पाता था। देश में चारो तरफ मारकाट मची रहती थी; सड़के सुरक्षित नहीं थी। अफ़ग़ानिस्तान का ख़ज़ाना भी खाली-सा ही था। ऐसे समय मे साम्राज्यवाद का चक्र चला। रूस और इंग्लैण्ड दोनों ही उसे अपने-अपने राज्य में मिला लेना चाहते थे। शिमला के अंग्रेज कर्मचारी सदा काबुल पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते थे; दूसरी ओर ताशकंद की ओर से रूस सदा उस समय की प्रतीक्षा कर रहा था जब वह अफ़ग़ानिस्तान पर विजय करता हुआ उत्तरी भारत तक पहुँच जाता। उस समय अफगानिस्तान की रक्षा का इतना भय होने लगा था कि दरबार मे यह एक खास मामला बन गया, जिस पर चर्चा चला करती थी। तत्कालीन अमीर अब्दुर्रहमान खाँ बड़े ही योग्य शासक थे। दरबार की और बाते जहाँ पर लिखी जाती है वहीं पर लिखा है कि एकबार अब्दुर्रहमान खाँ ने पहेली के रूप में कहा था—"एक तालाब में एक हंस (अफगानिस्तान) है। उसके एक ओर भेड़िया (रूस) और दूसरी ओर शेर (ब्रिटेन) खड़ा है। दोनो ही एक दूसरे पर गुर्रा रहे हैं। वे दोनों एक दूसरे पर केवल इसीलिए रंज खाते हैं कि दूसरा उनके शिकार में क्यो भाग लेना चाहता है? यदि बीच का पानी सूख जाय तो दोनों लड़कर मर जायँगे, लेकिन इंशा-अल्लाह! पानी बहुत गहरा है और वैसा ही रह जायगा।"

साम्राज्यवादियो के दबाव डालने से अफगानिस्तान भी एक राष्ट्र बन गया। अब्दुर्रहमान खाँ ने शासन-प्रणाली में सुधार

किया; जो लोग अफ़गानिस्तान का राजा होने का दावा करते थे उन्हे हराया; हजारा पर अधिकार प्राप्त किया और काफिरिस्तान पर विजय की।

नीतिकुशल नरेश

यह अंग्रेज और रूसी दोनो से ही चिढ़े रहते थे। व्यापार-सम्बन्धी बातों मे भारत-सरकार का अधिकार नहीं होने देना चाहते थे इसलिए उन्होंने घोषणा कर दी थी कि उनके देश से न तो घोड़े भारत भेजे जायं और न भारत से उनके यहाँ नमक ही जाया करे। इनके शासन-काल में ही साम्राज्यवादियों ने चालें चलीं; ये सचेत हो गये और अफ़गानिस्तान को यथेष्ट समृद्ध और भलीभाँति संगठित करने का प्रयत्न करने लगे। ये विदेशियों की देखरेख में अपने देश की व्यापार और शिल्प सम्बन्धी उन्नति अवश्य ही करना चाहते थे परन्तु उसी के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान नहीं कर देना चाहते थे। रहमान खाँ को राजकीय मामलों में मुसाहबो पर निर्भर करना पड़ता था क्योंकि उस समय तक जनता की राय लेने की कोई प्रणाली वहाँ नहीं थी। इनके मरने पर हबीबुल्लाखाँ गद्दी पर बैठे। इन्हो ने अपने पिता के कार्य को आगे बढ़ाया। इन्हें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हुई थी। राज्यारोहण के दूसरे ही साल इन्होने अनिवार्य सैनिक शिक्षा की घोषणा कर दी। १९०७ वाले ऐंग्लो रूसी समझौते से अफ़ग़ानिस्तान को बहुत अधिक घाटा नहीं था इसीलिए वहाँ असंतोष भी नहीं हुआ और उसी कारण से क्रान्ति के भाव भी आगे नहीं बढ़े फिर भी इस समय तक अफ़ग़ानिस्तान भी दूसरे मुसलमान राष्ट्रों की ही भांति राष्ट्रीयता के भाव से भर गया था।

चीन में साम्राज्यवादियों की ही नीति के कारण बहुत सी गुप्त समितियां बन गई थीं। उन क्रान्तिकारी-समितियों का केन्द्र कैंटन था। उस समिति के संस्थापक डा० सन-यात सेन थे और समिति का नाम था 'कुओ-मिणटांग'। 'कुओमिणटांग' का मतलब है 'जनता का—सर्वसाधारण का दल'। इन लोगों की शाखाएँ बहुत से स्थानों पर थीं। क्रान्ति का अधिक जोर दक्षिणी चीन में ही था; वहाँ के ही लोगों पर पश्चिमी शिक्षा का अधिक असर हुआ था। राज्य की तरफ से जो सुधार चल रहे थे उसपर उन लोगो का विश्वास नहीं था। वे लोग महान् परिवर्तन चाहते थे। चीन सरकार क़र्ज के बोझ से लदी हुई थी इसलिए देश की आन्तरिक अवस्था दिन-दिन खराब होती जा रही थी। १९०८ ई० में राजमाता की मृत्यु हो गई। उनके स्थान पर एक तीन वर्ष का लड़का गद्दी पर बिठाया गया। इस समय क्रान्तिकारियों का आन्दोलन बहुत जोरो से बढ़ने लगा। उन्होंने सर्वसाधारण को विश्वास दिला दिया कि यदि शासन-प्रणाली में सुधार कर लिया जाय तो खान और रेलों पर अधिकार जमाया जा सकता है तथा मंचूरिया से रूसी और जापानी लोगो का आधिपत्य भी हटाया जा सकता है। चीन सरकार को कमजोर पाकर क्रान्तिकारियों ने अपने विचारो को कार्यरूप में परिणत करना आरम्भ किया। मंचू चीनी नहीं परन्तु विदेशी थे इस कारण से भी लोग उस वंश का अन्त कर देना चाहते थे। १९१० ई० में एक महासभा कायम हुई। यही प्रजातंत्र शासन स्थापित करने का सबसे पहला कार्य हुआ। इस सभा में आधे राजपरिवार के, आधे प्रान्तीय सूबेदारो द्वारा

चीन में तैयारी

चुने गये लोग थे। चुने गये सदस्य पार्लमेंट की स्थापना बहुत ही शीघ्र करना चाहते थे। महासभा ने विदेशियों को यह भी सूचना दे दी कि भविष्य में विदेशियों से न तो ऋण ही लिया जायगा और न उन्हे विशिष्ट अधिकार ही दिये जायंगे।

साम्राज्यवादियों के लिए इससे बहुत बड़ा घाटा था। चीन के पूर्णरूप से सचेत होने के पहले ही साम्राज्यवादियों ने अपनी नीति सफलीभूत कर डालने की कोशिश की।

साम्राज्यवादियों का अड्गा

रूसी लोगों का मंगोलिया के जिन नगरों मे कोई व्यापारिक बहाना भी नहीं हो सकता था उनमें भी उन्होंने अपने प्रतिनिधि रख दिये। अंग्रेज भी वर्मा की ओर से आगे बढ़कर अपनी सीमा बढ़ाने लगे। यूनन के सूबेदार ने अंग्रेजों के रास्ते मे बाधा डालनी चाही तो पेकिंग सरकार ने उसे मना किया। इस समय महाशक्तियों ने चीन पर इतना दबाव डाला कि उसे महासभा के खिलाफ कार्य करना पड़ा। उसने कुछ विदेशी पूँजीपतियों को रेल बनाने का अधिकार दे दिया और कुछ ऋण भी लिया। इन बातों के कारण दक्षिणी चीन में राज्यक्रान्ति हो गई। वहाँ के क्रान्तिकारी पकड़े जानेवाले थे, उसके पहले ही उन्होंने क्रान्ति आरम्भ करदी। ३१ दिसम्बर को डा० सनयात सेन शंघाई से नये प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति चुने गये। ५ जनवरी १९१२ को विदेशी शक्तियों को चीन में प्रजा-तन्त्र स्थापित हो जाने की सूचना दे दी गई। सनयातसेन राष्ट्र-पति तो चुन लिये गये परन्तु देश में अधिक प्रभाव युआन-शिकाई का था। देश की भलाई के लिए सनयात सेन ने महान् स्वार्थ-त्याग का परिचय दिया। उन्होंने राष्ट्रपति के पद से स्वयं

इस्तीफा दे दिया और युआनशिकाई सभापति बना दिया गया। राजधानी का पेकिंग मे ही रखा जाना निश्चित हुआ। १९१३ के अप्रैल में चीन की नई पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ। इस समय विदेशी शक्तियो के अड़ंगा लगाने के कारण लोग थोड़े हतोत्साह भी हुए। मंगोलिया ने रूस मे षड़यन्त्र रचा, इस कारण वह चीनी प्रजातंत्र में शामिल नहीं हुआ। उसने रूस के साथ समझौता कर लिया और रूस की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बन गया। चीन को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। इसी प्रकार से तिब्बत में अंग्रेज़ो ने चीनी लोगों के खिलाफ क्रान्ति करदी और तिब्बत को स्वतन्त्र क़रार देने के लिए चीन को मजबूर किया, चीन के ब्रिटेन और रूस की बात मानलेने का मतलब मंगोलिया और तिब्बत को अपने से अलग कर देना था। फिर उसे आवश्यकता पड़ने पर रूस और ग्रेटब्रिटेन आसानी से अपने साम्राज्य मे मिला ले सकते थे।

युआनशिकाई की अदूरदर्शिता

युआनशिकाई प्रजातंत्र के विचारों का पोषक नहीं था। महाशक्तियों ने उसे अपने पूँजीपतियों से और बैंको से ऋण दिला दिया और उसके बदले नमक से होने वाली आय और समुद्री कर से होने वाली बचत रेहन रखली। महाशक्तियाँ अपना हित साधने के लिए चीन के अर्थ-विभाग में अपने निरीक्षक और परामर्शदाता भी रखवा देना चाहती थीं। युआनशिकाई ने ऋण ले लिया और उससे अपनी निजी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। ऋण उसने चीनी पार्लमेण्ट की अनुमति से नहीं लिया था। उस रुपये का उपयोग उसने प्रजातंत्रवादी विचार वालो को दबाने

मे किया। पुराने क्रान्तिकारियों ने देखा कि पुरानी बला फिर से आ जाना चाहती है तब उन लोगों ने विद्रोह किया। वह विद्रोह तुरंत ही शांत कर दिया गया। युआनशिकाई ने अपने विरोधी दक्षिणी प्रतिनिधियो का दल तोड़ दिया। आगे चलकर उसने पार्लमेंट ही तोड़ दी और स्वयं चीन का सम्राट बन जाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु इसी बीच ६ जून १९१६ को उसकी मृत्यु हो गई। उसका उद्देश सफल नही हुआ। परन्तु उसके बाद से उसके भिन्न-भिन्न सेनापति अपना-अपना अधिकार जमाने के लिए लड़ने लगे। चीन गृह-कलह का आदर्श नमूना हो गया। युआनशिकाई के बाद लीचुआन हुंग, जो उप सभापति थे, सभापति हो गये। उनके समय में चीन के उन्नति की आशा की जाने लगी।

चीन की यह क्रांति आन्तरिक क्रांति नही थी। यह वहां के करोड़ो भूखे लोगो को विदेशी दासता और साम्राज्यवादियों के आतंक से छुड़ाने के लिए हुई थी। मंचू साम्राज्य के उखाड़ फेकने के पहले ही चीन के राष्ट्रीय दल के प्रवर्तक डा० सनयात-सेन ने कहा था कि मंचू साम्राज्य का उखाड़ना एक महान उद्देश की पूर्ति के लिए रास्ते का एक कांटा हटाना मात्र है। इस क्रान्ति का मूल उद्देश चीन से विदेशियों का दखल उठा-कर राष्ट्रीय पुनरुत्थान करना, जो अधिकार खो गये थे उन्हें प्राप्त करना और जनता की अवस्था में सुधार करना था। डा० सनयातसेन ने राष्ट्रीयदल के जो तीन निम्नलिखित उद्देश बतलाये थे वे ही क्रान्ति के मूल उद्देश थे।

१. राष्ट्रीय पुनरुत्थान और महान् राष्ट्र होने के लिए:—

चीन का विदेशियों के चंगुल से तभी छुटकारा हो सकता है जब असमानता की संधियाँ रद्द कर दी जाँय। इन सन्धियों के रद्द होने से ही चीन क जहाजी चुंगी पर अधिकार करने का अवस मिलेगा और वह आयात-निर्यात के बन्धनों स मुक्त हो सकेगा। ※चीन का नुकसान विदेशियों वे रहने के विशेषाधिकार तथा व्यापारिक सुविधाओं के कारण है, उसकी क्षतिपूर्ति असमानता क सन्धियों के रद्द होने से ही हो सकती है।

※चीन कृषि-प्रधान देश है। वहां की ७०, ८० प्रतिशत प्रजा खेती पर निर्भर करती है इस कारण से वह की सरकार की सब से बड़ी आमदनी जहाजी चुंगी (Maritime customs) से होती है। उसपर बिना अधिकार किये केन्द्रीय शक्ति मजबूत नहीं हो सकती। उसके बिना कला-कौशल की वृद्धि नहीं हो सकती और न मजबूत सेना ही रखी जा सकती है। यह इस समय तक विदेशियों के कब्जे म था। चीन का कर्ज गत ७५ वर्षों में २५०००००० पौंड स ३०००००००० पौंड हो गया था। विदेशी साम्राज्यवादियों ने लड़ाइयों का हर्जाना तथा रेल इत्यादि बनाने का बहाना कर चीन पर यह कर्ज लाद दिया था। इसी की वसूली के लिए उन्होंने उसके नाविक कर पर अधिकार जमा लिया था। इन्हीं ऋणों के कारण चीन अनेक विदेशी बैंकरों के अधिकार में चला गया था।

२. लोगों के राजनैतिक अधिकार :

एक ऐसे साम्यवादी प्रजातन्त्र भावोंवाली केन्द्रीय शक्ति की स्थापना हो जिसमें लोगों को केवल प्रतिनिधि भेजने का ही नहीं परन्तु शासन में परिवर्तन करने, उस पर टीका-टिप्पणी करने और उसे बदल डालने तक का अधिकार हो।

३. लोगों के रहने का अधिकार :

लोगों की अवस्था सुधारने और उन्हें भर पेट अन्न-वस्त्र देने के लिए इस प्रकार के क़ानून रहेंगे जिससे मज़दूरों की रक्षा ❀ हो सकेगी, देश के सभी व्यवसाय—रेल, नौका, खान, बैंक आदि राष्ट्रीय कर दिये जायँगे, भोजन और जीवन की आवश्यक चीजों का नियंत्रण हो सकेगा और गरीबों को शिक्षित किया जा सकेगा।

चीन इस समय अपने उद्देश्यों में भले ही सफल नहीं हुआ परन्तु उसमें जो महान् शक्ति आगई थी उसके द्वारा इसे शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर लेने की आशा थी।

जब फ्रेंच और अंग्रेज साम्राज्यवादी श्याम को नोचने-खाने लगे तब उसने भी यथासाध्य यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि वह भी अपने को नये युग का राष्ट्र बना ले सकता है।

❀ इस समय चीन के मजदूरों की मजदूरी बहुत कम थी। वहां पर मजदूरी सस्ती होने का अर्थ ससार के मजदूरों का सस्ता होना था। चीन की क्रान्ति की सफलता-असफलता पर संसार के मजदूरों का भाग्य निर्भर था।

श्याम ने साम्राज्यवादियों की चालें समझ लीं, इससे उसका विशेष नुक़सान नहीं हुआ। वह अपना धन अपने देश में सुधार करने की दृष्टि से ख़र्च करने लगा। उसने अंग्रेजी ठीकेदारों से रेलें बनवाईं परन्तु उसके लिए अपनी प्रजा पर कोई नया कर नहीं बढ़ाया। उसने विदेशियों से कोई ऋण नहीं लिया फिर भी १८९६ से १९०४ तक के काल में उसने अपनी आमदनी दूनी कर ली। रेल बनाने के बाद भी उसके ख़जाने में काफी रुपया था। उसे जूएखानों से खासी आमदनी होती थी परन्तु इसे बुरी आदत समझ कर उसने हानि सहने के लिए प्रस्तुत हो इस प्रथा को अपने देश से उठा दिया। १९०४ के बाद से उसे १५ करोड़ रुपये ऋण लेने पड़े परन्तु उस बोझ से वह दबा नहीं। कुछ ही दिनों के बाद उसने उस ऋण का चार करोड़ रुपया चुका दिया। जो प्रांत उसके हाथों से निकाल लिये गये थे उनपर उसका कुछ भी बस नहीं था। उसके प्रांत उसकी विवशता के ही कारण निकले। जितना भाग उसका निज का बचा है उसमें वह साम्राज्यवादियों से बचने के लिए सभी प्रकार का सुधार कर रहा है। उसमें विदेशी लोगों को हस्तक्षेप नहीं करने देता। दूसरी ओर फ्रेंच और अंग्रेज साम्राज्यवादियों में भी झगड़ा है। इसका फायदा उठाना भी श्याम भलीभांति जानता है। श्याम में इस प्रकार के सुधार की भावना जागृत करने का श्रेय साम्राज्यवाद को ही है। उसकी जागृति इसी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ कार्य कर रही है।

अन्नाम और टौन्किन में फ्रांसीसी मनमाने कर लगाते थे और उन्हें दूसरे देशों के साथ व्यापार नहीं करने देते थे। वे

स्वयं खूब लूट मचाते थे परन्तु देशवासियों अथवा दूसरे राष्ट्रों को लाभ नहीं उठाने देते थे। वहां वाले लाओस की सेना में भर्ती होना अथवा वहां का शासन-व्यय अपने सिर लेना नहीं चाहते थे क्योंकि वहां की खानों और जंगलों से केवल फ्रांसीसियों का ही लाभ होता था। जब से जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की, फ्रांसीसियों को वहां राजद्रोह का सामना करना पड़ता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन दबाने के लिए ही १९०८ में फ्रांस को वहाँ पर अधिक सेना रखनी पड़ी थी और १९१० में विद्रोह दबाने के लिए विद्रोहियों को द्वीपांतरित करके गायना भेजना पड़ा था। १९११-१३ में भी खूब उपद्रव हुए। १९१३ में वहां के अनाय नगर में बम फेंका गया था। जिससे दो फ्राँसीसी और कई युरोपियनों की मृत्यु हो गई थी। यह उन षड्यन्त्रकारियों का कार्य था जो फ्रांसीसियों का शासन नष्ट करने के लिए षड्यन्त्र रच रहे थे।

अन्नाम और टौन्किन में—

१९०५ की लहर से कोरिया का भी बचा रहना असम्भव था। उसी के कारण युद्ध हुआ था। उसने अपने को जापानियों के अधीन जाते देख क्रान्ति आरम्भ कर दी। १९०६ से ही क्रान्ति शुरू हो गई। स्थान-स्थान पर उन्होंने विद्रोह के झण्डे खड़े किये और प्रमुख जापानियों का खून करना आरम्भ किया। जापानियों ने उसे सेना की सहायता से दबा दिया। १९०७ मे वहां के ३३ बड़े-बड़े नेताओं को फॉसी दे दी गई और सैकड़ों कोरियन जापानी सेना की गोली के शिकार हुए। इस मारकाट से कोरिया का

कोरिया में भी—

संगठित विद्रोह दब गया परन्तु अकेले-दुकेले जापानियों की हत्या जारी ही रही। कोरिया के लोगों के पास संगठित सेना नहीं थी इसलिए उनके विजयी होने की आशा नहीं थी फिर भी उन्होंने क्रान्ति जारी रखी। १९०८ में जापानियों-द्वारा बारह हजार कोरियन विद्रोही मार डाले गये। कोरियनों ने भी दो हजार जापानियों को मार डाला। विदेश में गये हुए कोरियन भी विद्रोही दल में शामिल रहते थे। इसी साल सैनफ्रांसिस्को नगर में दो कोरियनों ने जापानी सरकार के सलाहकार स्वेवेन्स महाशय को मार डाला। उन्होंने यह बात फैलाने की चेष्टा की थी कि जापान कोरिया में बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। १९०९ में प्रिंस ईटो की हत्या हर्बिन नगर में हो गई। कोरिया पर जापान का अधिकार करना अनिवार्य है, कहने के अपराध में जापान के प्रधानमंत्री की हत्या करने का भी प्रयत्न किया गया था। जापान ने विद्रोह पूर्णरूप से दबा देने की चेष्टा की परन्तु सफल नही हुआ। अन्त में उसने १९१० में कोरिया को अपने अधीन कर लिया।

चार वर्ष के लगातार दमन से कोरिया की क्रान्तिकारी शक्ति बहुत कम हो गई थी। उसके निज के पास न तो शक्ति थी और न उनका कोई सहायक ही था। पेट्रोग्रेड स्थित कोरियन राजदूत ने बड़ी चेष्टा की कि रूस कोरिया के जापान साम्राज्य में मिलाये जाने का विरोध करे परन्तु उसे सफलता नही हुई। देश की दुर्दशा वह सहन नहीं कर सका; उसने आत्महत्या कर ली। कोरियन लोग आगे चलकर किसी प्रकार का भयानक षड्यन्त्र न रचें इस-

दण्ड और पुरस्कार

लिए जापान ने एक दूसरी नीति का भी सहारा लिया। उसने वहां के राजा की पैतृक वृत्ति जारी रखी। पचहत्तर कोरियनों को बहुत बड़े-बड़े खिताब दिये और अपने साम्राज्य का सरदार बना लिया। जापान में ऐसे सरदारों की जितनी वृत्ति थी उससे चार, पांच गुनी अधिक वृत्ति इन सरदारों को दी जाने लगी। धन और उपाधियों के बल पर विजित देश को शांत रखने की नीति में जापान ने अंग्रेज़ों-द्वारा भारतवर्ष में लाई जानेवाली नीति का ही अनुकरण किया। जापान ने लोगों को इसीलिए खरीद लिया जिसमें कोरिया में जापानी शासन का विरोध न हो परन्तु इससे जापान का उद्देश सफल नहीं हुआ। कोरिया वाले जापानियों के घोर विरोधी और उनसे घृणा करने वाले बने ही रहे। १९११ में वहाँ एक षड्यन्त्र रचा गया और १९१४ में शंघाई की कोरियन गुप्तसभा ने भी विद्रोह खड़ा करना चाहा; जिससे पता चलता है कि वहाँ के लोग विदेशी शासन के विरोधी हैं। सारा एशिया जिस साम्राज्यवाद के खिलाफ़ क्रान्ति कर रहा था कोरिया भी उसी में शामिल था।

१९०४ से १९१४ तक के दस वर्षों मे साम्राज्यवादियो के खिलाफ सारे एशिया ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया था। यही समय एशियायी क्रान्ति का उषाकाल था। आरम्भ में एशियायी राष्ट्रो को सफलता भी मिली परन्तु आगे चलकर साम्राज्यवादियों ने उस सफलता को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया। एशियायी क्रान्ति इससे दब नहीं गई। एशियावासी अपनी गलतियों को देखने लगे और उसे सुधारने का प्रयत्न करने लगे। इतने में ही उन सब का ध्यान महासमर की तोपो के भयंकर गर्जन ने आकृष्ट किया।

[७]

महासमर की छाया में—

महासमर के समय एक ओर मित्र राष्ट्रों के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अपनी शक्तिभर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि महायुद्ध संसार के सबलों का अत्याचार दूर करने के लिए लड़ा जारहा है; संसार के छोटे राष्ट्रों को भी बड़े राष्ट्रों के ही समान जीवित रहने का अधिकार है, बीसवीं शताब्दी के सभ्य जगत् के लिए मत्स्य न्याय को आश्रय देना उचित नहीं है, इसलिए जर्मनी के विरुद्ध लड़ने के लिए संसार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी राष्ट्रों को एक तरफ मिल जाना चाहिए। दूसरी ओर महायुद्ध की तोपों के गोले आकाश-पाताल एक कर देनेवाली गर्जना करते हुए कह रहे थे—'यह पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी महायुद्ध है। स्वयं निष्कंटक अत्याचार करने के उद्देश से एक सबल कंटक को मार्ग से अलग करने के लिए हम भेजे जारहे हैं। भला किसी को अत्याचार से बचाने और किसी के कल-कारखानों को नष्ट करने से क्या सम्बन्ध ? हमे तो जो अपने चाँदी-सोने की चमक दिखलाकर खरीद लेगा हम उसी के हो जायँगे। इस समय मुझे बैंक वालों ने खरीद लिया है। बैंक ही आपस मे लड़ रहे हैं, उनका ही युद्ध महायुद्ध है। दूसरों की चिन्ता करना इस आर्थिक साम्राज्यवाद के युग में व्यर्थ है, अपना-अपना हित साधना चाहते हो तो

न्याय के नामपर !

आओ ! देखो ! यही आदर्श नमूना है।' युद्ध कुछ सप्ताहों तक तो युरोपियन शक्तियों के ही बीच रहा परन्तु शीघ्र ही एशिया की शक्तियां भी उसमें शामिल होने लगीं।

जापान के कान राजनीतिज्ञों की आवाज से भलीभांति परिचित थे। उसने अपना हित साधना उन्हीं लोगों से सीखा था। उसे यह अवसर स्वर्णयुग—सा मालूम हुआ। बहुत से जापानियों की सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। जापानी सैनिक अधिकारियों का विश्वास था कि विजय जर्मनी की ही होगी। इससे स्पष्ट था कि वह मित्र राष्ट्रों की सहायता करने के उद्देश से महायुद्ध में नहीं कूदता। रूस के साथ उसने युद्ध किया था, उस समय जिस सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से युरोपियन शक्तियाँ उसकी ओर देखती थीं उसी प्रकार की दृष्टि से वह इस समय युरोपियन शक्तियों की ओर देखने लगा। आखिर वह भी तो उनका ही शिष्य था ! अपने शिष्य होने का उसने प्रमाण भी दे दिया; वह यदि चाहता तो सहज मे ही पन्द्रह लाख सेना भेज सकता था परन्तु वह मूर्ख नहीं बनना चाहता था। यदि युरोपीय युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जाता तो उसे लाभ के बदले हानि ही हुई होती। युद्ध जितने ही अधिक दिनों तक चलता युरोपियन शक्तियाँ उतनी ही दुर्बल होती जातीं और वह मालामाल होता जाता। उसने वह अवसर चूकने नहीं दिया। वह दूर से युरोपियनों का नाश होना देख रहा था और धन से अपना घर भरता जाता था। युद्ध के कारण उसका व्यापार खूब चमक गया। युरोपियन कारखानों में जैसे माल तैयार होते थे वे सब जापानी कारखानों

जापान के लिए सुवर्ण-संयोग

में तैयार होने लगे। युद्ध-सामग्री के ठीके भी उसे काफी मिल रहे थे। मित्र राष्ट्रों की सहायता उसने युद्ध-सामग्री तैयार करने मे दी थी परन्तु वह सहायता भी आर्थिक लाभ के ही विचार से की गई थी।

युरोपियन शक्तियों के युद्ध में फंसे रहने के समय आर्थिक लाभ तो जापान कर ही रहा था, साथ ही उसने राजनैतिक लाभ सम्पादन करने की भी चेष्टा की। इंग्लैंड के साथी रहने की हैसियत से उसने जर्मनी से कहा कि वह प्रशांत महासागर से अपने सभी लड़ाके जहाज बुलाले और कियाचाऊ दे दे जो उचित समय पर चीन को वापस कर दिया जायगा। जर्मनी की ओर से कोई उत्तर न मिलने पर उसने २३ अगस्त को लड़ाई छेड़ दी और जर्मनी की अधिकृत भूमि पर कब्जा करने गया। लड़ाई के आरम्भ में जापान ने भी और साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह कहा था कि—"जापान किसी के प्रदेश पर कब्जा करने के लिए आगे नही बढ़ रहा है। चीन अथवा और राष्ट्रों की जितनी सम्पत्ति है उसमें वह हस्तक्षेप नहीं करेगा।" परन्तु जर्मन प्रदेशों पर अधिकार करने के बाद वह अपने कथन के ठीक प्रतिकूल कार्य करने लगा। अब उस प्रायद्वीप में जर्मन नही रह गये थे फिर भी जापानियों ने जर्मन रेलों और खानों पर अपना सैनिक अधिकार कायम रखा। इस समय उसने चीन को काफ़ी कमजोर पाया और इसीलिए उसके ऊपर अपने साम्राज्यवाद का भार डालने लगा।

कियाचाऊ पर अधिकार

चीन में इस समय कोई मजबूत शक्ति नहीं थी। प्रजातंत्र

चीन की इस समय अग्नि-परीक्षा चल रही थी। १८ जनवरी १९१५ को जापान ने अपनी इक्कीस शर्तें, जो पांच भागों में विभक्त थीं, चीनी सभापति के सामने पेश कीं। पहले वर्ग की शर्तों मे किया-

चीन के लिए जापान की इक्कीस शर्तें

चाऊ और शांटुंग के सम्बन्ध में जापान जर्मनी से जो कुछ भी समझौता कर ले उसे चीन के मान लेने की बात थी। दूसरे वर्ग में जापानियों को दक्षिण मंचूरिया और पूर्वी भीतरी मंगोलिया में खान खोदने, जमीन खरीदने, रेल और ऋण में पहला मौका देने, पोर्टआर्थर और डाल्नी का निन्नानवे वर्ष का पट्टा साथ ही अनु-टुंग, मकदन, दक्षिणी मंचूरिया और किरोनछांग-छुन रेलवे का पट्टा लिख देने की बात थी। इसका मतलब उन देशों पर जापान का आर्थिक एकाधिकार हो जाना और वहां पर जापानी प्रजा का विशिष्ट अधिकार हो जाना था। तीसरे वर्ग में कहा गया था कि यांग्सी तराई में लोहे के सब से बड़े चीनी कारखाने में केवल जापानियो का रुपया लगा करे और सारा नफा केवल जापानियों को ही मिला करे। चौथे वर्ग की शर्तों द्वारा चीन से स्वीकार कराया गया था कि वह चीनी समुद्रतट की कोई खाड़ी, बन्दर या टापू किसी दूसरी शक्ति को ठीके या किसी और शर्त पर नहीं देगा। पांचवॉं वर्ग ही सब से प्रधान था। उसके अनुसार चीन पूर्णरूप से जापान के संरक्षण मे चला जाता। उसमे कहा गया था कि चीन अपने यहाँ के राजनीति, अर्थ और सेना विभाग में जापानी परामर्शदाता नियुक्त करे, युद्ध आदि के लिए जितनी सामग्री की आवश्यकता हो उसका कम से कम आधा केवल जापान से खरीदे, जापान को रेल आदि के सम्बन्ध में

अधिकार दे, जापानी धर्म-प्रचारकों के लिए अपने देश में सुविधा कर दे और जापानी टापू फारमोसा के सामने के फुकीन प्रांत मे भी जापानियों का विशिष्ट अधिकार मान ले।

चीन के हाहाकार मचाने, सिर पटकने और हजार विरोध करने का परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। चार महीने बाद जापान ने उसे अन्तिम चुनौती दी। जापनियो की अंग्रेजों के साथ जो सन्धि हुई थी उसमे एक बात यह भी थी कि अन्य राष्ट्रों से जो सन्धियाँ होंगी वे एक-दूसरे को बतलाई जायँगी। परन्तु जापान ने इस समय उपर्युक्त पाँच वर्गों में अन्तिम को छिपा लिया और बाक़ी चार भेज दिये। उसे डर था कि अन्तिम वर्ग के कारण विदेशी शक्तियों को चिढ़ होगी क्योंकि उसमें उनका घाटा था। चुनौती के समय जापान ने सन्धि के पाँचवें वर्ग में थोड़ा परिवर्तन कर दिया, पहले चार वर्गों की शर्तों को पूरा-पूरा और पाँचवें की फुकिनवाली शर्त चीन को मानने के लिए बाध्य किया। चीन असमर्थ था। उसका कोई पक्ष लेनेवाला भी नहीं था। उसके सामने दो ही मार्ग थे। उसे या तो जापान की सभी शर्तें मानकर अपने आपको उसके अधीन कर देना था या उसके आक्रमण से अपनी तबाही कर लेनी थी। २५ मई १९१५ को सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गया। शांटुंग, फुकियान, पूर्वी मंगोलिया और दक्षिणी मंचूरिया जापानी अधिकारक्षेत्र में आ गये और चीन का बड़ा से बड़ा लोहे का कारखाना केवल जापान से ऋण लेनेवाला हो गया।

गरीब चीन ने घुटने टेक दिये

यूरोप की सभी शक्तियाँ दूसरे समय में, इन सन्धियों को

जबतक उन्हें भी उस में कुछ भाग नहीं मिलता, नहीं मानतीं परन्तु इस समय वे लड़ाई मे फँसी हुई थीं।

दुर्बल का सहायक कौन ?

जापान अपने कार्यों के लिए स्वतन्त्र था। वह यहाँ तक आगे बढ़ा कि जब मित्र-राष्ट्रो ने चीन को अपनी ओर से लड़ने के लिए कहा उस समय जापान ने उसका सख्त विरोध किया। जापान नहीं चाहता था कि चीन मे सैन्यसंगठन हो, वह मजबूत हो और शान्ति महासभा मे जापान को जो भाग मिले उसमें वह हिस्सेदार हो जाय। जब उसे विश्वास हो गया कि चीन किसी भी प्रकार अपने पिछले हक़ को वापस करने में असमर्थ रहेगा तब उसने चीन को युद्ध में शामिल होने दिया। अमेरिका के युद्ध मे शामिल होने के पहले ही चीन को बिना जताये सभी मित्र-राष्ट्रों ने लिखकर जापान को विश्वास दिलाया था कि जर्मनी से सन्धि होगी, उस समय शांटुंग प्रायद्वीप और भूमध्य-रेखा के उत्तर के जर्मन टापू जापान को मिल जायंगे। विश्वास दिलानेवाले राष्ट्रों में केवल इटली ने जबानी विश्वास दिलाया था। इस प्रकार की कार्रवाइयों से जापान को विश्वास हो गया था कि मित्र राष्ट्र उसका विरोध नहीं करेंगे। अमेरिका ने युद्ध मे सम्मिलित होने के पहले जापान की २१ माँगों का दबी जबान मे विरोध किया था परन्तु युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर उसने जापान के अधिकारो को मान लिया। १९१६ के नवम्बर में वाइकाउंट इशाई के साथ अमेरिकन सेक्रेटरी लैन्सिग की बात हुई उसमें लैन्सिग ने स्वीकार किया था कि चीन के विशिष्ट भाग में जापान को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। जापानी साम्राज्यवादियों को अमे-

रिकन सेक्रेटरी के कथन से अपनी साम्राज्यवादी चाल को आगे बढ़ाने का अच्छा मौक़ा मिला। उन्होंने उसका यह अर्थ लगाया कि 'सारे चीन-साम्राज्य में जापान को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिए।' चीन की अवस्था ख़राब होती जा रही थी; उसी समय उसे कुछ ऋण की आवश्यकता हुई। १९१८ में जापान ने ऋण दिया, चीन में रेल बनाने की सुविधाएँ प्राप्त कीं और गुप्त सैनिक सन्धि कर ली कि चीनी मंचूरिया में जापानी सेना रह सकती है।

जापानी साम्राज्यवादियों की चालें केवल चीन में ही काम नहीं कर रही थीं, रूस में भी उनका काम चल रहा था।

जापान की अन्य चाल

१९१६ में उन्होंने रूस से गुप्त सन्धि कर ली थी कि यदि कोई तीसरी शक्ति चीन में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहेगी तो दोनों शक्तियां मिल कर आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण कर बैठेंगी। १९१७ में रूस के बोल्शेविक हो जाने पर वह सन्धि प्रकाशित हो गई और जापान का एक साथी जाता रहा। जब साइबेरिया में मित्र-राष्ट्रों ने सेना भेजना निश्चय किया उस समय प्रत्येक राष्ट्र ७५०० से अधिक सेना नहीं भेज सकता था परन्तु जापान ने अनेक प्रकार की बहानेबाजियां करके ७०००० सेना पूर्वी साइबेरिया में भेज दी। जापान का आर्थिक साम्राज्यवाद काम करने लगा। वहां के बाजारों में जापानी चीजें बिकने लगीं। युद्ध के बाद जापानी साम्राज्यवाद ही एशिया में विजयी रहा।

चीन ने तीन वर्ष तक अपनी कोई नीति युद्ध के सम्बन्ध में निर्धारित नहीं की थी। वह अपने घरेलू मामलों में, और आगे

चलकर जापान के साथ झमेले में, पड़ा हुआ था। वहाँ के अधिकांश निवासी युरोपीय युद्ध से उदासीन थे। अभी तक युरोपियन शक्तियों ने उनके साथ जो दुर्व्यवहार किया था इससे वे समझ गये थे कि युद्ध के कारण कोई शक्ति उसके सम्बन्ध में अपनी नीति परिवर्तित नहीं करेगी। चीनवासी जापानियों के खिलाफ थे। जापान मित्र-राष्ट्रों की ओर से लड़ रहा था इसलिए वहाँ के सैनिक तथा अन्य लोग जर्मनी के ही साथ थोड़ी-बहुत सहानुभूति रखते थे, पर उनकी सहानुभूति का कोई विशेष महत्व नहीं था। मित्र-राष्ट्र जिन सिद्धांतों की रक्षा को युद्ध का मूल कारण बतला संग्राम में जूझ रहे थे उसी समय उन्हीं की ओर से लड़नेवाले दो राष्ट्र—जापान और रूस उन्हीं सिद्धान्तों के खंडन करनेवाले समझौते आपस में कर रहे थे। चीन के राजनीतिज्ञ जापान के शांटुंग से हटाने और उसकी इक्कीस माँगों की ज्यादती कम करने के विचार से मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे इसीलिए वे उनकी ओर से लड़ना भी चाहते थे। जापान अपना घाटा देख चीन को युद्ध में सम्मिलित नहीं होने देना चाहता था परन्तु यदि चीन की प्रबल इच्छा युद्ध छेड़ने की होती तो जापान कुछ नहीं कर सकता था। परन्तु उसकी इच्छा ज़बर्दस्त नहीं थी।

उधर न्याय की पुकार: इधर अन्याय का नाटक

चीन के युद्ध से उदासीन रहने से जर्मन लोगों को मध्य एशिया, तिब्बत, अफग़ानिस्तान, तुर्किस्तान आदि में बल्वा करा देने वाले विचारों के प्रचार करने में सुविधा होती थी। इससे भारतवर्ष

चीन को मिलाने के प्रयत्न

के विषय में भी खतरा था। चीन का जर्मन-एशियाटिक बैंक इन प्रचारकों के मार्फत युद्ध-सामग्री भी भेजता था। चीन के बन्दरगाहों मे नजरबन्द किये गये जर्मनी के व्यापारी जहाजों का उपयोग मित्र राष्ट्र नही कर पाते थे इसलिए उन्हे बड़ी असुविधा होती थी। वे चीन को अपनी ओर मिलाना चाहते थे इसीलिए उन्होंने चीनी लोगो को युद्ध मे शामिल होने के लिए बहुत-सी आशाएँ दिलाई थीं। उनसे कहा गया था कि बॉक्सर-विद्रोह की ऋण-वसूली में जर्मनी का जो भाग है वह रद्द कर दिया जायगा। मित्रराष्ट्रों को चुक्ता करने का भी उसका समय बढ़ा दिया जायगा। सन्धियों-द्वारा उसके कर वसूली में जो बाधाएँ आगई हैं वे भी दूर करदी जायँगी और चीन को अकेले किसी राष्ट्र से ऋण लेने की स्वतन्त्रता रहेगी। चीन-वासियों को इस बात का भी विश्वास दिलाया गया था कि यदि वे युद्ध मे शामिल हो जायँगे तो उन्हे शान्तिप्रस्थापन के समय जापानियों के कब्जे से शाटुंग प्रांत निकालकर भी दे दिया जायगा। इन्हीं आशाओं से प्रेरित होकर उत्तर-दक्षिण दोनों ही तरफ के लोग मित्र-राष्ट्रो की ओर से युद्ध में शामिल होना चाहते थे।

राष्ट्रपति विल्सन की बातों को चीनी लोग बड़े ही ध्यान से सुना करते थे। भविष्य के लिए उन्होंने जो सिद्धान्त बतलाये थे उनसे चीनी लोगो को पूर्ण आशा थी कि उन्हे साम्राज्यवाद के चक्र से मुक्ति मिल जायगी और दूसरी इच्छाएँ भी पूरी हो जायँगी। १९१७ के आरम्भ में अमेरिका ने जर्मनी की पनडुब्बी नीति का विरोध करने के लिए उससे लड़ाई छेड़ दी और संसार के सभी लड़ाई से उदासीन

चीन की युद्ध-घोषणा

राष्ट्रों को जर्मनी के खिलाफ युद्ध-घोषणा कर देने के लिए आमंत्रित किया। अमेरिका युरोप मे अपनी बहुत बड़ी सेना भेजने के पहले प्रशांत महासागर में अपना अधिकार सुरक्षित कर लेना चाहता था इसलिए उसे चीन को अपने साथ युद्ध में शामिल कर लेने की बहुत आवश्यकता थी। उसने चीन पर उदासीनता छोड़ने के लिए जोर डाला। अन्त मे चीन के नये राष्ट्रपति (?) ली-युआनहंग ने भविष्य के लाभ की आशा से १९१७ के अगस्त में जर्मनी के साथ युद्ध-घोषणा कर दी। युद्ध-घोषणा के समय चीन की आन्तरिक अवस्था अच्छी नहीं थी। वहांपर अनफूदल के अधिकार में अर्थ, सेना और आय के जरिये थे। इन लोगो को जापानी लोग भड़काया करते थे। कुछ ही दिनो बाद ये लोग जापानियों के पक्ष में हो गये। उन लोगों ने बोल्शेवी लोगों के आक्रमण का बहाना कर मंचूरिया के बीच ट्रांस-साइबेरियन रेलवे और पूर्वी चीनी रेलवे पर जापानियो को सैनिक अधिकार कर लेने दिया। इस दल के विरोध में दक्षिण चीन वाले उठ खड़े हुए। डा० सनयात सेन के नेतृत्व में उन्होंने कैंटन मे एक प्रतिद्वंद्वी सरकार क़ायम की। ये ही लोग चीन की सच्ची भलाई चाहते थे। जापानियों से ये बहुत चिढ़े रहते थे। १९१७ से ही चीन में गृह-कलह आरम्भ हो गया। कलह के कारण चीन मित्रराष्ट्रों की अधिक सहायता नहीं कर सका परन्तु उसका शामिल होना ही मित्रराष्ट्रों के लिए बहुत लाभ-दायक सिद्ध हुआ।

चीनी बहुत बड़ी-बड़ी आशाओ से प्रेरित होकर युद्ध में शामिल हुए थे। उन्हें अमेरिका पर पूर्ण विश्वास था। परन्तु

लैंसिंग और इसाई की बातें जिस समय प्रकाशित हुईं उस समय उन्हें भी सन्देह होने लगा कि अमेरिका भी महाशक्तियों की कूटनीति का अनुकरण करने लगा है। फिर भी चीन मित्र-राष्ट्रों का ही साथी रहा। देखें, उनका साथ देने से उन्हें स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्राप्त होता है वा नहीं; उस समय तक किये गये अत्याचार दूर किये जाते हैं वा नहीं; जिन महाशक्तियों ने धोखा देकर, डरा-धमकाकर या मार-पीट कर दूसरों के प्रदेश वा अधिकार छीन लिये हैं उनको उन्हे लौटा देने के लिए विवश किया जाता है वा नही! ये बातें तो चीनी लोगों के विश्वास करने लायक़ और बड़ी ही अच्छी थीं।

श्याम-द्वारा चीन का अनुकरण

चीन का ही अनुकरण श्याम ने भी किया। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चौदह सिद्धांत स्थिर किये और कहा कि उन्हीं सिद्धान्तों के लिए अमेरिका लड़ रहा है। उन्ही सिद्धान्तों से लाभ उठाने के लिए श्याम-वासी भी लड़ने लगे। उन्होंने सेना भेजी और धन से सहायता की। इंडोचीन, बरमा और मलाया वालो को मित्रराष्ट्रो की सहायता करनी पड़ी। अन्नाम और टौन्किन का भाग्य-निपटारा फ्रांस ने कर दिया। वहां के लोगों को जबर्दस्ती पकड़कर युद्ध में मजदूरों का काम करने के लिए भेजा। उनमें विरोध करने की पर्याप्त शक्ति नहीं थी इसीलिए फ्रांसीसी उन्हें पकड़कर दक्षिणी फ्रांस के दलदल में ठंड से ठिठुरते हुए कार्य करने के लिए ले गये।

भारतवर्ष के राष्ट्रीय नेताओं को आशा थी कि यदि भारतवर्ष ने अंग्रेजों की सहायता युद्ध के समय की तो उसे उसके

इनाम में औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जायगा। तत्कालीन अंग्रेजी मंत्रि-मंडल के आस्क्विथ प्रभृति लोगों के आशा दिलाने से उन लोगों का विश्वास पक्का होता जाता था। युद्ध के लिए भारतवर्ष से भी सहायता माँगी गई। अंग्रेजो को सहायता करने के पक्ष में देश के सभी बड़े-बड़े समझदार नेता थे। उन लोगो को अंग्रेज राजनीतिज्ञों की घोषणा पर दृढ़ विश्वास हो गया था। वे लोग भी समझने लगे थे कि वह युद्ध किसी देश पर विजय प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि सभी जातियों को अपने-अपने देश मे आप ही राज्य चलाने देने का अधिकार दिलाने के लिए चल रहा है। इसीलिए उन्होने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की; उन्होने अपने सभी विरोधों और शिकायतो को युद्ध के चालू रहने तक ताक पर रख दिया। लगभग दस लाख आदमी उन्होंने युद्ध के लिए भेजे। ये योद्धा किसी भी स्वतंत्र देश के सर्वश्रेष्ठ योद्धा दल से युद्ध मे कम साबित नही हुए। फ्रांस, गेलीपोली और मिश्र मे उन्होने बहुत बड़े-बड़े कार्य किये। मेसोपोटामिया पर अधिकार करने का श्रेय, वा एक दृष्टि से पाप, भारतीय लोगो को ही है। भारतवर्ष ने धन से भी अंग्रेजो की बहुत सहायता की थी। युद्ध के लिए उसने बीस करोड़ पौंड दिये थे। फिर भी अंग्रेजो को सन्तोष नहीं हुआ। वे जबर्दस्ती करने से बाज नही आये। युद्ध-व्यय की अधिकांश रक़म भारत-सरकार ने जबर्दस्ती भेंट कराई थी। उसमे भारतवासियों का कोई दखल नही था। इसके सम्बन्ध में इंग्लैंड के 'नेशन' पत्र ने 'साफ-बेईमानी' शब्द का उचित प्रयोग किया था। वह दान

युद्ध में भारत की सहायता

एक ऐसी कौंसिल का किया हुआ था जो न तो भारतवासियों की सच्ची प्रतिनिधि ही थी और न उसके हित का ही पूरा-पूरा ध्यान रखती थी। उस कौंसिल ने एक दरिद्र देश से धनवान शासकों के पास उतनी बड़ी रक़म भेजने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचा। देश के ऊपर अपने आपको और दूसरों को परतंत्र बनाने के लिए खर्च किये हुए युद्ध-व्यय का बहुत बड़ा बोझ तो था ही, उसी में यह रक़म और भी जोड़ दी गई। इतने बड़े अन्याय को भी भारतवासियों ने उस समय जैसे-तैसे सह लिया। इसका कारण था उनका धैर्य और विश्वास। इस प्रकार के धैर्य और विश्वास के टूटने का परिणाम क्या हो सकता है, उसमें कितनी शक्ति होगी, इसका अन्दाजा इसी समय की सहनशीलता से लगाया जा सकता है।

इस समय यहां पर भी राष्ट्रीय दल में कुछ ऐसे लोग थे जो अंग्रेजों की इस विकट परिस्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। वे चाहते थे कि अंग्रेज जब तक यद्ध में फंसे हैं यहां क्रान्ति हो जाय, और देश स्वतंत्र बना लिया जाय। कुछ अंग्रेज लेखक कहते हैं कि वे धन के लोभ में आकर जर्मनी से मिले हुए थे और उसकी विजय के लिए प्रयत्न कर रहे थे परन्तु यह बात सरासर झूठ है। वे लोग अंग्रेजों द्वारा बहुत दबाये गये थे। भारतवर्ष में दिन-दिन बढ़ता हुआ आर्थिक कष्ट उनकी आँखों के सामने सदैव नाचा करता था। अंग्रेजों के कृत्यों से उनके भीतर आग-सी लगी हुई थीं। वे प्रतिशोध लेना चाहते थे। धन की उन्हें कमी नहीं थी। उस समय इस प्रकार के जितने लोग थे वे सभी अच्छे खान्दान के

उग्रदल के विचार

और शिक्षित थे। पंजाब के कप्तान हीरासिंह को जर्मनी से भीख मांग कर पेट भरने की आवश्यकता नहीं थी। पकड़े जाने के समय उन्होंने अंग्रेज सर्जेंट को ठीक ही कहा था—"तुम्हारे जैसे अंग्रेजों को मैंने अपना नौकर रखा था।" बंगाल के शिक्षित नवयुवकों के लिए उस समय भी काफ़ी नौकरियाँ थीं। उस समय तक शिक्षित लोगो की बेकारी का प्रश्न नहीं उठा था। वे लोग अंग्रेजों को भगा देना चाहते थे क्योंकि उनके अत्याचारों से उनका हृदय जलता था। १९१५ में इन लोगों ने लाहौर से सिंगापुर तक क्रान्ति कर देने की योजना की परन्तु सफल नहीं हुए। देश के लोगों ने तो उनका साथ दिया ही नहीं, उनके कुछ साथियो ने भी उन्हे धोखा दिया; वे असफल हुए। इतनी बात अवश्य है कि ऐसे लोगो की संख्या बहुत ही कम थी। देश के अधिकांश लोगो को अंग्रेजो पर दृढ़ विश्वास था। वे सोचते थे कि उनकी सहायता से ही स्वराज्य मिल जायगा इसीलिए वे क्रान्ति मे तो भाग नही ही लेते थे, चुप भी नही बैठते थे, वरन् अंग्रेजो की सहायता करते थे। भारतीय मुसलमानो के लिए यह विकट परिस्थिति का समय था। उन्हें अपने समान धर्मावलम्बी तुर्कों से लड़ना पड़ता था फिर भी वे हिचकते नहीं थे। इसका एकमात्र कारण अंग्रेजो पर विश्वास था। तुर्कों के जेहाद और 'मुसलमानपन' का उनपर कुछ भी असर नहीं होता था। अपने अधिकार प्राप्त करने की प्रबल लालसा हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जातियों मे थी परन्तु वे उस भाव को दबाये हुए थीं। हिन्दू-मुसलमान दोनों अंग्रेजो पर भरोसा करके बैठे थे। उन्हें स्वप्न मे भी इस बात की आशा नहीं थी कि उनकी

सारी आशाओं पर अंग्रेज साम्राज्यवादी पानी फेर देंगे।

तरुण तुर्कों द्वारा की गई तुर्की की क्रान्ति के बाद और महायुद्ध के पहले वहाँ के सभी अनुभवी राजनीतिज्ञ अनुभव करने लगे थे कि उन्हें अपनी रक्षा करने के लिए युरोप की किसी न किसी बड़ी शक्ति से समझौता कर लेना चाहिए। वे सबसे पहले रूसी आक्रमण से बचने के लिए इंग्लैंड और फ्रांस से मिलने की चेष्टा करते रहे। यदि उन्हे यह विश्वास दिलाया जाता कि रूस के आक्रमण का वे दोनों शक्तियाँ विरोध करेंगी तो तुर्क उनके ही तरफ़ से लड़ते। तुर्क लोगों से और आस्ट्रिया से अनबन थी क्योंकि बोस्निया और हर्जगोविना पर उसने अधिकार कर लिया था। जर्मनी और आस्ट्रिया उसे इटली के आक्रमण से नहीं बचा सके इसलिए भी उन दोनों से तुर्कों को चिढ़ थी। दजमल पाशा की याददाश्तो में इस बात का काफी सबूत मिलता है कि वे लोग इंग्लैंड और फ्रांस से मिलना चाहते थे परन्तु ये दोनों राष्ट्र रूस के सहायक थे और भविष्य में तुर्की को युरोप से निकालकर रूस को उसका स्थान दे देना चाहते थे इसलिए तुर्क लोगों का प्रयत्न सफल नहीं हुआ।

युद्ध के समय तुर्क लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। इस समय उनके सामने एक ही प्रश्न था कि आत्मरक्षा किस प्रकार की जाय। रूस उनका सबसे बड़ा शत्रु था। वे समझते थे कि यदि रूस विजयी हुआ तो तुर्क अपनी रक्षा और अधिक दिनों तक नहीं कर सकेंगे। आरमीनिया को तुर्कों के खिलाफ़ भड़काने वाले रूसी ही थे। वहां जो कत्लेआम हुआ उसके उत्तरदायी भी रूसी ही हैं। तुर्क लोगों को इस

बात के बहुत प्रमाण मिल गये थे कि रूस इस बार कुस्तुनतुनिया और दरेदानियाल लेना चाहता है। इसके विषय में अंग्रेज और रूसी लोगों के बीच ठीका—पट्टा हो रहा है, यह भी वे समझते थे। फ्रांस और इटली के बीच की गुप्त सन्धि का भी उन्हें पता चल गया था। वे समझ गये थे कि इटली जब कभी उनका कोई प्रदेश दबाना चाहेगा तो फ्रांस उसमे बाधक नहीं होगा। अंग्रेजों की नीयत का पता उन्हे १९०४ में ही लग गया था। उन लोगों ने फ्रांसीसियों से मिलकर ऐसा उपाय रचा कि मिश्र तुर्कों के हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में चला गया। अंग्रेज मिश्र पर पूरा-पूरा अधिकार और दक्षिणी एशिया में अपने पैर जमा लेने के लिए तुर्की को हर तरह से रूस के हाथ में छोड़ देने के लिए तैयार थे। इन कारणो से मित्र-राष्ट्रों के साथ मिलकर रहने की अपेक्षा जर्मनी के साथ मिलकर रहना ही तुर्कों ने अधिक अच्छा समझा। जिस समय वहां पर राष्ट्रीयता के भाव बढ़ रहे थे और तरुण तुर्कों ने नवीन शासन स्थापित किया था उस समय से ही जर्मनी और राष्ट्रों की अपेक्षा उसके साथ अधिक सहानुभूति रखता था। मित्र राष्ट्रों को तुर्की के उन भावों से डर था। खासकर अंग्रेजों को भय था कि उनकी ही देखा-देखी कहीं उनके अधिकृत दूसरे देश भी वैध-शासन स्थापित करने का उद्योग न करने लग जायँ। जर्मनी ने उस मौके का बहुत फायदा उठाया। उसने युद्ध के समय रूस का संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए तुर्की को अपनी ओर मिलाये रखना आवश्यक समझा। तरुण तुर्कों की सहानुभूति जर्मनी के साथ बहुत अधिक थी। १९१४ मे युद्ध छिड़ने पर

उन्हीं लोगों के, खास कर युद्ध-सचिव अनवरपाशा के जोर डालने से ही, तुर्की युद्ध में शामिल हुआ। तुर्की में सैन्य-शिक्षा देने के लिए भी जर्मन ही अफसर रहते थे। उनका बहुत प्रभाव था। युद्ध में शामिल होने के लिए जर्मनी ने तुर्कों को बहुत-सी आशाएँ भी दिलाई थीं। विजय होने पर तुर्की को ईजियन समुद्र के साइप्रस और दूसरे टापू, जिनपर अंग्रेज और इटालियनों का क़ब्ज़ा था, लौटा दिये जायंगे; एशिया मे तुर्क राज्य की सीमा बढ़ा दी जायगी। मिश्र पर तुर्की का पूर्ण अधिकार होने को था; काकेशश का पूरा प्रांत जिसमें तेल की खानें हैं तथा बाकू और बातुम भी टर्की को ही मिल जाने वाला था। जर्मनी की इन बातों पर बहुत से तुर्कों का विश्वास नहीं था फिर भी वे लोग यह समझते थे कि जर्मनी के साथ मिले रहने से इस्लाम के भाव का प्रचार किया जा सकेगा और तूरानियन (जिसके एक भाग तुर्क थे) जगत में नया युग लाया जा सकेगा। इन्हीं कारणों से तुर्की जर्मनी की ओर जा मिला और सितम्बर १९१४ में युद्ध-घोषणा कर दी।

मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल न होने के और तात्कालिक कारणों के साथ एक कारण यह भी था कि इंग्लैंड ने तुर्कों के जहाज़ रोक लिये थे। तुर्क लोगों को युनानियों का बहुत भय रहता था। इसलिए उन्होंने घर-घर से चन्दा करके अपने लिए इंग्लैंड में दो जहाज़ बनवाये। ग्रेटब्रिटेन ने युद्ध-घोषणा के एक दिन पहले उन जहाजों को जब्त कर लिया। जर्मनी ने इसी मौके पर अपने दो जहाज दर्रेदानियाल में भेज दिये। उन जहाजों को तुर्कों ने खरीद लिया और कृष्णासागर

में रूसियों से भिड़ गये। लड़ाई छिड़ गई।

तुर्की के युद्ध मे सम्मिलित होने से ग्रेटब्रिटेन को बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। जर्मनी आरम्भ से ही इसी प्रयत्न में लगा था कि तुर्की ही हार-जीत का निपटारा करे। तुर्की के ही मिलजाने से रूसियों का मार्ग बंद हो गया और मित्र राष्ट्रों को अपनी बहुत-सी सेना काकेशस, फारस, मेसो-पोटामिया और मिश्र में लगा रखनी पड़ी। इससे मित्र राष्ट्र बड़े ही हैरान हुए।

यह बात सबों को ज्ञात है कि युद्ध मे जर्मनी की हार हुई। इस हार से १९१८ में तुर्क-साम्राज्य के नाश की सम्भावना आ पहुँची। ऐसी परिस्थिति आ पहुँची कि उसका नक्शे मे कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता परन्तु राष्ट्रीयता का भाव क्या इतना दुर्बल होता है ?

युद्ध के समय अरबों से अंग्रेजो ने बहुत फायदा उठाया। अरब लोग तुर्कों से पहले से ही चिढ़े थे। अंग्रेजो ने उन्हे और भी अधिक भड़काया और तुर्की शासन के खिलाफ वहां पर बगावत करादी। अरब के छोटे-छोटे शासको से भी अंग्रेज अपना बहुत फायदा निकालना चाहते थे। उन लोगों को युद्ध के समय केवल तुर्की के खिलाफ भड़काकर ही उनका कार्य सिद्ध नही हो सकता था। उनसे बड़ा काम वे यह निकालना चाहते थे कि उनके द्वारा भारतीय मुसलमानों की अंग्रेजी शासन मे श्रद्धा का भाव बढ़ा लिया जाय। इसीलिए बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञ तुर्की के चंगुल से अरब को निकालने के परोपकारी कार्य मे लग गये। प्रमुख अरब अधिकारियों को

तोहफा पहुँचा कर, उन्हे सालाना वंधी हुई रक़म देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। तुर्कों ने इसी विषय में कहा है 'यह अरब अधिकारियों को घूस के रूप में दिया जाता था जिसमें वे अंग्रेजों की इच्छानुसार चलें।'

युद्ध के समय मक्का के शरीफ़ हुसैन इस बग़ावत के नेता बनाये गये। उन्हें बहुत-सी आशाएँ दिलाई गईं। उनसे कहा गया कि अरब स्वतंत्र कर दिया जायगा। अरब साम्राज्य के सभी राष्ट्र स्वतंत्र होकर एक सूत्र में बंध जायंगे और उन सबों का एक गुट्ट (Confidracy) बन जायगा। इसी समय तुर्कों की ओर से थोड़ी ज्यादती की गई। तुर्की के सीरिया स्थित सेनापति द्जमलपाशा ने मित्रराष्ट्रों के साथ मित्रता करने के अपराध में अरब के थोड़े से राष्ट्रीय नेताओं को दबाया। इससे अरब लोग और भी अधिक भड़क गये। मक्का के शरीफ़ हुसैन मिश्र के अंग्रेजी हाईकमिश्नर से बातें करने लगे। इन दोंनो के बीच किसी सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर नही हुआ। साधारण चिट्ठी-पत्री से ही सभी बातें तै हो गईं। बात-चीत लगभग एक साल तक चलती रही। अंग्रेजो ने वादा किया कि 'ग्रेट ब्रिटेन उस प्रकार की सन्धि में कभी हाथ नहीं बंटायगा जिसमें जर्मन और तुर्की लोगों के अधिकार से अरबों के स्वतंत्र होने की बात न हो। अरब साम्राज्य का विस्तार मक्का के शरीफ़ के कथनानुसार तो रहेगा ही साथ ही उसमें मर्सिना, एलेक्जैंड्रट्टा के जिले (जिनमें अधिकतर तुर्क बसते थे) और सीरियन लिट्टोरल उसमे मिला दिये जायंगे। इसके बदले अरब मेसोपोटामिया में अंग्रेजों के हितों का ख़याल रखेंगे और उनसे राज्य-

कार्य में सलाह लेते रहेंगे।' अरबों को इस बात पर विश्वास हो गया कि अंग्रेजों की सहायता करने पर उन्हें अवश्य ही स्वतंत्रता मिल जायगी।

मक्का पर वहाबी लोगों के आक्रमण का भय था। वहाबी लोगों का जोर नज्द में बहुत अधिक था। वे लोग सदा मक्के-मदीने पर कब्जा करने की फिक्र में रहते थे। उन लोगों के नेता इब्न-सऊद थे। अंग्रेजों को भय हुआ कि कहीं युद्ध के समय मक्के-मदीने पर आक्रमण कर दिया गया तो बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा। उन्होंने उन्हें रुपया देकर चुपचाप बैठे रहने के लिए कहा। इब्नसऊद ने रुपया ले लिया और उससे अपनी सेना संगठित की। हेजाज पर इस समय उसने आक्रमण नहीं किया।

अंग्रेज एक तरफ अरबों को उपर्युक्त प्रकार की उज्ज्वल आशाएँ दिला रहे थे और दूसरी ओर गुप्त सन्धियो द्वारा अरब को आपस मे बांट लेने की बातें कर रहे थे। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच साइस-पीकौट समझौते के अनुसार सारे अरब का बंटवारा हो गया। ये समझौते केवल हुसेन से ही नही बल्कि सारे संसार से गुप्त रखे गये। १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वे सभी सन्धियां प्रकट कर दी गईं।

इस समय अरब में क्रान्ति करा देने के लिए मिश्र से बहुत से अंग्रेज अफसर भेजे गये थे। उन्हीं अफसरों मे प्रसिद्ध कर्नल लारेंस भी थे। इन लोगों ने अरबों को भुलावे में डाले रखने का भरपूर प्रयत्न किया। ऐसे कार्यों में अंग्रेजी अधिकारी बड़े ही दूरदर्शी होते हैं। लोगो से सहायता लेने के विषय में किस

अंग्रेजों की कूट चालें

प्रकार धन खर्च करना चाहिए इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। लोगों की सहायता मिलने पर अपना लाभ सिद्ध कर लेते हैं। कर्नल लारेंस ने अरबों को भड़काने में एक करोड़ पौंड खर्च किये परन्तु अरबों ने युद्ध के समय अंग्रेजों की जितनी सहायता की उसकी तुलना में ये रुपये अधिक नहीं थे। इन रुपयों को सूद-सहित वसूल कर लिया गया, ऐसा समझना चाहिए।

क्रान्ति करने के लिए हुसैन के लड़के अमीर फैजल की अधीनता में एक सेना तैयार की गई। अंग्रेजो के तरफ से जेनरल ऐलन्बी ने अपनी सेना सहित उनकी सहायता की। शरीफ की चार हजार सेना ने एक पूरी तुर्की सेना को मदीना और हेजाज रेलवे के पास रोक रखा। यदि यह तुर्की सेना पैलेस्टाइन पहुँच जाती तो ऐलेन्बी का आगे बढ़ना कठिन हो जाता। कर्नल लारेंस ने एक करोड़ पौंड खर्च करके युद्ध का दो दिन का व्यय कम कर दिया तो उससे लाभ भी कुछ कम नहीं हुआ। ऐलेन्बी की जीत लारेंस की नीति के कारण हुई। अरब लोगों ने तुर्की को लड़ाई के मैदान से हटा दिया। १९१६ के अन्त तक लगभग सभी प्रांतों से तुर्की का प्रभुत्व उठा दिया गया। जितने प्रांतों से अधिकार उठता जाता था उनमें कर्नल लारेंस आदि तुर्कों के खिलाफ खूब भाव भर दिया करते थे। १९१७ मे इन लोगों का जेरुसलम पर भी अधिकार हो गया। जो प्रांत एक समय तुर्की के अधीन थे—सीरिया, पैलेस्टाइन, हेजाज, मेसो-पोटामिया, साइलेशिया तथा अनाटोलिया का कुछ भाग और कुस्तुन्तुनियां तक इस समय अंग्रेजो के अधिकार में आ गया। अंग्रेजो ने उन्हे दुश्मनों का प्रांत कहकर उन पर अधिकार

कर लिया। अरब अभी भी आशा लगाये बैठे थे।

युद्ध के समय तक फारस का बंटवारा अंग्रेज और रूसियों के बीच हो चुका था, वह बिल्कुल कमजोर भी बनाया जा चुका था। युद्ध आरम्भ होने पर उसमें किसी तरफ भी शामिल होने की शक्ति नहीं थी। लड़ने वाले दलों मे किसी के साथ भी उसकी विशेष सहानुभूति नहीं थी फिर भी वह समझता था कि यदि रूस और ग्रेटब्रिटेन के पक्ष की विजय हुई तो उसके परिणाम-स्वरूप उसका बंधन और भी दृढ़ हो जायगा। फ़ारस ने युद्ध मे तटस्थ रहने की घोषणा की परन्तु तटस्थ रहने पर भी वह युद्ध की किसी प्रकार की खराबियों से वचा नहीं रहा।

फारस की दुर्दशा

युद्ध आरम्भ होते ही रूस ने काकेशिया से उत्तरी फ़ारस मे अपनी सेनाएँ भेज दी जिसमें उस ओर से तुर्कों पर हमला किया जा सके और असीरियन लोगों को तुर्कों के ख़िलाफ भड़काया जा सके। फारस ने रूस से सेना हटाने के लिए कहा जिसमे उसका देश तुर्की और रूसी लोगों के लड़ने का रणक्षेत्र न बन जाय। सेना हटाना तो दूर रहा रूस ने वहां पर और भी अधिक सेनाएँ भेज दीं और सैनिक कार्य के लिए वहां पर अपना एक अड्डा भी वना लिया।

तुर्की और फारस की सीमा पर तुर्कों को रूसी लोगो का भय पहले से ही था। वे लोग भी मध्यएशिया में रूसियों के खिलाफ बग़ावत फैलाने और फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से अंग्रेजो पर चढ़ाई करने के लिए आजरबायजान में घुस आये। फारस का सब से हराभरा प्रांत यही था। तुर्की

और रूसी लोगों ने उसे रणक्षेत्र बनाकर सारे प्रांत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी समय जर्मन और तुर्कों ने अरबिस्तान में उपद्रव खड़ा करने के लिए अपने कुछ आदमी वहां पर भेजे। उन्हें रोकने के लिए अंग्रेजों ने फ़ारस की खाड़ी के बन्दरों में सेना भेज दी; इससे दक्षिणी फ़ारस भी रणक्षेत्र बन गया। ऐंग्लोपर्शियन कंपनी की तेल की खानो की रक्षा के लिए भी अंग्रेजों ने अपनी बहुत सी सेना फारस में उतार रखी थी। राजधानी में दोनों ही दलों के लोग षड्यंत्र रचा करते थे। फारस की तटस्थता अथवा वहां के निवासियों की भलाई पर कोई भी ध्यान नहीं देता था। १९१५ में तुर्कों ने पश्चिमी फ़ारस में घुसकर वहां के अनेक सरदारो को मार डाला। उन्होने एक नगर भी जला दिया। एक जातिवालों को उनका युद्ध में तटस्थ रहना अपराध बतलाकर मार डाला। इसी साल राजधानी में रूसी सेना ने घुसकर तुर्की राजदूत को पकड़ लिया। जर्मन सलाहकारों की बात मानकर शाह ने राजधानी इस्फ़हान में ले जाने का विचार किया परन्तु इसी समय रूस और इंग्लैंड ने उन्हे यह विश्वास दिलाया कि सेनाएँ राजधानी पर अधिकार नहीं करेंगी, इसीलिए राजधानी बदली नहीं गई।

इसी बीच ग्रेटब्रिटेन ने सर पर्सी साइक्स की अधीनता में कुछ भारतीय सेना दक्षिणी फारस में शान्ति-स्थापन और व्यापारिक मार्ग खोल देने के लिए भेजी। वे शीराज पहुँचे और एक सेना वहाँ पहरा देने के लिए नियुक्त की। उस सेना का आतंक इतना अधिक बढ़ गया था कि लोग जहन्नुम में जाने की अपेक्षा भी अंग्रेजों से अधिक डरने लगे। १९१७ में पर्सी

साइक्स ने अपने को तेहरान की सरकार से दक्षिणी और मध्य फ़ारस की सेना का सेनापति मनवाया और ग्यारह हज़ार फ़ारसी, पांच हज़ार पहाड़ी और थोड़े से हिन्दुस्तानी और अंग्रेज सेनाओ को अपनी अधीनता में संगठित किया। अंग्रेजों का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के ख़िलाफ़ था, फिर भी अपनी पुष्टि के लिए अंग्रेज़ कहा करते हैं कि यदि वे वैसा नही करते तो जर्मनी उसी प्रकार की कार्रवाई द्वारा लाभ उठा लेता। अंग्रेजो की दलील ठीक इसी प्रकार की है कि आपकी चीज़ कोई डाकू ले जायगा इसलिए हमही पहले से उस पर अधिकार क्यों न जमा लें ? साम्राज्यवादियो के लिए इस प्रकार की दलीलो का आविष्कार करना कोई आश्चर्य की वात नहीं है। स्वार्थ जो न कराये वही थोड़ा है। इस समय फारस की जो दुर्दशा हो रही थी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। युद्ध मे सम्मिलित नहीं रहने पर भी उसकी बहुत अधिक दुर्दशा हुई। देश पहले बहुत सम्पन्न था परन्तु युद्ध के समय लूटमार होते रहने से १९१७-१८ में वहां पर भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय कितने मरे इसकी संख्या निश्चित नही है फिर भी इतना अवश्य ज्ञात है कि इससे सारे फारस के लोग पीड़ित थे और खास कर उत्तर फारस की तो अवस्था बहुत ही खराव थी। उत्तरी फ़ारस में रूसी सेना ने देश में क्रान्ति होने के कारण तनख़ाह नही मिलने पर लूट मचाई थी। कुर्द, तुर्कमान और असीरियन लोगो ने भी लूटमार ही अपनी जीविका वना ली थी। सर्वनाश होने में जो कुछ कमी थी उसे अंग्रेजो ने पूरा कर दिया। १ अगस्त १९१७ को फारस के अपनी रक्षा के उपाय

करने पर मित्रराष्ट्रों की ओर से कहा गया कि 'फारस स्वीकार करले कि उस पर रूसी और अंग्रेजी सेना का आधिपत्य है। वह अपने यहां नई सेना भर्ती करे जो उत्तर में रूसी और दक्षिण में अंग्रेज अफ़सरो की अधीनता में रहे। अर्थ-विभाग का सारा अधिकार अंग्रेज और रूसी लोगों के अधिकार मे रहे। यदि ये बातें फारस नहीं मानेगा तो उसके साथ भी युद्ध छेड़ दिया जायगा। १९१५ में ही अंग्रेजी रूसी सन्धि द्वारा यह भी मनवा लिया गया था कि उस समय अंग्रेज और रूस के अधिकार में जितने प्रांत हैं वे फिर फारस को लौटाये नहीं जायँगे। १९१८ में तुर्क और अंग्रेज फिर से आजरबायजान में घुसकर युद्ध-समाप्ति तक लड़ते रहे। रूस में राज्य-क्रांति हो जाने के कारण फारस की दुर्दशा कुछ कम हुई फिर भी उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। लड़ाई के बाद वह विजित वा विजेता कुछ भी नहीं रहा। उसके आदमियों के प्राण व्यर्थ ही नष्ट हुए। युद्ध के समय वहां वालो की अवस्था पशुओ से भी बदतर हो गई थी। उन्हे जो चाहता था पकड़ कर अपनी ओर से लड़ने के लिए बाध्य करता था। सारा देश अंग्रेजों के अधीन दिखलाई देता था और मालूम पड़ता था कि वे ही उसके भाग्य-निर्णायक होंगे।

युद्ध के समय अफग़ानिस्तान की अवस्था बहुत अच्छी रही। महायुद्ध में रूस और ग्रेटब्रिटेन एक ही तरफ थे इसलिए वहाँ पर चालें नहीं चली गईं। तुर्की ने जेहाद बोल दिया था; उस समय समान धर्मावलम्बी होने के कारण अफग़ानों का भी उनके साथ मिलजाना स्वाभाविक था परन्तु कई कारणों से ऐसा

नहीं हो सका। अंग्रेज वहाँ के अमीर हबीबुल्लाखाँ को पहले से ही रुपया देते आते थे इसलिए वे अंग्रेजों के ही पक्ष के थे। १९१५ के अन्त में जर्मनी ने अफ़ग़ानिस्तान को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने के लिए अपने कुछ दूत भेजे थे परन्तु उन्हे कोई सफलता नहीं मिली। १९१९ तक अंग्रेजों के लिए अफ़ग़ानिस्तान में कोई भय नही था। तिब्बत में भी जर्मन दूतों को सफलता नहीं मिली। तिब्बत ने अंग्रेजों की सहायता की। युद्ध के समय लड़ने के लिए उसने अपने कुछ सैनिक भेजे थे।

इस समय तरुण तुर्कों को छोड़कर एशिया के प्रत्येक राष्ट्र ने युरोपियनो पर विश्वास करके उनकी सहायता की। अब देखना है कि उन लोगों ने उसका समुचित पुरस्कार दिया अथवा धोखा किया। उन लोगो ने यदि उन्हे पुरस्कार दिया तब उनके भीतर उनके प्रति पहले से ही जो क्रान्ति के भाव आ रहे थे वे दब जायँगे। यदि उन्होने विश्वासघात किया तो सारा एशिया एक नई लहर से लहराने लगेगा। महायुद्ध ने और कुछ किया हो वा न किया हो साम्राज्यवाद का नग्नरूप लोगों के सामने खोलकर रख दिया।

१९०५ में जापान ने युरोपीय राष्ट्रों को चुनौती दी थी, जिसका परिणाम हम लोगो ने पिछले अध्यायों में देखा है। इसबार युद्ध में सम्मिलित होकर उसने पुनः युरोपियन लोगो को चुनौती दी। पहली बार उसने रूस को एशिया से निकाल दिया था। इसबार उसने प्रयत्न किया कि जर्मनी का एशिया में कोई उपनिवेश न रह जाय। उसका अन्तिम उद्देश यही है कि एशिया से युरोपीय राष्ट्रों का प्रभुत्व उठ जाय। महायुद्ध

के समय में उसने अवसर आया हुआ समझा और एक युरोपियन राष्ट्र के चंगुल से एशिया को बचाया।

जापान ने चीन के ऊपर आक्रमण किया इसी से उसके उपयुक्त भाव में शंका उत्पन्न होती है परन्तु शंका करने की बात नहीं। जिस समय चीन-जापान युद्ध हुआ था उस समय समझदार जापानी यह नहीं समझते थे कि उन्होंने चीन में विजय पाई है। विजय-स्मारक बनने का प्रस्ताव उपस्थित होने पर जेनरल काक ने बड़े ही आवेशपूर्ण शब्दों में कहा था—'स्मारक कै युद्ध हम लोगों ने केवल इस उद्देश से किया है कि हम एक साथ मिलकर उन्नति करें। हम अपने उद्देश में स हुए। परिणाम विपरीत ही हुआ है। युरोपियन लोगों को बांट लिया है।' जापान ने चीन के साथ इसी दृष्टि किया था जिसमें चीन पर रूस का विशेष प्रभाव न स जापान के ही बलिदान के प्रभाव से एशिया में जागृति हु

* लेखक के विचार से हम सहमत नहीं है। जापान हो या अन्य यूरोपीय राष्ट्र, सभी साम्राज्यवाद के नशे में प्रमत्त थे। उन्होंने जो कुछ किया, अपने स्वार्थ के लिए किया। हाल की घटनाएं इसे स्पष्ट कर देती हैं।

—सम्पादक।

[८]

शांति-स्थापन वा कलह-आवाहन ?

बोल्शेवी लोगो द्वारा अनेक गुप्त सन्धियों के प्रकाशित कर दिये जाने से एशियायी राष्ट्रों का मित्रराष्ट्रों पर से बहुत-कुछ विश्वास उठ गया था फिर भी १९१९ की पेरिस की शांति महासभा से उन लोगों को कुछ उम्मीद थी। राष्ट्रपति विल्सन पर उन लोगों का बहुत अधिक विश्वास था।

पति विल्सन में
नियों का विश्वास

जिस समय शांति महासभा आरम्भ होने को थी उस मय चीनवाले राष्ट्रपति विल्सन को साक्षात् धर्म का अवतार समझते थे। उनके विषय में यह शंका हीं नहीं उठती थी कि वे भी साम्राज्यलोलुप युरोपीय शक्तियो के फेर में पड़ कर अपने सिद्धान्तों से मुँह मोड़ लेगे। चीनी समझते थे कि शांति महासभा में वे जापान, ग्रेटब्रिटेन और दूसरी युरोपीय शक्तियो के अत्याचारो का विवरण सुनायंगे; उस समय उनकी वातें लोगों को माननी पड़ेंगी और उनके साथ जितने अन्याय हुए हैं, सबो का समुचित उपाय कर दिया जायगा। उनका विश्वास था कि सन्धि राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों के अनुसार ही होगी। मित्र-राष्ट्रो ने संसार में न्याय और शांति-स्थापन के लिए जिन उच्च सिद्धान्तों की घोषणा की थी उन्हीं पर विश्वास करके चीनी शांति महासभा में आये थे। चीनी प्रतिनिधियो

ने अपनी मांगों में शांटुंग वापिस दिलाये जाने की मांग पेश की थी। जर्मनी का नुकसान जिन मांगों से होता था उससे युरोपियन राजनीतिज्ञ प्रसन्न होते थे; वे लोग चाहते थे कि चीन में जर्मनी ने जितने अधिकार प्राप्त किये हैं वे नष्ट हो जायं; उसका चीन में व्यापार-सम्बन्धी वा अन्य कोई विशिष्ट अधिकार न रह जाय; पेकिंग की वेधशाला के यंत्र वह वापिस कर दे; बाक्सर युद्ध के हर्जाने का उसे कुछ भी भाग नहीं दिया जाय। युरोपियन राजनीतिज्ञ अपने शत्रुदल के प्रत्येक व्यक्ति को चीन से बाहर करना चाहते थे परन्तु मित्रराष्ट्र खुद उसी प्रकार की जबर्दस्ती से अपनाये हुए अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नही थे। उन लोगों की क्याऊचाऊ और शांटुंग के सम्बन्ध में जो गुप्तसन्धि हुई थी उसे भी मनवाने के लिए कमर कसे हुए थे। अमेरिका नहीं चाहता था कि प्रशांत महासागर में जापान की शक्ति बढ़े; उसने गुप्त सन्धि का विरोध किया परन्तु युरोपियनों के सामने उसकी कुछ भी नहीं चली। युरोपियन राजनीतिज्ञों ने साफ शब्दों मे कह दिया कि 'हमारे ये समझौते पहले हुए हैं, उनका विचार हो लेगा तब आपकी बातें सुनी जायँगी। आपको इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।' राष्ट्रपति विल्सन भी युरोपियनों के चक्कर में पड़ गये। १८९८की सन्धि के अनुसार जर्मनी को चीन में जो अधिकार प्राप्त थे, वे और उसके शांटुंग के अधिकार, जापान को दे दिये गये। पूर्वी एशिया के सम्बन्ध मे शांति महासभा के ऐसे कार्य से चीन को घोर निराशा हुई। वह समझने लगा कि अभीतक वह भ्रम में पड़ा था। १८९८ मे जर्मनी ने जिस घोर अन्याय

और बलप्रयोग का उदाहरण दिखलाया था उसी अन्याय और अत्याचार की पुष्टि इस समय जर्मनी के हाथ के अधिकार छीनकर एवं जापान को देकर शांति महासभा ने की है। चीन ने युरोपीय शक्तियो के विश्वासघात का प्रत्यक्ष अनुभव किया। युरोपीय शक्तियों के इस कार्य से साफ पता चलता है कि उन लोगों ने पहले ही तै कर लिया था कि जब चीन उन लोगों का सहायक और साथी बन जायगा उस समय वे लोग अमुक प्रकार से उसके भाग्य का निपटारा कर देंगे। जिन देशों का भाग्य-निपटारा वे आपस मे किया करते थे, उन देशों से पूछने अथवा उन्हे सूचना देने की भी वे आवश्यकता नहीं समझते थे।

ठोकर खाकर जगे !

जब शांति महासभा मे जापान ने शांटुंग पर अधिकार पाने में सफलता प्राप्त कर ली और विजयी शक्तियो ने चीन के अधिकारों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब उत्तर और दक्षिण के चीनी नेता मिलकर एक हो गये। पेकिंग और कैंटन दोनों ने ही मिलकर निश्चित किया कि वे वार्साई की घृणित सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जिन पाश्चात्य राष्ट्रों ने अन्याय द्वारा वहां पर विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त किये थे और उसका सर्वनाश किया था उन्हें निकाल भगाने का जो उद्योग इस समय तक दबा हुआ था वह इस समय सेबढ़ने लगा।

श्याम की दलील

श्याम ने बड़ी-बड़ी आशाएँ की थीं। उसने शांति महासभा मे कहा —"हमलोग मनुष्य मात्र की भलाई और छोटे राष्ट्रों के अधिकार के लिए लड़ते रहे। अब हम लोगो को पुराने अन्यायों को दूर कर देना चाहिए। उन सभी पुरानी सन्धियो को रद्द कर देना चाहिए जिससे श्याम

ी बहुत हानि हो रही है। उन सन्धियों को श्याम में काम में लाने
का समय बीत गया। उन्हे रद्द कर देने पर हमारे देश में बहुत से
सुधार किये जा सकेंगे। हमारे देश में किसी प्रकार के न्याय का
कार्य विदेशियों के हाथ में नहीं रहना चाहिए क्योंकि उससे हमारा
व्यय बढ़ता है, देश में वैमनस्य का भाव फैलता है, प्रजावर्ग के
प्रति अन्याय होता है और सब से बड़ी बात है कि उसमें हमारा
अपमान है। देश में सुधार करने के लिए हमें पूर्ण आर्थिक
स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। आज हमें उस प्रकार की स्वतंत्रता
नहीं है इसीसे हमारे अधिकार परिमित हैं; हमारी आय काफी
नहीं है जिससे बाध्य होकर चंडूखानों और जूएखानों से आय
करनी पड़ती है और बहुत-सी असुविधाएँ झेलनी पड़ती हैं।"

श्याम का कहना युक्तिपूर्ण और और न्याय-संगत था
परन्तु इससे मित्रराष्ट्रों के अधिकार में बट्टा लगता था। वे अपने
हाथ से शिकार जाने देना नहीं चाहते थे इसीलिए वे अपना
अधिकार वापस करने को तैयार नहीं थे। बार्साई की सन्धि के
अनुसार केवल यही निश्चय हुआ कि श्याम में जर्मनी का
किसी प्रकार का अधिकार नहीं रह जायगा। श्याम चुप नहीं
बैठा रहा। उसे जापान ने शिक्षा दी थी। उसने इस समय तक
अपनी बहुत अधिक उन्नति कर ली थी। इस कारण पुरानी सन्धियों
को काम में लाने की कोई युक्ति नहीं रह जाती थी। अन्त में
युरोपियनों को श्याम का कथन मानना ही पड़ा।

भारतवर्ष पूर्णरूप से पराधीन देश था। यहां के कर्ता-धर्ता,
भाग्य-विधाता सब अंग्रेज ही थे इसीलिए शांति महासभा में यहाँ के
प्रतिनिधि मांटेगू महाशय हुए। उनकी हां-में-हां मिलाने वाले दो

भारतवासी—लार्ड सिनहा और महाराजा बीकानेर भी उनके साथ महासभा में भारतीय प्रतिनिधि हो कर गये। भारतीय प्रतिनिधि अपने स्थान के लिए चाहे जितना ही अभिमान करें, यह प्रत्येक भारतवासी जनता है कि राष्ट्रसंघ में भारतीयो का कोई स्थान नहीं है। वे किसी भी हालत में युरोपियनो की बराबरी के नहीं समझे जाते। यह भारतवर्ष के राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्तों के मान लेने और अंग्रेजो के लिए अपना ख़ून बहाने के बाद की अवस्था है।

भारतवासियों में आस्किथ महाशय के वचनों पर अविश्वास और अंग्रेजी राज्य से घोर असंतोष होने के चिन्ह दिखलाई देने लगे। भारतवर्ष ने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों की सहायता की थी परन्तु उसे रौलट ऐक्ट, जलियांवाला बाग़ और धोखे में डाले रहने तथा आपस में फूट पैदा करने के लिए मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधार दिया गया। यही उसकी सहायता का उचित पुरस्कार था? रौलट ऐक्ट द्वारा क्रान्ति का सन्देह होने पर भी कड़ी से कड़ी सजाऍं दी जा सकती थी। अधिकारियो के लिए भारतीय जागृति को दबाने का यह बहुत बड़ा अस्त्र था।

भारत की सेवा का पुरस्कार

मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधार के अनुसार यहॉ पर ६० सदस्यो की राजपरिषद् (कौंसिल ऑव् स्टेट) और १४४ सदस्यों की व्यवस्थापिका सभा की स्थापना हुई। दोनो सभाओं में प्रत्येक में अधिकारियों की संख्या चुने हुए लोगों से कम रखी गई। इसी समय से द्वैध शासन प्रणाली की प्रथा प्रांतीय सरकारों में चलाई गई। शिक्षा, कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि का भार कौंसिल के निर्वाचित सदस्यो में से ही किन्हीं-किन्हीं को दिया

जाने लगा। न्याय, कानून, पुलिस आदि के मुहक़मे सरकार ने अपने ही हाथो में रखे।

इस प्रकार का सुधार देकर सरकार फूट डालकर अपना काम निकालना चाहती थी। यदि यह बात नहीं होती तो उसे

भारत का असन्तोष

ऐसी सभाओं की स्थापना करने की क्या आवश्यकता थी जो आपस में एकमत कभी हो ही न सकें (A house divided against itself.) ये सभाएँ इस समय भी विद्यार्थियो की वादविवाद सभाओं के ही जैसी रहीं। उन्हें कुछ विशेष अधिकार नही मिले।

भला इस प्रकार के सुधार से भारतवासी सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे? उनका असंतोष इससे बहुत अधिक बढ़ गया। भारतवासी और इंग्लैंड के अनुदार दलवाले दोनों ही इस सुधार से असन्तुष्ट थे। भारतवासी इसे काफी नहीं समझते थे इसलिए असुन्तुष्ट थे और अनुदार दलवाले इसे बहुत अधिक समझकर असन्तुष्ट थे। भारतवासियों ने १९१८ की कांग्रेस में प्रस्ताव पास किया कि "भारतवासी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सर्वथा योग्य हैं; भारतीय सुधार—सम्बन्धी रिपोर्ट मे इसके विपरीत जो भाव प्रकट किया गया है उसका यह कांग्रेस खंडन करती है। जबतक भारतवर्ष को साम्राज्यान्तर्गत पूर्णस्वराज्य नही मिल जायगा और साम्राज्य के अन्तर्गत दूसरी स्वराज्योपयोगी जातियो के समान अधिकार प्राप्त न हो जायँगे तबतक यह कांग्रेस कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती।" भारतवासी अपने देश में वे ही अधिकार प्राप्त करना चाहते थे जो अंग्रेजों को अपने देश में प्राप्त थे परन्तु उन अधिकारो के दिये जाने की

बात तो दूर रही, उनके ऊपर यह दोषारोपण करके उनका दमन किया जाने लगा कि यहाँ के राष्ट्रीय दलवालों को जर्मनी तथा बोल्शेविकों से आर्थिक सहायता मिलती है और वे लोग उन लोगों के बहकावे में आ गये हैं। इसी समय रौलट ऐक्ट भी पास हुआ। देशवासियों ने उसका विरोध किया तो जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड हुआ। इसमे जेनरल डायर ने पाँच सौ निहत्थे आदमियों को मारकर और १५०० को घायल कर अपनी असीम बहादुरी और देश-भक्ति का परिचय दिया !

जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड

शहीदों का खून राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने वाला होता है। इस समय हिन्दू-मुसल्मान दोनो के ही खून एक साथ बहे थे इसलिए दोनों ही मिल गये। इसके बाद से देश मे जैसी लहर उठी वैसी लहर का सामना अंग्रेजो को और कभी करना नहीं पड़ा था। भारतवासियो की उच्चाकांक्षाओं की उपेक्षा जर्मनी तथा बोल्शेवी लोगो की चाल कहकर की गई थी इसलिए यहाँ पर ऐसी भीषण जागृति हुई जिसने सारे बृटिश साम्राज्य को कंपा दिया।

फारस भी समझता था कि शांति स्थापित होते ही उसकी सभी आशाएँ पूरी हो जायँगी। मित्रराष्ट्रों ने बतलाया कि वह तो युद्ध में सम्मिलित ही नहीं हुआ था। युद्ध के सभी दुःखद परिणाम उसे झेलने पड़े थे और वह स्वयं युद्ध मे सम्मिलित भी होना चाहता था परन्तु अंग्रेज और रूसी लोगो ने अपनी कुत्सित नीतियो के खुल जाने के भय से उसे शामिल नहीं होने दिया था। फारस के

फारस की निराशा

प्रतिनिधि बिना बुलाये ही शांति महासभा में अपनी दुःखद गाथा सुनाने गये थे। उनके प्रतिनिधियो को महासभा में बैठने की आज्ञा नही मिली; फिर भी विभिन्न देशो के प्रतिनिधियो के सामने उन्होंने अपनी मांगें पेश की। वे किसी नये प्रांत पर अधिकार नही करना चाहते थे। युद्ध के समय उनके हाथ से जितने प्रांत निकल गये थे। वे उन्ही को फिर से अपने हाथ में लाना चाहते थे। फारस के साथ जितनी अन्यायपूर्ण सन्धियां हुई थीं, उनमें वह इस प्रकार से परिवर्तन कराना चाहता था जिससे उसकी आर्थिक व राजनैतिक स्वतंत्रता में बाधा न पहुँच सके। इन्हीं सब माँगों को दस भागों में विभक्त करके उसके प्रतिनिधियों ने दस मांगें पेश की थीं। उनके पूर्ण होने से साम्राज्यवादियों की कुछ भी नही चलती इसलिए उनकी बातो का महासभा में विचार ही नही किया गया। सभी शक्तिशाली राष्ट्रों ने अपना-अपना मतलब साध लिया और दुर्बल राष्ट्रों की पुकार उन्हीं लोगो के विजयोल्लास में लीन हो गई।

यदि शांति महासभा में अंग्रेज कुछ दबाव डालते तो इस प्रकार का समझौता हो जा सकता था जिससे राष्ट्रसंघ की ओर से फारस का संरक्षण उनकी हाथों में दे दिया जाता परन्तु लार्ड कर्जन के साम्राज्यवादी आदर्श इतने छोटे नहीं थे। उन्होंने युद्ध के समय से ही एक प्रकार से उसका संरक्षण अपनी हाथों में ले लिया था। फ़ारस के मामलो से भली-भांति परिचित एक अंग्रेज अफसर ने ठीक ही कहा है—"महासमर के समय और खास कर रूस के समर से प्रस्थान करने पर फारस अंग्रेजों के केवल संरक्षण में ही नहीं था परन्तु प्रत्येक

महीने में उनसे ही पैसे लेकर अपना खर्च चलाता था। अंग्रेजों की ओर से व्यक्तियों को पैसे दिये जाने के सिवा राज्य को प्रत्येक महीने में २२५००० पौंड दिया जाता था।"

लड़ाई के बाद भी इस प्रकार रुपया दिया जाता रहा है। इस समय अंग्रेज़ क्या इतने उदार हो गये थे कि एक दूसरे राष्ट्र के खर्च के लिए अपना निजी रुपया खर्च कर रहे थे ? इस रुपये के खर्च करने का एक मतलब था। इस समय फारस अस्तव्यस्त अवस्था में पड़ा था। रूस अपने घरेलू झगड़ो मे फँसा था इसलिए वह भी कुछ नहीं कर सकता था। अंग्रेजो के लिए मैदान साफ था। १९१९ में इन्हीं घूस के रुपयों के बल पर अंग्रेज़-फारसी सन्धि पर हस्ताक्षर कराया गया। इस सन्धि के द्वारा अंग्रेज फारस को अपने अधिकार में रखने का क़ानूनी अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। इस सन्धि के विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को भली-भांति समझने वाले लोगों का कथन है—'उस सन्धि की भूमिका में फारस की स्वतंत्रता मानने की बात बिल्कुल बेकार थी। उसका कोई अर्थ नही था।' इस सन्धि के द्वारा फारस पूर्ण रूप से अंग्रेज़ों के कब्ज़े मे ही आजाता और साम्राज्यवादियों की पूर्ण विजय हो जाती। ९अगस्त १९१९ को फारस के मंत्रिमण्डल ने उस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिया। इसके अनुसार फारस के अर्थ-विभाग, सैन्य-विभाग और परराष्ट्र विभाग का कुल अधिकार अंग्रेजो के हाथ में आ जाता। अंग्रेज़ी सलाहकार द्वारा ही ये विभाग संचालित किये जाते। फारस की कर-प्रणाली का संचालन करने के लिए

घूस और सन्धि

अंग्रेज ही रखे जाते। फारस की रेलों में अंग्रेजों की ही पूंजी लगाई जाती और उसे बीस लाख पौंड ऋण स्वीकार करना पड़ता।

लार्ड कर्जन और सर पर्सी काक्स इस लाभ को इतना महत्व देते थे कि उन्होंने सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए पचहत्तर हजार तोमन (फारसी सिक्का) फारस के तीन राजनीतिज्ञ वासुकदौला (तत्कालीन प्रधान मंत्री) प्रिंस फीरोज (अर्थ सचिव) और सरमुदौला (जिसने फारस की ओर से सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किया) को घूस के रूप में दिये। मजलिस के बहुत से सदस्यो को अंग्रेज-फारसी सन्धि मनवाने के लिए रुपये दिये गये। अंग्रेजो के परराष्ट्र-सचिव बालफोर महाशय ने लिखा है कि "अंग्रेजी सरकार ने १३१००० पौंड फ़ारस के तीन मंत्रियों को (जो सन्धि के पक्ष मे थे) प्रत्यक्ष रूप से दिये।" इसके खर्च का कोई हिसाब नहीं दिया गया क्योंकि वह रुपया मजलिस से सन्धिपत्र के मनवाने के लिए ही खर्च किया गया था।

क्या फारस इस प्रकार से अंग्रेजों के हाथ बिक जायगा? अंग्रेजों ने यह कार्य शांति-प्रस्थापन का नही किया। इसने फारस के राष्ट्रीय नेताओं के भीतर आग पैदा कर दी। वे लोग अपने देश के उद्धार के लिए एक महान् क्रान्ति की योजना करने लगे।

तुर्क लोगो को शांति महासभा से कुछ लाभ होने की आशा पहले से ही नही थी। मडरौस के युद्धावसान के समय से ही वे अपने पतन का चित्र देखने लगे थे। मित्र राष्ट्रों ने तुर्की को बांट लेने का विचार पहले से ही कर लिया था। जिस समय घमासान युद्ध चल रहा था।

तुर्की के हाल-चाल

उसी समय सब काम ठीक कर लिया गया था । गुप्त सन्धियों के द्वारा तै हो गया था कि रूस को कुस्तुनतुनिया मिल जायगा और उत्तर-पूर्वी तुर्की का साठ हजार वर्गमील का प्रदेश उसके साम्राज्य में मिला दिया जायगा । तुर्की के दक्षिण-पश्चिम का भाग फ्रांस को मिलनेवाला था;इसी मे सीरिया भी आ जानेवाला था और उसका अधिकार क्षेत्र भी निश्चित हो जाने वाला था। तुर्क साम्राज्य के दक्षिणी भाग में अंग्रेजों का प्रभुत्व होने वाला था। मेसोपोटामिया के साथ ही साथ पैलेस्टाइन के भीतर के अक्का और हइफ़ा भी इनके ही हाथ में आने वाले थे। पैलेस्टाइन का शासन अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को सौंपा जाने वाला था। इटली को अनाटोलिया और स्मर्ना का उत्तरी भाग मिलने वाला था । तुर्कों के साथ १० अगस्त १९२० को सैवरे की सन्धि इन्हीं गुप्त सन्धियो के आधार पर हुई, जिसके अनुसार उनकी प्राचीन राजधानी ऐड्रियानो पोल उनके अधिकार से निकल जाती थी। युरोप और पूर्वी थ्रेस मे भी उनका कोई अधिकार नहीं रह जाता था । तुर्की की सीमा अनाटोलिया, कुस्तुन्तुनिया और उसके आस-पास ही कुछ मीलों मे परिमित हो जाती थी। रूस ने क्रान्ति होने के वाद अपना भाग छोड़ दिया था; इस कारण परिस्थिति वैसी विकट नही हुई। इस सन्धि द्वारा तुर्कों की ऐसी अवस्था हो जाती थी कि वे स्वतंत्र कहलाने योग्य नहीं रह जाते थे। अंग्रेज और फ्रांसीसियो को तुर्की की लूट में वहुत वड़ा भाग मिल रहा था। इटली और यूनान भी उनके लाभ में कुछ दूर तक साथी हो जाते थे। यदि युनानियो ने स्मर्ना से वढ़कर ब्रूसा पर अधिकार नहीं कर लिया

होता और कुस्तुन्तुनिया तथा अंगोरा का रास्ता बन्द नहीं कर दिया होता तो इस सन्धिपत्र पर तुर्क हस्ताक्षर न करते। सन्धि-पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिया परन्तु इसी समय उन्होंने एक बार और छुटकारा पाने का प्रयत्न किया। मरता क्या न करता! इस समय अपनी रक्षा के सिवा उन्हें और कुछ भी नहीं सूझ रहा था। शान्ति-स्थापन की चेष्टा ने ही उन्हें क्रांति के लिए मजबूर किया।

अरबों की निराशा

अरब के लोगों को शांति महासभा से बहुत आशा थी। वे समझते थे कि एशिया मे एक नये युग का आरम्भ होगा; वे स्वतंत्र कर दिये जायँगे और संसार में स्थायी शांति स्थापित होगी। इन लोगों को जितनी अधिक आशा थी निराशा भी उतनी ही अधिक हुई। राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्त इनके मामले में जितने बुरे रूप में सामने आये उतने और किसी के मामले में नही आये थे। शान्ति के नाम से कलह का आवाहन जितने स्पष्ट शब्दों में यहाँ किया गया उतना और कहीं भी नहीं किया गया था।

संरक्षण नीति की छुरी

साम्राज्यवादियों की गुप्त सन्धियों और उदार दल वालों की उसकी विरोधी नीति के बीच लड़ाई चल रही थी। उदार दल वाले साम्राज्यवादियों के सामने नहीं टिक सके। साम्राज्यवादियों की ही अन्त में विजय हुई। इन दो दलों में झगड़ा होने के बाद जो सन्धि हुई उसमें संरक्षण की नीति को प्रधानता दी गई। संरक्षण का तरीक़ा उदार मतवालों को ठगने के सिवा और कुछ भी नहीं था। संरक्षण के सिद्धान्त के प्रवर्तक दक्षिण अफ्रिका के जेन-

रल स्मट्स थे। १९१८ में इन्होंने इस विषय पर पर्चे निकाले थे। राष्ट्रपति विल्सन गुप्त सन्धियों के अनुसार कमज़ोर राष्ट्रो को बाँट लेने का विरोध कर रहे थे, इसीलिए इस धोखा देने वाली नीति की सृष्टि की गई थी। साम्राज्यवादियों ने अपनी इच्छानुसार उसे बनाया था और राष्ट्रसंघ से उसे मनवा लिया था। संरक्षण के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित हुआ था कि जो उतने शक्तिशाली वा आगे बढ़े हुए नहीं हैं कि अपने पैरो पर खड़े हो सकें उनकी सहायता करना सभ्य और उन्नत राष्ट्रों का कर्तव्य है। वैसे छोटे राष्ट्र सभ्य और उन्नत बड़े राष्ट्रों के अधीन कर दिये जायँ। वे बड़े राष्ट्र इस प्रकार के होने चाहिएँ जो अपने साधनो, अनुभवों और भौगोलिक परिस्थिति की अनुकूलता के कारण उनकी सब प्रकार से सहायता कर सकें। इसी प्रकार के बड़े-बड़े राष्ट्रो के हाथ मे राष्ट्र-संघ छोटे-छोटे राष्ट्रो को सौंप देगा। इस विषय में इस बात का पूरा खयाल रखा जायगा कि छोटे-छोटे राष्ट्र लूटे न जा सकें और विदेशियो की जितनी पूँजी उन देशो में लगी है उसे भी धक्का नहीं पहुँचे। जिस देश में संभव हो उस देश के लोगों से राय भी लेली जाय कि वे किस बड़े देश के संरक्षण में रहना चाहते हैं। संरक्षक प्रत्येक वर्ष अपने अधिकार मे दिये गये देश के विषय में एक रिपोर्ट निकालेगे। उस रिपोर्ट पर राष्ट्र-संघ वा उसकी कौंसिल विचार किया करेगी।

वँटवारा

इसचाल को पूर्णरूप से साम्राज्यवादी मत्स्यन्याय कह सकते हैं। इस प्रकार का मसविदा तैयार करने में उन्होंने अपने लाभ का विचार पहले

ही कर लियाथा। तुर्की के अधिकार से निकाले गये प्रदेश 'ए' वर्ग के माने गये। इस वर्ग में रखे जाने योग्य सीरिया, पैलेस्टाइन और मेसोपोटामिया समझे गये। पहले तुर्क साम्राज्य के छः हिस्सेदार थे। इस समय जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के निकल जाने पर ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और इटली ही बच गये थे। इन तीनों में भी अपने-अपने स्वार्थ के लिए बहुत झगड़ा चला करता था। इसी झगड़े से बचने के लिए अमेरिका ने किसी देश का संरक्षक होना स्वीकार नही किया।

गुप्त सन्धियों-द्वारा इंग्लैंड और फ्रांस में देशों का जिस प्रकार बंटवारा हुआ था, संरक्षण की नीति के अनुसार भी उसी प्रकार का बंटवारा किया गया। अमेरिका के बाधा डालने पर युरोपियन राजनीतिज्ञ कह बैठते थे—"इन बातों का मुझसे सम्बन्ध है, इसे हम लोग समझते हैं, आप चुपचाप देखते रहें।" सीरिया फ्रांस के और मेसोपोटामिया तथा पैलेस्टाइन अंग्रेजों के संरक्षण मे रखे गये थे। पेट्रोलियम के विषय मे भी दोनों शक्तियों में तै हो गया कि फ्रांस को मेसोपोटामिया का पच्चीस प्रतिशत मिला करेगा और इसके बदले में वह उत्तरी मेसोपोटामिया से अपने सभी अधिकार हटा लेगा। अंग्रेजो के मेसोपोटामिया पर अधिकार हो जाने से अमेरिकन लोगों को तेल के विषय मे असुविधा होती थी। उन्होने लिखा-पढ़ी करके उसमें से अपना भाग लिया और राष्ट्र-संघ के सदस्यों की बराबरी के अधिकार संरक्षित देशों पर प्राप्त कर लिये।

जो देश संरक्षण में रखे गये उनकी राय मानना उचित नहीं समझा गया। एक बार कुछ अमेरिकनों ने उन देशों में जांच

की तो पता चला कि सीरिया के लोग फ्रांस से और पैलेस्टाइन
तथा मेसोपोटामिया के लोग अंग्रेजों से बिल्कुल ही असन्तुष्ट
हैं। वे दूसरे राष्ट्रों के संरक्षण में रहना पसंद करेंगे परन्तु
इन दोनों राष्ट्रों के संरक्षण में रहना कदापि नहीं चाहेंगे।
फिर भी मेसोपोटामिया और पैलेस्टाइन पर भारत के भागों की
रक्षा करने के लिए अंग्रेजों का अधिकार रखना ही उचित
समझा गया। सीरिया में फ्रांस को क़ानून बना देने और शासन
के मामलों में पूर्ण अधिकार रखने का हक़ दिया गया। सीरिया
से फ्रांस को बहुत अधिक लाभ होने की आशा थी इसीलिए
उसने वहाँ पर अपना अधिकार जमाया था। पैलेस्टाइन में
अंग्रेजों को शासन-विषयक सभी अधिकार प्राप्त हुए। आरमी-
निया अमेरिकन लोगों के संरक्षण में दिया जा रहा था परन्तु
उसने देखा कि इंग्लैंड और फ्रांस ने अच्छे-अच्छे स्थान स्वयं ले
लिये हैं और जहां शीघ्र ही झगड़ा होने की सम्भावना है वैसे
स्थान उसे दिये जा रहे हैं इसी विचार से उसने संरक्षण का
भार अपने ऊपर नहीं लिया। आरमीनिया को प्रश्न आगे चल-
कर आप ही हल हो गया।

मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, पैलेस्टाइन आदि का तुर्क
साम्राज्य से बहुत ही कम सम्बन्ध था। ये लोग वास्तव में
बहुत-कुछ स्वतंत्र थे। अंग्रेज़ उनके मुक्तिदाता
नहीं हुए। उन्होंने उन्हें एक ढीले बन्धन से
निकालकर ग़ुलामी की बहुत ही कड़ी जंजीर से जकड़ दिया।
उन लोगों की बची हुई स्वतंत्रता भी मित्रराष्ट्रों ने नष्ट करदी।
इतना ही नहीं इन राष्ट्रों ने पैलेस्टाइन, अरब, सीरिया, कुर्दिस्तान,

गुलामी की बेडी

आरमीनिया आदि की समस्याएँ और भी जटिल बना दीं।

पैलेस्टाइन की समस्या यहूदियों को बसाकर और भी विकट बना दी गई है। निःसन्देह यहूदी लोगों का आदि स्थान पैलेस्टाइन में था। उन्होंने उसे बहुत दिनों से छोड़ दिया था, वे सारे संसार में भटका करते थे। रूस पौलैंड आदि स्थानों में वे बहुत सताये जाते थे फिर भी आज तक किसी ने भी इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी थी कि पैलेस्टाइन में यहूदियों का एक स्वतंत्र राष्ट्र होना चाहिए। यदि साम्राज्यवाद का चक्र नहीं चलता, जिसमें सभ्यता परोपकार आदि सिद्धान्तों की ओट में आर्थिक लाभ संपादित किया जाता है, तो सम्भव है यह प्रश्न कभी उठता ही नही। गत महायुद्ध के बाद से पश्चिमी एशिया की अत्यन्त जटिल समस्याओं में यह भी एक समस्या हो गई है।

यहूदियों की समस्या

यहूदी लोगों का कोई खास स्थान नहीं था फिर भी राष्ट्रीयता के विचार रखनेवालो के भीतर जैसे भाव काम करते हैं वैसे सभी प्रकार के भाव इनके भीतर विद्यमान हैं। वे लोग अधिकतर व्यापारी वर्ग के होते हैं। वर्तमान युग व्यवसाय का है इसलिए ये लोग अधिकतर धनी ही होते है। आजकल जिसके पास धन अधिक होता है वही सभ्य गिना जाता है फिर भला यहूदी अपने को क्योंकर जंगली समझते? धनी होने के कारण बड़े-बड़े राज्यों में इनकी बहुत इज्जत है और बहुत से देशों के राजनैतिक मामलों का संचालन करने में भी ये भाग लिया करते हैं। १८९७ ई० के बाद से इन लोगों में 'जियोनिष्ट' आन्दोलन चला। उस समय से ये पैलेस्टाइन को अपना कहने

लगे परन्तु उस समय भी एक स्वतंत्र राज्य बसाने का मामला नहीं आया था।

महायुद्ध के समय यहूदी लोगो ने धन से अंग्रेजों की सहायता की और उन पर अपना प्रभाव डाला। अंग्रेजों ने भी उनसे अपना फ़ायदा निकलना चाहा। पैलेस्टाइन अंग्रेजो के ही संरक्षण में था। यहाँ पर अरबों की ही संख्या अधिकहै। १९२२ में यहाँ की कुल आबादी ७५७००० थी जिसमें ५९१००० मुसलमान और ७३००० ईसाई थे। इन लोगों मे अधिकांश संख्या अरबो की ही थी। यहूदी केवल ८४००० थे। अरबों की प्राचीन सभ्यता बहुत ही उच्च रह चुकी है। वे जङ्गली नहीं हैं। वे यहूदी लोगो पर योंही अत्याचार नहीं किया करते थे। पैलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या कम थी इसलिए ये लोग दबे रहते थे। इनसे अरबों का झगड़ा नही चलता था। पैलेस्टाइन में व्यापार करने की सड़कें, रेल, नहर, स्कूल, सार्वजनिक मकान आदि नहीं थे। साम्राज्यवाद के पूर्णरूप से अपना अधिकार ज़माने के लिए इन चीजों का होना आवश्यक है। इन चीज़ों के बिना राज्य स्थायी भी नहीं बनाया जा सकता। अंग्रेज़ो ने महायुद्ध के समय विचार किया कि यहूदी धनी होते हैं, वे यदि पैलेस्टाइन मे जाकर बसेंगे तो अंग्रेजो का कार्य मुफ्त में ही हो जायगा। वहाँ पर सड़कें, मकान, स्कूल, रेल सभी चीजें हो जायँगी। अरब वैसे धनी नहीं इसलिए वे उन चीज़ो में उतना अधिक रुपया खर्च नही कर सकेंगे। यहूदियों के जाने से सारा काम बन जायगा। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी अंग्रेज़ों की धाक जम जायगी। सभी समझेंगे कि यहूदी मारे-मारे फिरते

थे, उनका कोई घर नहीं था, वैसे सताये जाते हुए लोगों का पक्ष अंग्रेज़ ले रहे हैं। दबे हुए लोगों के साथ सहानुभूति दिखलाना अवश्य ही महान् कार्य है। लड़ाई के कारण फ़सल आदि भी नष्ट हो गई थी। बहुत से लोगों ने खेती करना छोड़ दिया था। इसलिए अंग्रेज़ों को बेकार पड़ी हुई ज़मीन यहूदियों को दे डालने में सुविधा थी।

१९१७ में ग्रेटब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव बालफोर महाशय ने इस महान् उद्देश की पूर्ति के लिए कार्य आरम्भ किया। उन्होंने एक घोषणा की, जिसमें यहूदियो के पैलेस्टाइन में बसने की बात से सहानुभूति दिखलाई और उन्हें यथा-साध्य सुविधा देने का भी वचन दिया। उनकी घोषणा के सभी शब्द सोच-विचार कर रखे गये थे। उसमें न तो दूसरों को ही आपत्ति हो सकती थी और न अंग्रेज़ ही किसी बात में बंधते थे। यहूदियों को इससे बहुत प्रोत्साहन मिलने लगा। वे सोचने लगे कि अब अंग्रेज़ सभी प्रकार से हमारी भलाई करने लगे हैं। शांति-महासभा मे इसकी चर्चा छिड़ी तो इसके अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही भाव दीख पड़ने लगे। जिन यहूदियों की पीठ अंग्रेज़ों ने ठोकी थी वे ही अंग्रेज़ यहूदी पैलेस्टाइन में जा बसने के पक्ष में थे। फ्रांस के यहूदी इसके कट्टर विरोधी थे। वे स्वतन्त्र राज्य का प्रश्न उठाकर एक नया झगड़ा खड़ा करना नहीं चाहते थे। वे समझते थे कि यह अंग्रेज़ों की एक चाल है। अंग्रेज़ पैलेस्टाइन को अपने संरक्षण में रखना चाहते थे और इस कार्य में यहूदियो से सहायता लेना चाहते थे इसलिए उन्होंने उन्हे अपनी ओर मिला लिया था।

बालफोर की घोषणा

इनका उद्देश उन्हें मिलाकर अरब-राज्य को कमजोर करना था। हेजाज़ के शरीफ़ तुर्क-साम्राज्य के भग्नावशेष पर स्वतंत्र अरब साम्राज्य का किला बाँधना चाहते थे। इन्हीं की वृद्धि रोकने के लिए यहूदी बसाये जा रहे थे। साढ़े पाँच लाख अरबों के ऊपर लगभग एक लाख यहूदियों का प्रभुत्व स्थापित करके वे मिस्र तथा स्वेज नहर की रक्षा करना चाहते थे।

मुसलमानो के चार पवित्र क्षेत्रों मे दो केवल पैलेस्टाइन में ही हैं। यदि मुसलमानों के धार्मिक क्षेत्रों पर दूसरों को अधिकार करने दिया जायगा तो वे कभी चुप-चाप नही बैठ सकते। १९०४ में जब यहूदी लोगो के अफ्रिका में बसने की बात चल रही थी उस समय वहाँ के थोड़े से अंग्रेजों के विरोध करने पर ही वह विचार छोड़ दिया गया था परन्तु यहां पर साढ़े पांच लाख लोगों की कोई सुनवाई नहीं हुई। थोड़े से लोगों के हित के सामने बहुत से लोगों के बलिदान का ख़याल नहीं किया गया। यह भी नही सोचा गया गया कि अरब यहूदियो को सभी प्रकार से उन्नत देखकर उनसे चिढ़ेगे और अपनी पुरानी दुश्मनी, जिसे वे भूले हुए हैं, फिर से याद करने लग जायँगे। आगे यही हुआ; जब से अरबों को मालूम हुआ कि वे अंग्रेजों के संरक्षण में रखे जायंगे और यहूदी भी वहाँ पर बसाये जायँगे तब से उन्होंने बग़ावत का झंडा खड़ा कर दिया।

कूट चालें

अंग्रेजो ने फ्रांसीसियों और दूसरी ओर हेजाज के शरीफ दोनो से ही परस्पर विरोधी गुप्त सन्धियाँ कर ली थी, इसलिए लड़ाई के समय अंग्रेजों ने जो वादे अरबों से किये थे उन्हे फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण पूरा

नहीं कर सके। सहायक अरबों को सन्तुष्ट करना कठिन हो गया। हुसैन, फैजुल आदि को कुछ भी नहीं मिलता तो वे उनके बहुत ही अधिक विरोधी हो जाते इसलिए अंग्रेजों ने इराक का राजा फैजुल को और ट्रांसजारडोनिया का राजा उसके भाई अबदुल्ला को बनाया। इराक के रहनेवाले अपने यहां हेजाज के आदमी का राजा होना पसन्द नहीं करते थे। वहां के लोग अब्दुल तालिब को राजा बनाना चाहते थे परन्तु अंग्रेजों ने अपना हित साधने के लिए धोखा देकर फैजुल को राजा चुन दिया। वहाँ के राष्ट्रीय दल के लोग बिगड़ गये और उस समय से अंग्रेजों को बराबर झगड़ों का सामना करना पड़ता है।

सीरिया की व्यवस्था

सीरिया के लोग तुर्कों से छुटकारा पाकर—स्वतंत्र होकर दूसरे अरब राष्ट्रों के साथ मिलना चाहते थे। फ्रांस की अधीनता वे किसी भी हालत में स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। राष्ट्रपति विल्सन ने कुछ लोगों को वहां पर जांच करने के लिए भेजा तो पता चला कि वे लोग स्वतंत्र होना चाहते हैं और यदि किसी के संरक्षण में रहना ही है तो अमेरिका के संरक्षण में रहना चाहते हैं। अंग्रेजों ने उनकी इच्छा पूरी होने नहीं दी। अंग्रेजी सेना ने अरबी सेना की सहायता से दमिश्क में सीरिया का राजा फैजुल को बना दिया। १९१९ मे फ्रांसीसी सेना ने अंग्रेजी सेना का स्थान लिया। १९२० के मार्च में अंग्रेजों के प्रयत्न से वहां के प्रसिद्ध सरदारों द्वारा फैजुल ही राजा मान लिया गया। फैजुल, अब्दुल्ला और हुसैन सब एक परिवार के ही लोग राजा हो जाते, इससे अरब एक राष्ट्र बन जाता। फ्रांसीसी इस प्रकार से अरब की शक्ति

बढ़ने देना नहीं चाहते थे। फ्रांसीसी सेना ने नब्बे हज़ार सैनिकों के जोर से फैज़ुल को फ्रांस के संरक्षण में आने के लिए कहा। फैज़ुल मान भी गया था परन्तु उसे राजा बनाने वालो ने नहीं माना। उनसे फ्रांसीसी सेना की लड़ाई हुई। लड़ाई में फैज़ुल की हार हुई और वह सीरिया से निकाल दिया गया। अंग्रेजों ने वहां से निकाले जाने पर उसे इराक़ का राजा बना दिया। सीरियन लोगों के खिलाफ कार्य करने से फ्रांसीसियों के प्रति सीरिया में बहुत विरोध का भाव खड़ा हो गया। वहाँ के राष्ट्रीय दल के लोगों ने फ्रांसीसियों का विरोध करके उनका शासन चलाना दुष्कर कर दिया।

मित्रराष्ट्रों ने शांति महासभा मे एशिया में शांति प्रस्थापित करने का प्रयत्न नही किया बल्कि उसके प्रत्येक भाग मे कलह की सुलगती हुई अग्नि को भड़का दिया। १९२८ मे जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट् कैसर ने एक पत्र-सम्पादक से कहा था:—

"पाश्चात्य सभ्यता क़ायम रखने के लिए दो चीजे बहुत आवश्यक थीं;—सफेद चमड़े वाले राष्ट्रो का एकमत रहना और दूसरे देशो मे, ख़ासकर अधीनस्थ देशों मे, उनके लिए आदर का भाव होना। इन्ही दोनो चीजो के कारण ही गोरों का एशियायी राष्ट्रो के ऊपर प्रभुत्व था। गोरों मे एकता नहीं है इसे महासमर ने प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। गोरो ने गोरो के खिलाफ़ प्रचार किया और एशियायी लोगो को उनके साथ लड़ाया। इससे एशियायी लोगो पर से गोरो की धाक जाती रही·····वार्साई की शान्ति महासभा के समय अंग्रेज़ो के झूठ, फसाद, जाल, फरेब आदि एशिया-वासियो के सामने प्रकट हो

गये इसलिए उनकी इज्जत जाती रही। युरोपियन लोगों ने इतना जाल-फरेब और झूठ-प्रपंच रचा कि झूठ का उत्पन्न करने वाला भी उससे लज्जित हुए बिना नहीं रहेगा।"

वास्तव में महायुद्ध के समय और उसके बाद युरोपियन शक्तियाँ एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि में जितनी गिर गईं उतनी और कभी नहीं गिरी थीं। अपनी पूर्व इज्जत को प्राप्त करना उन लोगों के लिए बहुत कठिन होगया। जो लोग युद्ध में गोरों के साथ लड़ने गये थे उन लोगो ने देख लिया था कि युरोपियन वीरता में उनसे श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकते। फिर भी उन लोगों को युरोपीय सैनिकों की अपेक्षा कम तनख्वाह दी जाती है। पहली बात से उनके भीतर यह भाव दृढ़ हुआ कि युरोपियन श्रेष्ठ नहीं हैं और दूसरी से उनमे असंतोष फैल गया। उन लोगों ने अपने-अपने गाँवों में जाकर उसी प्रकार असंतोष फैलाना आरम्भ किया।

युरोपियनों के नैतिक प्रभाव का नाश

युद्धोपरान्त सारे एशिया से एक ही बात, केवल स्वभाग्य-निर्णय करने का अधिकार प्राप्त करने की आवाज उठ रही थी। युरोप मे यदि स्वभाग्यनिर्णय के अधिकार की नीति बर्ती जाती है तो वह एशिया में भी बर्ती जानी चाहिए। युरोपीय लोगों ने उनकी पुकार पर ध्यान नहीं दिया। न्याय और सचाई के नाम पर दुहाई देनेवाले बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ भी अपने साम्राज्यांतर्गत एशियायी देशों के साथ दूसरी नीति बर्तने की सलाह देते रहे। फ्रांस के एक राजनीतिज्ञ एम. रिवेट्ट महाशय का कथन है कि 'शांति तभी स्थापित हो सकती है जब प्रत्येक

राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार हो।' परन्तु उन्हीं लोगों के कथनानुसार यदि फ्रांस के साम्राज्यांतर्गत एशियायी राष्ट्रों को वह अधिकार दिया जाने लगे तो रिब्रट्ट महाशय ही उसका विरोध करने के लिए सबसे पहले खड़े हो जायँगे। उस समय वे कहने लगेंगे कि उनका कहने का अभिप्राय केवल युरोपीय राष्ट्रों के विषय में था। युरोपियन शक्तियाँ जबतक एशियायी राष्ट्रों को अपनी ही तरह के अधिकार नहीं प्राप्त करने लेने देतीं तबतक शांति की कल्पना को स्वप्न ही समझना चाहिए।

महासमर के बाद से एशियावासी स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार लड़-झगड़कर प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। इसी समय रूस ने अपनी कायापलट की। उसने प्राच्य राष्ट्रों के भावों को और भी दृढ़ करना आरम्भ किया। पर साम्राज्य-वादियो ने अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया।

एशिया की क्रान्ति

[द्वितीय खण्ड]

एशियावालों के आचार-व्यवहार वा देश की परिस्थिति से नहीं मिलते इसीलिए महासमर के बहुत पहले ही एशिया में रूसी साम्राज्य की जड़ जितनी मज़बूत थी उतनी युरोप के और किसी भी राष्ट्र की नहीं थी। उसने एशिया के लगभग आधे उत्तरी भाग पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था और उत्तरोत्तर दक्षिण की ओर बढ़ते जाने का प्रयत्न कर रहा था। पाश्चात्य देशों से व्यापार बन्द हो जाने पर उसने एशियायी राष्ट्रों के साथ व्यापार करना आरम्भ किया। एशियायी राष्ट्रों के रीति-रिवाजों से परिचित रहने के कारण उसे अपना विश्वास एशियायी राष्ट्रों के भीतर जमा देने में विशेष असुविधा नहीं हुई।

रूस की एशियायी संस्कृति

रूस के बोल्शेवी क्रान्तिकारी समाज के वर्तमान संगठन को पलट देना चाहते हैं। युरोप के लोग उन्हें कमज़ोर समझते हैं फिर भी उनमें अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, चीन भारतवर्ष तथा अन्य एशियायी राष्ट्रों में साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ धावा बोल देने की शक्ति है। एशिया के प्रत्येक देश में उनके प्रचार का कार्य जारी है। युरोप के लोगों का, ख़ासकर साम्राज्यवादी विचार वालो का, ख़याल है कि साम्यवादी विचार वाले समाज के बड़े ही ख़तरनाक शत्रु हैं परन्तु रूसी अपने को संसार मे शांति स्थापित करने वाला और मनुष्य-समाज का सबसे बड़ा मित्र समझते हैं। वे कहते हैं कि पूँजीवाद के जगत् में अविश्वास, झगड़ा, असमानता, दासता, क्रूरता और लड़ाई के भावों का निवास रहता है, दूसरी ओर साम्यवाद के जगत् में परस्पर

समाज-संस्कार का लक्ष्य

विश्वास, मैत्री, शांति, स्वाधीनता, समानता तथा भाईचारे का भाव वास करता है। वे मनुष्यमात्र का सबसे बड़ा शत्रु पूँजीवाद को मानते हैं। संसार के सभी राष्ट्रों की वास्तविक सरकार बड़े-बड़े बैंकरों और पूंजीपतियो के हाथ में है। वे ही लोग अपने लाभ के लिए कमज़ोर लोगों को सताते हैं और उनके ख़ून से अपना शरीर मोटा बनाते हैं। पूंजीवाद की सबसे बड़ी ख़राबी यही है कि उत्पत्ति उपयोग वा उपभोग करने के लिए नहीं बल्कि लाभ उठाने के लिए की जाती है। वर्तमान व्यवसायी किसी वस्तु की उत्पत्ति स्वयं उपभोग करने के लिए नहीं परन्तु बेचने के लिए करते है। बहुत से कारखाने ऐसे हैं जहाँ वैसी चीज़ें बनती हैं जिनका उपयोग बनाने वालों को मालूम भी नही रहता। सभी चीजे बिकने के लिए बनतीं हैं इसलिए उनमें प्रतिद्वंद्विता चलती है। प्रतिद्वंद्विता आने से देश की भीतरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय बुराइयाँ आ उपस्थित होती हैं। साम्यवाद के जगत् मे उत्पत्ति का संचालन वे ही लोग करेंगे जिन लोगों को अपने उपभोग की आवश्यकता रहेगी। ख़रीद-बिक्री का बखेड़ा नहीं रहता इसलिए प्रतिद्वंद्विता भी नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में संसार में स्थायी शान्ति स्थापित रहने की संभावना है। ऐसी ही स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए रूसी लोगो ने साम्राज्यवादियों से लड़ाई छेड़ दी है। रूसी सारे संसार में समानता चाहते है। ऐसा नही होना चाहिए कि किसी के पास तो इतना अधिक धन हो कि वह अपनी सीढ़ियों में भी सोने लगवाले फिर भी उसे अपने बचे हुए धन को किस काम में लगाया जाय यह मालूम न हो और दूसरी ओर किसी की औसत् आमदनी

दो रुपये महीने से कौड़ी अधिक न हो । इसीलिए वे एशियायी राष्ट्रों में बोल्शेवी भाव फैलाना चाहते है । धनी वर्ग का नाश कर देना ही रूसी लोगों का अन्तिम उद्देश है । एशिया का वायुमंडल इस प्रकार का नहीं था कि वह बोल्शेवी लोगों के भावों को अपना सके ।

युद्ध के बाद सारे एशिया में 'आत्म-निर्णय' की आवाज़ गूँज रही थी । राष्ट्रपति विलसन के इस एक शब्द ने ही लोगों की आशाएँ बहुत अधिक बढ़ा दी थीं । फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय सारा संसार स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के भाव से भरा था । इस समय सारे संसार में 'आत्म-निर्णय' की पुकार मच रही थी । रूस ने देखा कि साम्यवादी भावों का प्रचार 'साम्यवाद' के नाम से एशिया में नहीं होगा । उसे भी वायु-मंडल के ही अनुसार 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त पर जोर देना चाहिए । उसने कहा हम सोवियट राज्य का प्रचार नहीं करते परन्तु 'आत्म-निर्णय' का प्रचार करते हैं ।

आत्म-निर्णय की आवाज

रूस के परराष्ट्र-सचिव शिशेरिन ने एक अवसर पर ठीक ही कहा था—"राष्ट्रपति विलसन ने आत्म-निर्णय को जहाँ पर छोड़ दिया वहाँ से ही सोवियट सरकार ने उसे अपनाकर आगे बढ़ाया है !" महासमर के समय छोटे-छोटे राष्ट्रों की अभिलाषाओं को खूब ऊँचा उठाकर एक-ब-एक सीढ़ी हटा ली गई थी । उनके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया गया था । रूस ने एशियायी राष्ट्रों पर इस प्रकार का रंग जमाना चाहा कि जिस आत्म-निर्णय के अधिकार को पाश्चात्य साम्राज्यवादी राष्ट्र

उन्हे नहीं दिला सके वही रूस की सोवियट सरकार स्वयं दे रही है और झगड़कर उसके लेने में सहायता भो पहुँचा रही है। बोल्शेवी प्रचारको ने असन्तुष्ट एशियायी लोगों के मन मे युरोपीय साम्राज्यवादियो के प्रति घृणा और प्रतिशोध का भाव वहुत अधिक बढ़ा दिया है । उन राष्ट्रों की आकांक्षाएँ, माँगें, विदेशियो द्वारा किये गये अन्याय और अपमान ही उनके भड़काने का खास विषय होता था।

जारशाही का अन्त होते ही रूस की नीति बदल गई थी। उसने ९ अप्रैल १९१७ को अपनी नई नीति निम्नलिखित रूप मे घोषित की—

रूस की नई सरकार की घोषणा

"मज़दूरों और सैनिको की नई स्थापित की गई पंचायती सरकार घोषणा करती है कि स्वतंत्र रूस का विचार दूसरे देशों पर अधिकार जमाने का नहीं है। उसका उद्देश सैन्यबल से दूसरे देशो के किसी भी प्रान्त पर क़ब्ज़ा करने का अथवा उन देशों की राष्ट्रीयता को दबाने का नहीं है। वह चाहता है कि सभी देशो को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार मिले और सी के आधार पर संसार मे स्थायी शांति स्थापित हो । पंचायती सरकार दूसरे देशो को लूटकर उन्हे अपने अधिकार में लाकर अथवा अपमानित कर अपनी शक्ति दृढ़ नहीं करना चाहती।"

बोल्शेवी क्रान्ति के बाद १९१८ की जुलाई में रूसी साम्यवादी पंचायती प्रजातंत्र सरकार एक पग और आगे बढ़ी। उसने अपनी घोषणा में कहा कि सभी राष्ट्रो को आत्म-निर्णय का अधिकार है। सोवियट सरकार का उद्देश उपनिवेशों को स्वतंत्र

करना और साम्राज्यवाद के खिलाफ सभी औपनिवेशिक क्रान्तियों का साथ देना है।

महायुद्ध के समय रूस के अधीनस्थ प्रदेशों में भी 'आत्म-निर्णय' के अधिकार के लिए आन्दोलन चल रहा था इसलि

रूस की एशियाथी नीति

रूस में क्रान्ति होते ही उनमें से कई स्वतंत्र ह गये। मध्य एशिया के तूरानी भी रूस ं ही अधीन थे। जार के समय से ही उ लोगों में कई कारणों से असंतोष हो गया था औ एक 'पैत-तूरानियन' आन्दोलन चल रहा था। तूरानि अपना एक राज्य कायम करना चाहते थे। कितने लोगों का कथन है कि तुर्की के मुस्तफ़ा कमाल पाशा भी इस तूरानी साम्राज्य के पक्ष में हो गये थे। इस साम्राज्य के अन्तर्गत तुर्की, ट्रांस-काकेशिया, ट्रांसकास्पियन, खीवा, बुखारा, तुर्किस्तान, फारस का कुछ भाग और मेसोपोटामिया लाया जाने वाला था। इस साम्राज्य के पश्चिमी भाग के डिक्टेटर (D·ctaıor) कमाल पाशा उत्तरी फारस, मेसोपोटामिया और काकेशस के दजमलपाशा और मध्यएशिया के भागों के अनवरपाशा होने को थे परन्तु दजमल पाशा की हत्या हो गई और अनवरपाशा तथा कमाल-पाशा में अनबन हो गई। कमालपाशा ने बोल्शेवी लोगों से सहायता ले अनाटोलिया से युनानियों को भगा दिया। तूरानी साम्राज्य कायम करने के प्रयत्न में अकेले अनवरपाशा कार्य करते रहे परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में वे लड़ाई में ही मार डाले गये। उनके साथ-ही-साथ तूरानी साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न भी जाता रहा। रूसी लोगों को प्रचार करने की सुविधा

के लिए मध्यएशिया के खीवा, बुखारा आदि स्थानों की आवश्यकता थी, इसलिए वे उन प्रदेशो को स्वतंत्र नहीं होने देना चाहते थे। उन लोगों ने तूरानी लोगों से तै कर लिया कि तूरानी-संस्कृति, सभ्यता, धर्म-प्रचार आदि मामलों में रूसी हस्तक्षेप नहीं करेंगे। आर्थिक मामलों के लिए यदि वे रूस के साथ मिल जायँ तो दोनों की ही भलाई होगी। तूरानी लोगों ने रूस की बातें मान लीं और वे रूस के पंचायती प्रजातंत्र मे शामिल हो गये। रूस के हाथ से क्रान्ति के समय जितने प्रदेश निकल गये थे इस समय उनमें से अधिकांश उसके दखल मे फिर से आ गये। उसके घरेलू झगड़े भी शांत हो गये, तब उसने एशिया में अपना कार्य आरम्भ किया। यो तो १९१७ में क्रान्ति के वाद ही उसकी एशियायी नीति निर्धारित हो गई थी परन्तु इस समय से उसका कार्य अच्छी तरह से चलने लगा।

रूस में एशियायी प्रतिनिधि

१९१९ मे एशियायी राष्ट्रो के बहुत-से प्रतिनिधि रूस गये। अफगानिस्तान का प्रतिनिधि सन्धि की शर्तों के विषय मे चर्चा चलाने लगा। दजामलपाशा रूसी सरकार और तुर्की के साथ समझौते की बाते करने लगे। फारस के राष्ट्रीय नेता अपने देश से अंग्रेजों को निकाल देने के लिए रूस से सहायता माँगने लगे। भारतवर्ष भी इस समय पीछे नहीं था। यहाँ के प्रसिद्ध क्रांतिकारी बरकतुल्ला और एम. एन. राय भारत में क्रान्ति सफल बनाने के लिए रूसी सरकार की सहायता माँगने लगे। ये सभी लोग साम्यवादी विचार के है या नहीं, इसकी परवा नहीं की जाती थी। इन सभी एशियायी प्रतिनिधियों का रूसी सरकार

स्वागत करती थी। उस साल सोवियट सरकार के आवश्यक कार्यों मे एक यह कार्य भी था कि वह अपने और एशियायी राष्ट्रों के शत्रु साम्राज्यवादी राष्ट्रों के खिलाफ भाव फैलावे। एशिया अंग्रेज और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों द्वारा ही पिसा जाता था इसलिए इन्हीं दोनों के खिलाफ अधिक भाव फैलने लगा। रूस का सबसे बड़ा शत्रु इंग्लैंड था। युरोप में इंग्लैंड से लड़ाई ठानकर रूस के विजयी होने की आशा नहीं थी इसलिए एशियायी राष्ट्रों को भड़काकर उसने इंग्लैंड को हराने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। १९१९ में रूस के परराष्ट्र सचिव की हैसियत से शिशेरिन ने जो रिपोर्ट रूस की सातवीं पंचायत के अवसर पर भेजी थी उससे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उस रिपोर्ट मे लिखा था कि "हम लोगों ने उत्तरी और दक्षिणी चीन सरकार, मंगोल सरकार, फारस की सरकार और कोरिया के क्रान्तिकारी दल के पास अपना प्रत्यक्ष उद्देश (आत्म-निर्णय के अधिकार की प्राप्ति के लिए उन्हे सहायता कर साम्राज्यवादियो से लड़ाना) लिख भेजा है। जार के समय में और उसी के सिलसिले में करेंस्की की सरकार के समय मे जो सन्धियाँ की गई थीं वे रद्द कर दी गई। हम लोगों ने तुर्की और दूसरे मुसलमान राष्ट्रों को लिख दिया है कि उनके खोये हुए स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए युद्ध में हम लोग उनकी सहायता करेंगे।"

अफगानिस्तान का स्वतन्त्रता-लाभ

एशियायी राष्ट्रों को मित्रराष्ट्रो ने धोखा दिया था। इसलिए बोल्शेवी लोगों को बहुत-कुछ सफलता हुई। इस समय भारतवर्ष के लोगों में जैसा भाव आया वैसा १८५७ के बाद उनमें कभी नहीं

आया था। अंग्रेजी सरकार इस समय बहुत ही हैरान थी। अफग़ानिस्तान के तत्कालीन अमीर हबीबुल्लाखाँ अंग्रेज़ों के पक्ष में थे; उनकी इसी समय हत्या कर दी गई। कहा जाता है कि उनकी हत्या का मुख्य कारण उनका अंग्रेजों के पक्ष में रहना था। उनके स्थान पर अमानुल्लाखां, जिनके भीतर अंग्रेजों के खिलाफ़ कूट-कूट कर भाव भरा था, गद्दी पर बैठे। उन्होंने अंग्रेजों को खुद रूस के साथ मिल जाने की धमकी दी। उसी समय उन्होंने देखा कि पंजाब में अंग्रेजो के खिलाफ़ बहुत अधिक भाव है इसलिए उपयुक्त समय आया जान उन्होंने जेहाद बोल दिया। उन्हे आशा थी कि असन्तुष्ट भारतीय उनकी सहायता करेंगे। जिस समय अफग़ानिस्तान अंग्रेजो से लड़ता रहेगा उसी समय भारतीय देश मे क्रान्ति मचा कर अंग्रेजों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेंगे। परन्तु ऐसा हुआ नही। अमानुल्ला खां को विजय की आशा पहले से ही नहीं थी। उन्होने थोड़े ही दिनों के बाद सन्धि की चर्चा भी छेड़ दी। अंग्रेज भी उस समय सन्धि कर लेना चाहते थे। वे चाहते थे कि यदि अफगानिस्तान उनके हाथ से निकल जाय तो स्वतंत्र रहे, किसी दूसरी शक्ति के अधिकार मे नही जाय, इसीलिए उन्होने उसे स्वतंत्र हो जाने दिया।

रूस का नैतिक पभाव

अफगानिस्तान के जैसी छोटी शक्ति स्वयं युद्ध छेड़े और हार जाने पर भी स्वतंत्रता प्राप्त करले यह आश्चर्य की बात थी। इस विजय मे रूस की ही चाल मुख्यतः कार्य कर रही थी। इस समय तक रूसी तुर्किस्तान में रूसी प्रचारको ने अपना अड्डा जमा

लिया था, उन्हीं लोगों के प्रचार का यह परिणाम था। इसी साल नवम्बर के महीने में मास्को में लेनिन ने अफगान मिशन का स्वागत किया और सोवियट सरकार का प्रतिनिधि काबुल भेजा गया। इसी समय रूस के परराष्ट्र-विभाग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—'एशिया के चाहे जिस भाग पर हम लोग दृष्टि डालते हैं, चाहे वह फारस, चीन, तुर्की जो भी हो, देखने में आता है कि अमेरिकन और युरोपीय पूंजीवाद के खिलाफ लड़ाई उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इन देशो का अन्तिम लक्ष्य हम लोगों के उद्देश्यों पर ही पहुँचना है।' ठीक इन्हीं बातों को अंग्रेजी सरकार ने भी महसूस किया और उसके रूस के साथ समझौता कर लेने का यह एक भारी कारण था। एशियायी नीति के कारण सोवियट सरकार का नैतिक बल बहुत अधिक बढ़ गया और इस कारण से उसकी शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ गई।

बोल्शेवी लोग जनता में बहुत अधिक भाव भरते थे। वे वे चाहते थे कि साम्राज्यवाद का चारो ओर से विरोध हो।

रूस का प्रचार

१९१९ में ही लेनिन ने सोवियट सरकार की की ओर से तुर्कों को लिखा था—

"संसार भर के मुसलमानो! तुम लोग पूंजीपतियों के शिकार बन रहे हो; जाग्रत हो जाओ। जारशाही के ज़माने की वक्रदृष्टि रूस ने अब त्याग दी है। तुम्हे अब वह सताना नहीं चाहता। अब वह अंग्रेजो के अत्याचार से तुम्हें बचाने में सहायता करेगा। रूस अब तुम्हारे राजनैतिक वा धार्मिक मामलों मे हस्तक्षेप नहीं करेगा। युद्ध के पहले तुम्हारी जो

राजकीय सीमा थी वह कायम रहेगी। तुम्हारा कोई भी प्रांत छीना नहीं जायगा। कुस्तुनतुनिया, डार्डेनिलीज और आरमीनिया सब तुम्हारे ही अधिकार में रहेगे। रूस के मुसलमानो को स्वराज्य दिया जायगा; इसके बदले में हम लोग तुम से एक ही चीज चाहते है—निरंकुश पूंजीपति जो तुम्हारे देश को लूटना और दास बनाये रखना चाहते हैं उनसे लड़ते रहो।"

रूसी अपने प्रचारको को उनके कार्य मे सदा प्रोत्साहन दिया करते थे। वे उन्हे समझाते थे कि तुम बड़े ही महान कार्य के संपादनार्थ भेजे जा रहे हो; स्वतंत्रता का झंडा खड़ा करने के लिए, दासो को गुलामी से छुड़ाने के लिए, मुट्ठी भर अंग्रेजों के हाथ से बत्तीस करोड़ लोगों को छुड़ाने के लिए भेजे जा रहे हो। उनसे वे कहते थे कि जहाँ-जहाँ प्रचारक जायँ लोगों के साथ मिल जाया करें। भारतवर्ष मे भेजे जाने वाले प्रचारकों से उन्होने कहा था—

'स्वतंत्रता-प्रेमी भारतीय लोगों के साथ एक हो जाओ। अपनी बातों और कार्यों से उनके क्रान्तिकारी भावों को बढ़ाओ। ऐसा प्रयत्न करो जिसमें रूस के क्रन्तिकारी और एशियायी लोगों का सम्बन्ध चिरस्थायी हो जाय।'

मित्रराष्ट्रों ने एशियायी लोगो के साथ बहुत बड़ी धोखेबाजी का कार्य किया था इसलिए उन लोगों पर रूस का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनमे बहुत से आदमी साम्यवादी विचारों के न होते हुए भी केवल एशिया से साम्राज्यवादियों को निकालने के लिए ही रूस के विचार से सहमत हो गये। उन लोगों के लिए विदेशी, साम्राज्यवादी, अंग्रेज तथा फ्रांसीसी किसी

शब्द में विभेद नहीं रहा। जार के समय की सन्धियों को दूर फेंक देने से रूस का और भी अधिक प्रभाव पड़ा। एशिया के सभी राष्ट्रीय विचार वाले रूस की ओर आकृष्ट हुए और स्वतंत्रता के युद्ध में उसे अपना सहायक समझने लग गये।

एक साल के बाद से बोल्शेविकों ने केवल विदेशी ही नहीं परन्तु सभी प्रकार के पूँजीपतियो के खिलाफ आन्दोलन करना आरम्भ किया। १९२० मे उन्होंने तुर्की के निवासियों के लिए जो घोषणा निकाली थी उसमें लिखा था:—

"काम करनेवाले मजदूर सभी स्थानों पर पूँजीपतियो से लड़ रहे हैं। तुम्हारे यहाँ आये हुए पूँजीपति देश के धनी वर्ग से मिलकर तुम्हारे यहाँ के मजदूरों को दास बना लेते हैं। वास्तव मे, युरोप के ही धनी तुर्की में भूख की बीमारी लाये हैं। बंधुओ! आओ, हम सभी मज़दूर मिल जायँ। हम सब यदि अलग-अलग रहेगे तो सफलता नही मिलेगी। तुर्की के क्रान्तिकारी दल को बोल्शेवी दल मे शामिल हो जाना चाहिए। थर्ड इंटरनेशनल की जय! अल्ला की जय!!"

एशियायी लोगो के प्रति अपनी नीति जाहिर करने के लिए रूसी लोगो ने १९२० के सितम्बर में बाकू मे एशियायी लोगो की एक कांग्रेस की। सैतीस विभिन्न राष्ट्रों के लगभग दो हज़ार प्रतिनिधि इस कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस का उद्देश केवल एशिया से साम्राज्यवादियो का आधिपत्य उठा देना ही नहीं था बरन साम्यवाद के सिद्धान्तो को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय, इस पर विचार करना भी था। यह कांग्रेस थर्ड इंटरनेशनल

बाकू की कांग्रेस

(मास्को) ने बुलाई थी। लोगों को बुलाने के लिए उसने जो घोषणा प्रकाशित की थी उसी से इसके उद्देश्यो का पता चलता है। घोषणा निम्नलिखित शब्दो में थी—

"फारस के मजदूर तथा किसानो! अनेक शताब्दियों से तेहरान की क़जर सरकार और प्रांतीय खाँ तुम्हे लूट रहे है। ज़मीन जिस पर शरियत के अनुसार तुम सभी का समान अधिकार होना चाहिए, तेहरान की सरकार ने अपना ली है। वह जैसे चाहती है वैसे उस जमीन को काम मे लाकर अपना लाभ कर लेती है। वह अपनी इच्छानुसार तुम्हारे ऊपर टैक्स लगाती है और जब उसने देख लिया कि वह खुद तुमसे और अधिक धन चूसने में असमर्थ है तो उसने तुम्हे पूँजीपतियों के हाथ बेंच देना निश्चित कर लिया। पूँजीपतियो ने तुम्हे बीस लाख पौंड मे खरीद लिया जिसमें वे फारस मे सेना संगठित कर सकें तथा तुम्हे पहले से भी ज्यादा दबा सकें। फारसी सेना द्वारा ही वे अंग्रेज पूँजीपति तुमसे अधिक कर वसूल करायंगे और उसी में से थोड़ा भाग प्रान्तीय खान (शासक) और तेहरान सरकार को भी दे देंगे। तुम्हारे यहाँ के शासकों ने फारस की सभी तेल की खाने बेच दी है जिससे देश और भी अधिक लुटता जा रहा है।"

"अनातोलिया के किसानो! अंग्रेज, फ्रांसीसी और इटालियन तुम्हारे कुस्तुनतुनिया पर तोप के बल से अधिकार किये बैठे हैं। उन्होने सुलतान को कैद कर लिया है और तुर्की के सभी प्रांत आपस मे बाँट लेना चाहते हैं। वे लोग सुलतान पर दबाव डालकर तुर्की का अर्थ-विभाग अंग्रेज पूँजीपतियो के हाथ

सौंप रहे हैं जिसमें वे अच्छी तरह लूट मचा सकें। तुम लगातार छः साल की लड़ाई से तबाह हो गये हो; अंग्रेज पूंजीपति तुम्हें और भी तबाह कर रहे हैं। हेराकली की कोयले की खानों पर, तुम्हारे बन्दरगाहों पर उनका अधिकार हो गया है। साम्राज्यवादी अपनी सेना भेजकर तुम्हारी खेती नष्ट कर रहे हैं।"

"आर्मीनिया के मजदूर तथा किसानो! कई वर्ष पहले से तुम अंग्रेज़ी पूँजी के शिकार बन गये हो। अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी पूँजीपति तुम्हारे साथ तुर्कों का हमेशा झगड़ा लगाये रखते है जिसमें लाभ का अधिकांश भाग वे स्वयं उठा ले जायं। ये पूँजीपति ही तुम्हारे सभी प्रकार के कष्टो के कारण हैं।"

"सीरिया और अरब के किसानो! अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने तुम्हें तुर्की राज्य से स्वतंत्र कर देने की आशा दिलाई थी परन्तु तुर्की के कब्जे से निकालकर उन्होने तुम्हे अपने कब्जे में रख लिया है। भेद इतना ही हुआ कि पहले की अपेक्षा तुम अधिक मजबूत शक्ति की अधीनता में आ गये और दिन प्रतिदिन अधिक लूटे जाने लगे।"

"तुम सभी देशो के लोग अपनी हालत से वाक़िफ हो। फारस के लोग तेहरान सरकार के खिलाफ उठ खड़े हुए हैं। मेसोपोटामिया मे अंग्रेज़ी सेना के खिलाफ विद्रोह मच गया है। अनाटोलिया के लोग विदेशियों को निकालने के लिए कमाल-पाशा के साथ हो गये हैं। यह भी सुना जाता है कि उपर्युक्त देशों के मजदूरो ने अपना अलग संगठन कर लिया है जिसमें बड़े-बड़े पाशा यदि मित्रराष्ट्रों से सन्धि करने का विचार करें तो वे किसान संगठित रूप में विरोध कर सकें। तुम सभी लोग

जानते हो कि मित्रराष्ट्र तुम्हें स्वतंत्रता नहीं दे सकते। तुम्हारे यहाँ के सभी लोग इस समय सहायता के लिए रूसी मजदूर और किसान सरकार के पास पहुँचे हैं।"

"एशिया के मजदूर और किसानो! यदि तुम लोग संगठित होकर रूस के साथ मिल जाओ तो निश्चय ही अंग्रेज, फारसी और अमेरिकन पूँजीपतियों को निकाल भगा सकोगे। इसके बाद तुम अपने देश के पूँजीपतियों से समझ लोगे। जब तुम्हारे अधिकार तुम्हारे ही हाथो में आ जायँगे तब तुम समझ सकोगे कि भूमि से सुख कैसे प्राप्त किया जाता है। इन सभी मामलों पर हम लोग बाकू में विचार करना चाहते हैं। तुम सभी दासता के बन्धन से छूटने के लिए, सभी मनुष्यों के भाई-भाई का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए वहां इकट्ठे होना।"

इसी प्रकार का निमंत्रण एशिया के लगभग सभी राष्ट्रों को दिया गया था। चीन, भारत, फारस आदि सभी एशियायी राष्ट्रों के प्रतिनिधि इस कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस के सभापति थर्ड इंटरनेशनल की कार्यकारिणी के सभापति जिनोविफ थे।

अध्यक्ष का भाषण

सभापति ने अपने भाषण में लोगो को समझाया कि 'मजदूर और किसानो की ही संख्या संसार में अधिक है इसलिए पूँजी और श्रम के संघर्ष का निपटारा वे ही लोग कर सकते हैं। रूस सभी एशियायी राष्ट्रों को पहले भी विश्वास दिला चुका है और इस समय भी विश्वास दिलाता है कि सभी श्रमी स्वतंत्र कर दिये जायँगे।

एशिया के श्रमी लोगों में शिक्षा, सफाई कुछ भी नहीं है। इन सभी बुराइयों के जिम्मेवार पूँजीपति हैं। रूस में भी उनका आतंक था। रूस ने उनसे छुटकारा पा लिया है। और चीन, भारत, तुर्की, फ़ारस, आरमीनिया भी प्राप्त कर सकते हैं। सभी एशियायी देशों में पंचायती राज्य का प्रसार होना चाहिए। जो लोग हम लोगो के विचारो से सहमत नहीं है उनकी बातों पर भी हम ध्यान देते है। सोवियट सरकार कमालपाशा को सहायता देती है फिर भी वह जानती है कि कमालपाशा साम्यवाद के पक्ष-पाती नहीं है।' सभापति ने लोगों को समझाया कि और राष्ट्रों को कमालपाशा का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अब सुलतानों का समय पूरा हो गया; इसलिए उन्हें हटा देना चाहिए। धनी लोगों का राज्य उठा देना चाहिए। रूस के लोगो का भी जार पर विश्वास था परन्तु वह उठ गया। उसी प्रकार सभी एशियायी राष्ट्रों से सुलतान, राजो वा धनीवर्ग का राज्य उठ जाना चाहिए। अंग्रेजी सरकार के ख़िलाफ जो कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन होगा रूस उसकी सहायता करेगा। अंग्रेज पूँजीपति ही हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं, उन्हे भगाने मे हमें अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहिए। देश के धनीवर्ग के ख़िलाफ़ भी घृणा और शत्रुता का भाव रहना ही चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि अंग्रेज पूँजीपति उनका स्थान ले ले। राज्य सभी जगह मजदूरो का ही होना चाहिए।

एशियायी राष्ट्रो मे पूँजीपति तथा धनीवर्ग का रूसी सिद्धान्तो का विरोध करना स्वाभाविक ही था। विदेशी लोगो ने भी भरपूर प्रयत्न किया कि बोल्शेवी लोगों का असर उनकी जनता

पर न पड़ने पावे परन्तु युवा विद्यार्थी और मजदूरों को वे किसी भी प्रकार उस हवा से अलग नही कर सके। उन लोगो पर रूस का खूब असर पड़ा। तभी वे उसे स्वतंत्रता प्रदान करने वाला समझने लगे।

साम्यवाद के प्रचार में कठिनाइयां

अनेक बातो में समानता रहते हुए भी रूस और एशियायी राष्ट्रो में बहुत भेद है, जिससे साम्यवाद का यहाँ पर प्रचार होना कठिन है। चीन के विषय मे लेनिन ने ठीक यही बात कही थी। साम्यवाद का प्रभाव चीन मे विद्यार्थियो के ऊपर बहुत अधिक पड़ा है। अभीतक लोगों का खयाल था कि कला-कौशल की वृद्धि के लिए उसका व्यक्तिगत पूँजीवाद की अवस्था पार करना आवश्यक है परन्तु रूसी लोगो के प्रचार से वे विद्यार्थी समझने लगे है कि कला-कौशल की उन्नति व्यक्तिगत पूँजीवाद की अवस्था पार किये विना भी हो सकती है। आगे चलकर रूस को 'नई आर्थिक नीति' अपनाते देखकर लोगो का विचार कुछ ढीला हुआ। एशिया मे साम्यवाद के सिद्धान्त नहीं चल सकने के और भी कई कारण हैं। साम्यवाद के लिए एक केन्द्रीभूत मजबूत राजसत्ता चाहिए। एशिया के अधिकांश राष्ट्र बहुत कमजोर और बिखरे हुए हैं। साथ ही यहाँ पर व्यक्तियो की स्वतंत्रा पर अधिक जोर दिया जाता है; साम्यवाद के लिए सरकारी शक्ति बहुत प्रबल रहनी चाहिए। व्यक्ति व्यापार करें यह साम्यवाद नही चाहता परन्तु एशिया मे व्यक्ति ही अधिक व्यापार किया करते हैं। एशिया के धनी भी और देशो के धनियों जैसे नहीं हैं। लेनिन ने भी कहा है कि जहाँ पर धनी लोगों की संख्या

बहुत ही कम है, इने-गिने आदमी धनी हैं,वहाँ पर उन्हे लूट लेने से जनता का विशेप लाभ नहीं होगा। इसके अलावा साम्यवाद के प्रचार के लिए शिल्पप्रधान देश होना चाहिए क्योंकि उसीसे सम्पत्ति अधिक होगी और वह लोगों में बाँटी जायगी तो अधिक आदमी सुख से रह सकेंगे। मजदूरों का सारा समय अपनी रोजी चलाने में ही व्यतीत नहीं होगा, उन्हें भी छुट्टी मिला करेगी। जहांपर इने-गिने आदमियों के पास धन है और जीविका उपार्जन के अलावा समय बच जाता है वहाँ पर साम्यवाद के प्रचार होने से उन्हे भी छुट्टी नहीं रहेगी। यह उचित नहीं होगा। इन कारणों से एशिया में साम्यवाद का प्रचार होना कठिन है।

हम लोगों को यहां पर साम्यवाद के इस पहलू पर विशेष ध्यान नहीं देना है। यह रूसी लोगों का दूर का उद्देश है। एशिया में साम्यवाद का प्रचार करना आगे की बात है। पहली बात एशिया को युरोपियन और अमेरिकन पूँजीवाद से बचाने की है। रूस की आन्तरिक इच्छा एशिया से साम्राज्य-वादियो को, खासकर अंग्रेजों को, निकाल देने की है। इसके लिए उसने क्रांति के बाद से ही प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उसे अपने कार्य मे बहुत-कुछ सफलता मिली है। रूसियों के प्रचार से अंग्रेजों की बहुत हानि हुई है।

रूस के उद्देश्यों में अविश्वास

बहुत से लोगो का विचार है कि सोवियट सरकार भी साम्राज्यवादी है। वह भी जारशाही के समय की नीति अपनाती है। भेद केवल इतना है कि जारशाही के समय की अपेक्षा इस समय के

लोग अधिक शक्तिशाली और चालाक हैं। अमेरिकन साम्राज्यवादी जिस प्रकार से अपने को मनुष्यमात्र का दोस्त और पिछड़े हुओं को आगे बढ़ानेवाला बतलाते है उसी प्रकार से रूसी भी कहते हैं। अमेरिकन साम्राज्यवादी मनुष्यों की सहायता की ओट में उनका खून इस प्रकार से चूसते हैं कि चूसे जानेवाले आदमी को पता भी नहीं चलता। उसी प्रकार से सोवियट सरकार भी एशियायी राष्ट्रों को सहायता की आशा दिलाकर उनपर दख़ल जमाती है। सोवियट सरकार के पूर्वी एशिया के कार्यों से इस विचार के लोग इन भावों की पुष्टि करते है। जारशाही के समय में भी रूसी सरकार का एक लक्ष्य यह था कि वह चीन सागर मे एक ऐसे बन्दरगाह पर दख़ल करे जहाँ बरफ न जमती हो; वह चीन के व्यापार पर भी अपना आधिपत्य जमाना चाहती थी। १९२१ से सोवियट-सरकार ने भी मंगोलिया में अपना पांव फैलाना शुरू किया। पहले उसने वहाँ के 'जीवित बुद्ध' (राजा, जिसे लोग जीवितबुद्ध मानते थे।) के नाममात्र के अधिकार में 'जनता की क्रांतिकारी सरकार' स्थापित की। कुछ ही दिनो बाद वहाँ पर सोवियटसरकार का प्रतिनिधि रहने लगा जिसके अधिकार में वहाँके सभी विभाग आगये। १९२४ में जीवित बुद्ध के मरने पर उनके उत्तराधिकारी का चुनाव नहीं हुआ। १९२५ मे मंगोलिया मे सोवियट प्रजातन्त्र स्थापित होगया और उसने रूस के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। अब केवल सोवियट यूनियन में उसका शामिल होना बाकी रह गया। मंगोलियन सेना को सोवियट सैनिक ही शिक्षा देने लगे। विदेशी लोगों

की पूँजी वहाँ लगी थी; वह निकाल दी गई और देश का आर्थिक विभाग सोवियट सरकार के हाथ मे आ गया। १९२४ ई० में चीनी-रूसी सन्धि हुई थी उसमे बाहरी मंगोलिया चीनी प्रजातन्त्र के अधीन समझा गया। फिर भी वह प्रायः रूसी लोगो के ही कब्जे में है। वे ही वहाँ पर रेल आदि बनवाने का प्रबन्ध कर रहे है। रूसी लोगों ने युरियनहाई पर क़ब्जा कर-लिया और चीनी तुर्किस्तान मे भी उनका प्रचार बहुत जोरो से चल रहा है।

मंचूरिया मे सोवियट-सरकार ने एक दूसरी ही नीति से काम लिया। वहां के तीन प्रान्तो मे चांग-सो-लिन के व्यक्तिगत तथा जापानी लोगो के प्रभाव के कारण साम्यवाद का राजनैतिक भाग अपना पाँव नहीं जमा सका। १९१७ के आखिर में सोवियट सरकार ने जारशाही के समय की प्राप्त की हुई सभी सुविधाएँ छोड़ दी थीं। इसका मतलब रेल-सम्बन्धी सुविधाओ को भी छोड़ देना था। परन्तु १९२४ मे चीन के साथ जो सन्धि हुई उसमे निश्चित हुआ कि रेल केवल व्यवसायी कार्यों के लिए रहेगी; उसके द्वारा वहांपर अधिकार जमाने की कोशिश नहीं की जायगी। इस सन्धि के बाद से रेले रूसी लोगो के अधिकार में फिर से आगई और जारशाही के समय निन्नानवे वर्ष का जो पट्टा लिखवाया गया था वह भी जारी रहा। उसमें अभी छियासठ वर्ष बाक़ी थे। सोवियटसरकार ने किसी न किसी प्रकार से क्रान्ति के समय हाथ से निकली हुई भूमि पर फिर से अधिकार जमा लिया। मंचूरिया पर कब्जा कर लेने से पेकिंग की

मन्चूरिया में—

सरकार पर भी अपना प्रभुत्व जमाना सोवियट सरकार के लिए सहल हो गया। जापान को इससे बहुत अधिक हानि होने की सम्भावना थी। रूस और जापान के सिद्धान्तो मे आकाश-पाताल का अन्तर था। रूस के मंचूरिया पर उस प्रकार के अधिकार हो जाने से जापान को घाटा था; चीन की खान तथा अन्य जापानी व्यवसायो में मजदूरों के बीच रूसी लोगो के असंतोष फैलाने से जापान को घाटा हो रहा था, फिर भी जापान ने खुद २० जनवरी १९२५ को रूस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के कारण रूस के आगे बढ़ने मे कोई भी बाधा नही पहुँचती थी। इसी के अनुसार पूर्वी साइबेरिया मे व्यवसाय करने के लिए ३०००००० येन (जापानी सिक्का) से एक जापानी कम्पनी खोली गई। कंपनी ने अपने विधान-पत्र में साफ-साफ लिखा है कि उसका उद्देश जापान औन रूस में मेल बढ़ाना है। इस कंपनी में सोवियट सरकार ने भी भाग लिया। जापान से ९०००० मजदूर वहां की खानों और खेतों मे काम करने के लिए भेजे जाने वाले थे। जापान और रूस में बहुत अधिक विरोध रहते हुए भी क्या कारण है कि ये दोनो राष्ट्र आपस में मेल करने के लिए आगे बढ़ रहे है ? इस मेल के कारण रूस-जापान युद्ध के पहले रूस का चीन से जितना प्रभाव था उतना फिर से होता जा रहा है। इनके मिलने का एक ही कारण है, अंग्रेजो को एशिया से निकाल देना। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए दोनो राष्ट्र मिले हुए हैं। अंग्रेजो के चले जाने पर रूसियों का ही साम्राज्य सब से शक्तिशाली हो जायगा। इसीलिए रूसी प्रयत्न कर रहे हैं

और यही उनका गुप्त ध्येय है।' इस प्रकार का तर्क प्रायः वे लोग करते हैं जो रूस को साम्राज्यवादी बतलाना चाहते हैं।

रूस को साम्राज्यवादी बतलानेवालों की बातें मान ली जायँ और कुछ देर के लिए यह भी अनुमान कर लिया जाय कि रूस अपने उद्देश्यों में सफल हो गया, तो उस समय की अवस्था कैसी रहेगी? कम से कम वर्तमान अवस्था की अपेक्षा वह अवस्था अवश्य ही अधिक अच्छी रहेगी क्योंकि-रूस के पास इतनी राक्षसी शक्ति नहीं है कि वह इंग्लैंड, अमेरिका वा जापान की तरह आतंक फैला सके। रूसी लोगों की एशियायी लोगों के साथ बहुत-कुछ समानता है और इससे अनुमान किया जा सकता है कि वे एशियायी लोगों के साथ समानता का व्यवहार करेंगे। रूस के शक्तिशाली होने पर एशियायी राष्ट्रों का इस-प्रकार का संगठन रहेगा कि वे अपनी रक्षा विदेशी लोगों से भलीभांति कर सकेंगे। आक्रमण करके दूसरो को तहस-नहस कर देना एशियावासियो का उद्देश कभी नहीं रहा है। वे उतने शक्तिशाली रहेंगे भी नहीं कि दूसरों पर आक्रमण कर सकें। हाँ, अपनी रक्षा वे भलीभांति कर सकेंगे। इससे शान्ति रहेगी और मनुष्यमात्र की भलाई होगी।

रूस के इतने अधिक शक्तिशाली हो जाने की संभावना भी अभी नहीं दिखलाई देती। साम्राज्यवादियों का अभी बहुत दबदबा है। साम्राज्यवादियों में भी सबसे अधिक शक्तिशाली अमेरिका व[illegible] जबसे [illegible] समय साम्राज्यवाद की नीति अपन[illegible] दुन्दुभि बज रही है। यदि उसकी [illegible] के अधीन हो

जायगा। वैसी अवस्था में साम्यवादियों को कोई पद नहीं दिया जायगा। विदेशी चीन-जैसे देशो में कोई मजबूत राजशक्ति क़ायम नहीं होने देंगे। वे एशिया को कभी इस योग्य नहीं होने देना चाहेंगे कि वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र रह सके; रेल आदि बनाने की कलाओं में वे उसे सदा ही अनभिज्ञ रखना चाहेंगे। वे बाहरी शक्तियों का प्रभुत्व पूर्णरूप से दूर करना चाहेंगे। इन कारणों से एशियायी राष्ट्र शक्तिशाली नही हो पायेंगे। साथ ही आपस में और बाहरी शक्तियो से जैसी लड़ाई अभी चल रही है चलती रहेगी। उससे न तो शान्ति स्थापित होगी और न मनुष्यमात्र की भलाई ही होगी।

परन्तु इसकी सम्भावना नहीं है। एशियायी राष्ट्र जाग्रत हो चुके हैं। उनकी लड़ाई युरोपीय देशों से चल रही है। रूस ही पिछड़े हुए एशियायी लोगो का नेता बन रहा है। और लोगों को साम्राज्यवाद के साथ लड़ाई करने के लिए आगे बढ़ा रहा है। इस लड़ाई मे काफी सफलता भी हुई है और आगे होने की सम्भावना भी है। एशियायी राष्ट्र कम से कम इतने जाग्रत अवश्य हो गये है कि एक साम्राज्यवादी राष्ट्र से अपना छुटकारा करके दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्र की अधीनता नही स्वीकार करेगे। रूस के विषय में यदि उन्हें यही सम्भावना रहेगी कि वह गुलाम बनाना चाहता है तो उससे भी लड़ाई छेड़ देंगे। इस बात की जिन राष्ट्रो को आशंका होने लगी है वे काफी सचेत हो गये हैं। अभी वे यही चाहते हैं कि वर्तमान साम्राज्यवादियों, खास कर अंग्रेजो, को भगाने में रूसियों से जितनी सहायता ली जा सके ले ली जाय।

सम्भावना निर्मूल है

एशिया की क्रान्ति] २१२

साम्यवाद के विरोधी राष्ट्र यदि एशिया में हैं तो खासकर वे ही हैं जिन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपना पीछा छुड़ा लिया है। अभी जिन लोगों को सफलता प्राप्त नहीं हुई है वे साम्यवाद के कट्टर अनुमोदक हैं। तुर्की अथवा चीन ने जबतक अपने यहाँ से साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व को निकाल नहीं फेंका था तबतक उन्होंने रूस से काफी सहायता ली थी। भारतवर्ष के लोग साम्यवाद के पोषक हो रहे हैं क्योंकि उनके ऊपर अंग्रेजों का अधिकार है। जबतक वे उनके अधिकार से नहीं निकल जाते साम्यवाद के विरोधी नहीं हो सकते।

रूस जबान-वीर नहीं है

रूस पर एशियायी राष्ट्रों के इतना अधिक विश्वास जम जाने का कारण यह था कि रूस केवल बातें ही नहीं बनाता था। उसने 'आत्म-निर्णय' की धूम मचाई थी तो अपने अन्तर्गत लोगों को उसका अधिकार भी दिया। उसका इस प्रकार का कार्य सुचारु रूप से १९२१ से आरम्भ हुआ। इसी साल उसने एशियायी राष्ट्रों के साथ मित्रता की सन्धि कर ली। फारस के साथ उसने २६ फ़रवरी १९[illegible] जो सन्धि की थी उसका सारांश निम्नलिखित है :

१. जार के समय जितनी संधि[illegible] रद्द दी ज[illegible]

२. फार[illegible] में जारश[illegible] त शर्त्ति[illegible] समझौ[illegible] [illegible]

४. फ़ारस के भीतरी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप रूसी सरकार नहीं करेगी; सिवा—

५. उस हालत के जब कोई तीसरी शक्ति रूस पर आक्रमण करने के लिए आधार फ़ारस को बनावे वैसी हालत में सोवियट सेना उस ख़तरे को रोकने के लिए जा सकेगी।

६. व्यापारिक सम्बन्ध जारी हो जायँगे।

रूस-तुर्की सन्धि

१९२० के अप्रेल मे जब अंगोरा मे 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय मजलिस की सरकार' स्थापित हुई तो रूसी परराष्ट्र-सचिव शिशेरिन ने उस सरकार के पास बधाई का संदेश भेजा और अपने साथ राजनैतिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए लिखा। १६ मार्च १९२१ को रूस और तुर्की का समझौता हुआ। वह इस प्रकार था:—

'रूसी साम्यवादी सोवियट प्रजातंत्र-संघ तथा तुर्की की राष्ट्रीय महासभा (ग्रेट नेशनल असेम्बली) का राष्ट्रों के आपस में भाईचारे के वर्ताव और लोगो के आत्मनिर्णय के अधिकार पर विश्वास है; वे दोनो साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई मे अपनी एकता मानते है। वे आपस मे यह भी समझते है कि उनमें से एक देश का ख़तरा दूसरे देश का खतरा है इसलिए उन दोनो की प्रबल इच्छा है कि आपस मे दोस्ती क़ायम करने के लिए और एक दूसरे के लाभ के लिए मित्रता की सन्धि स्थापित हो। इसी भाव से प्रेरित होकर दोस्ती और भाईचारे की सन्धि की गई।'

रूस ने अफ़ग़ानिस्तान से भी २८ फरवरी १९२१ को मित्रता

की सन्धि कर ली।

१९१९ में सोवियट सेना ने कोलचक का पीछा किया और युराल पहाड़ पार किया। उस समय सोवियट-सरकार द्वारा सभी एशियायी देशों के नाम घोषणा की गई कि रूसी सेना सब को परतंत्रता से मुक्त करने के लिए भेजी गई है। चीन से उसी समय कहा गया कि बॉक्सर-ऋण रद्द कर दिया गया और दूसरी सुविधाओं का भी उपयोग नहीं किया जायगा। सितम्बर १९२२ में एक दूसरी घोषणा—द्वारा जारशाही के समय की सभी सन्धियाँ रद्द कर दी गईं और कहा गया कि चीन-सरकार से जार ने जो प्रदेश छीन लिये थे वे बिना किसी प्रकार का बदला लिये ही लौटा दिये जायँगे।

चीनी सरकार इससे कुछ भी विचलित नहीं हुई परन्तु चीनी जनता पर इसका गहरा असर पड़ा। ३१ मार्च १९२४ को रूसी-चीनी सन्धि की गई थी। इस सन्धि के अनुसार मंगोलिया स्वतंत्र समझा गया और उपर्युक्त घोषणा की बातें लिख ली गईं। चीन अभी तक दूसरी श्रेणी का राष्ट्र समझा जाता था। अभी तक दूसरे देशों के मंत्री वा दूत ही वहां रहते थे। इस समय सोवियट-सरकार ने काराखां को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा जिससे मालूम हो कि चीन अब फ्रांस, इंग्लैंड आदि की श्रेणी का देश हो गया है।

इस समय की सन्धियों में इसका भी उल्लेख है कि रूस अपने को एशियायी राष्ट्र मानता है और उसने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि रूस साम्राज्यवाद का शत्रु है और यह कि साम्राज्यवाद की लड़ाई में सारा एशिया एक होकर लड़े।

रूस और एशिया के सभी राष्ट्र साम्राज्यवाद के शत्रु हैं इसलिए सब में परस्पर मित्रता स्थापित हो जानी चाहिए।

रूस ने पिछड़े नामधारी राष्ट्रों के साथ अच्छा व्यवहार करके दिखला दिया, इससे उसका नैतिक बल बढ़ गया। यहाँ पर आपस मे साम्राज्यवादियों की तरह बँटवारा करने की बात नहीं थी। रूस की इस चाल ने अंग्रेजों का सारा खेल बिगाड़ दिया। अंग्रेज अब रूसियों की तुलना में नीचे दिखने लगे।

सोवियट सरकार ने साम्राज्यवाद को दूसरा धक्का १९२६ मे दिया। इस समय रूसी सरकार ने एशियायी राष्ट्रों के साथ दूसरी सन्धि करली। अफ़ग़ानिस्तान के साथ ३१ अगस्त १९२६ को निम्नलिखित सन्धि हुई—

साम्राज्यवाद को दूसरा धक्का

१. यदि दूसरी शक्ति के साथ किसी एक की लड़ाई छिड़ जाय तो दूसरा देश तटस्थ रहे।
२. एक-दूसरे पर न तो चढ़ाई करेगे और न दूसरे देशो के साथ चढ़ाई करने का समझौता ही करेगे।
३. एक देश दूसरे देश के मामलों मे हस्तक्षेप नहीं करेगा और किसी एक के शत्रु को अपने देश में आश्रय भी नही देगा।
४. यह सन्धि तीन वर्ष के लिए रहेगी।

सोवियट युनियन और तुर्की प्रजातंत्र मे १७ मार्च १९२५ को अफ़ग़ानिस्तान की सन्धि के ही समान सन्धि हो गई थी। कुछ ही दिनों बाद दोनों देशो मे व्यापारिक सन्धि भी हो गई

जिसके सिलसले में रूसी कौमिस्सर (रूसी मंत्रि-मण्डल) के सभापति ने कहा थाः—

'पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों में सर्वप्रधान तुर्की से १९२१ की सन्धि, १९२५ की तटस्थता की सन्धि और १९२७ की व्यापारिक सन्धि हो जाने पर मित्रता बढ़ाने के लिए और कुछ भी बच नहीं जाता है। हम दोनों राष्ट्रों में भविष्य में आर्थिक सम्बन्ध और भी दृढ़ हो तो दोनों को ही अधिक लाभ होगा। ये सन्धियाँ बहुत उपयुक्त हैं।'

जब से रूस एशियायी राष्ट्रों की ओर झुका अंग्रेजों को मजबूर होकर अपनी पर-राष्ट्र-नीति बदलनी पड़ी। आरम्भ में अंग्रेजों को यह विश्वास नहीं था कि सोवियट सरकार रूस में स्थापित हो सकती है इसीलिए वे रूस से सम्बन्ध-विच्छेद किये रहे; परन्तु आगे चल कर उनका अनुमान भ्रान्तिमूलक सिद्ध हुआ। सोवियट सरकार पूर्णरूप से रूस में विजयी हुई और एशिया में अंग्रेजो के खिलाफ भाव फैलाने लगी। इससे अंग्रेजो की इज़्जत मे बट्टा लगता था। अन्त में मजबूर होकर उन्होंने १९२१ के मार्च मे रूस से व्यापारिक सन्धि करली। सन्धि मे और शर्तो के साथ एक शर्त यह भी थी कि रूस एशिया में अंग्रेजी साम्राज्य के हितों के विरुद्ध प्रचार न करे।

रूस और जापान की व्यापारिक सन्धि

फिर भी रूस का प्रचार कम नहीं हुआ। १९२१ के सितम्बर मे ही लार्ड कर्जन ने शिशेरिन को लिखा कि 'सन्धि भंग की गई है; भारतवर्ष और अफगानिस्तान में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ प्रचार का कार्य जारी है।' रूस ने जो कार्य

प्रत्यक्ष करके दिखला दिया था उसका फैलते रहना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजों ने कितना भी प्रयत्न किया परन्तु वह रोका नही जा सका।

विरोध बढ़ता गया

१९२६ में रूस ने एशियायी राष्ट्रों के साथ तटस्थता और एक दूसरे पर चढ़ाई न करने की सन्धि करली तब अंग्रेज और भी अधिक बेचैन हुए। वे रूस से इतने चिढ़ गये कि इंग्लैड में कोयले की हड़ताल के समय मजदूरों के पास रूस के व्यवसायी संघों ने सहायता के लिए रुपये भेजे तो अंग्रेजी सरकार ने उसे अपराध समझा। इसी समय चीन में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय दल की विजय हुई। राष्ट्रीय सरकार सोवियटसरकार से सहानुभूति रखती थी और अंग्रेजी सरकार के प्रति उसके अच्छे भाव नहीं थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि जितने अन्यायपूर्ण कार्य चीन के साथ हुए थे उन्हे सोवियट सरकार ने रद्द कर दिया था परन्तु अंग्रेजी सरकार ने नहीं किया था। चीन के अपने प्रति अच्छे भाव नहीं रहने का कारण अंग्रेजो ने बोल्शेवी लोगों का प्रचार समझा। इससे अंग्रेज और भी अधिक जलते थे। अंग्रेज और रूसी सरकार का मनमुटाव दिन-दिन बढ़ता ही गया। ऐसा समझा जाने लगा कि दोनो सरकारों का सम्बन्ध अधिक दिनों तक नही टिक सकेगा।

सम्बन्ध-विच्छेद

हुआ भी ऐसा ही। १९२७ में लन्दन के रूसी व्यापारिक दूतावास की खानातलाशी ली गई। अंग्रेजो ने खानातलाशी का बहाना यह बतलाया था कि यहां पर युद्ध-विभाग के कुछ आवश्यक कागज छिपाकर

रखे गये हैं परन्तु वहाँ पर वैसे कागजों का नामोनिशान भी नहीं मिला। रूसी सरकार ने इस विषय में अंग्रेजी सरकार से शिकायत की कि सन्धि की शर्तें भंग की गई है। ऐसी हालत में दो ही बातें हो सकती थीं—अंग्रेजी सरकार या तो अपने 'होम सक्रेटरी' (स्वराष्ट्र-सचिव) को हटाती वा रूस के साथ सम्बन्ध त्याग करती। अन्त में २४ मई को सोवियट और अंग्रेजी सरकार का व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद हो गया और राजनैतिक सम्बन्ध कटु हो गये। यहाँ तक कि रूस और इंग्लैण्ड में लड़ाई छिड़ने के सभी चिन्ह दिखाई पड़ने लगे।

लड़ाई तो नहीं छिड़ी; उलटे व्यापारिक सन्धि टूट जाने से अंग्रेज व्यापारियों को घाटा होने लगा इसलिए वह सम्बन्ध फिर से स्थापित करने की बात चली और फिर व्यापार होने लगा। यह १९३३ के अप्रेल तक चलता रहा। १९३३ में 'मेट्रोपालिटन विकर्स' कम्पनी के कुछ इंजिनियरों को रूस में गिरफ्तार किया गया। उनपर इल्ज़ाम लगाया गया कि उन्होंने सोवियट शासन को असफल बनाने के उद्देश्य से बिजली तथा तेल के कारखानों को तहस-नहस करने के लिए रूसी कार्य-कर्ताओं को घूस दिया। इस मुकदमे में कुछ को रूस से निकाल दिया गया; कुछ को सजा हुई। इससे इंग्लैण्ड के अधिकारियों मे बदले की भावना जाग्रत हुई और फल-स्वरूप विशेष क़ानून के द्वारा रूसी माल पर उन्होंने जबरदस्त चुँगी लगा दी। रूस ने भी प्रतिक्रिया के रूप में अंग्रेजी मालपर गहरी चुँगी लगा दी है।

ब्रिटेन और रूस की विचार-धारा अलग-अलग है और

दोनों के उद्देश्य भी भिन्न है इसलिए उनके बीच स्थायी सम्बन्ध होना भी कठिन है। लार्ड बर्केनहेड ने एक बार लिखा था—'खूनियों और डाकुओं के साथ हमलोग राजनैतिक सन्धि स्थापित करने चले हैं; उन्हे रुपया ऋण देने चले हैं। पहले तो हमारे साथ व्यापार करेंगे और फिर, यदि सफल हुए तो, इंग्लैंड और सारे साम्राज्य में क्रान्ति करा देगे।' इंग्लैण्ड के सभी साम्राज्यवादी भाव रखने वालों का रूस के प्रति बर्कनहेड के समान ही भाव रहता है।

रूस का नैतिक प्रभाव

लड़ाई छिड़े अथवा सन्धि हो एशियायी राष्ट्रों पर रूस का असर बराबर बढ़ता ही जायगा। अभी भी उसका काफ़ी प्रचार चल रहा है। यदि बोल्शेवी लोगो के प्रचार के विषय मे अंग्रेज़ साम्राज्यवादियो की वातो पर विश्वास किया जाय तो मानना पड़ेगा कि बम्बई से शंघाई तक मज़दूरों की जितनी हड़तालें होती है सबो का अर्थ-संचालन सोवियट सरकार ही करती है परन्तु यह वात विश्वास करने योग्य नही है। इस प्रकार का अर्थ-संचालन तभी हो सकता है जब रूसी सरकार को रोज सोने की एक नई खान मिलती जाय। यदि हम लोग थोड़ा विचार कर देखेंगे तो पता चलेगा कि सोवियट सरकार का खज़ाना सोने से उतना अधिक भरा-पूरा नही है। इंग्लैंड की पार्लमेंट में जाने के लिए जब सकलतवाला को रुपयों के लिए भारतवर्ष से अपील करनी पड़ती है तव इस वात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि एशिया-भर में जितने मजदूरो की हड़ताले होती हैं सबों का अर्थ-संचालन सोवियट सरकार ही करती है ?

इधर भारतवर्ष मे भी मजदूरों की हड़तालें बहुत अधिक हुई है। इसका कारण तो यह है कि मजदूर बहुत ही दुखी अवस्था में है। इसमें रूस का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव रहना सम्भव है इसीलिए कई साल पहले असेम्बली में पास न होने पर भी भारत के गवर्नर-जेनरल ने अपने विशेषाधिकार से 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पास कर दिया। इस क़ानून द्वारा साम्यवादी विचार वालों का अच्छी तरह दमन हो सकता था। और किया भी गया। भारतवर्ष के लगभग सभी मज़दूर नेताओं को भारतीय सरकार ने मेरठ के मामले में गिरफ्तार कर लिया। उन्हे गिरफ्तार कर सरकार मजदूर आन्दोलन को बिल्कुल ही दबा देना चाहती थी। हाल में, लग-भग ५ वर्ष बाद उनके मुक़दमे मे जो सज़ाएँ सुनाई गई हैं उनसे भी इसकी पुष्टि होती है। विद्यार्थियों के जर्मनी मे भी जाने देने से ओडायर महाशय को भय होने लगा है। रूस की तो बात ही छोड़ देना चाहिए। उनका ख़याल है कि वहाँ जाकर लड़के साम्यवादियों के चक्कर मे पड़ जाते हैं। शायद इस विषय में भी एक क़ानून बना दिया जाय! जो भी हो, इस प्रकार की कार्रवाइयों द्वारा आन्दोलन का दब जाना असम्भव है। एशियायी राष्ट्र रूस की ओर आकर्षित होते हैं; इसका एक कारण यह है कि रूस ने एशियायी लोगो को अपनी बराबरी का मनुष्य माना है। साम्राज्यवादी एशिया में लूट-खसोट करने के लिए आये थे। अपने नैतिक बल से उन्होंने एशियायी लोगों को अपने अधिकार मे नहीं किया। वे एशियावासियों को मनुष्य भी नहीं समझते; वे उन्हे उन अधिकारों से वंचित रखना चाहते हैं जो उन्हें स्वयं बहुत

झूठा प्रचार

अधिक प्यारे हैं और जिनके लिए वे मर-मिट जा सकते हैं। रूस ने एशियायियों को मनुष्यता के अधिकार से वंचित नहीं रखा इसीलिए आज सारे एशियायी राष्ट्र उसके नेतृत्व में आगे बढ़ते हुए पश्चिम के साम्राज्यवादियों से अपना अधिकार छीन लेना चाहते है। अगले अध्यायों में हम लोग देखेंगे कि किस प्रकार से उन राष्ट्रों ने अधिकार—प्राप्ति के लिए लड़ाई की और अभी वे संग्राम की किस अवस्था में है !

[२]

क्रान्ति के पथ पर

महासमर के पहले एशियायी राष्ट्रों ने क्रान्ति की थी उसमें उन्हें बहुत-कुछ सफलता भी मिली थी परन्तु उनकी विजय स्थायी नहीं रही। क्रान्ति के थोड़े ही दिनों बाद देखा गया कि सभी देशों की स्थिति क्रान्ति के पहले की तरह होती जा रही है। इसका एक बड़ा कारण था। देश में साम्राज्यवादियों की शक्ति जम गई थी। पुराने समय की राज्य-व्यवस्थाओं की तरह उनकी राज्यव्यवस्था ऐसी दुर्बल नहीं थी कि एक धक्के से ही चूर-चूर हो जाती। पुराने राज्यो की शक्ति को तो उन्होंने अपनाया ही था, साथ ही उसमें अपनी ओर से वृद्धि भी की थी। उनकी राज्यशक्ति की नींव इतनी कमजोर नही थी कि थोड़े से मध्यमवर्ग के लोग अपना संगठन कर उसे उखाड़ फेंकने में समर्थ हो जाते। फ्रांस, इटली अथवा अन्य देशों की तरह की क्रान्तियाँ पुरानी हो चुकी थीं। उन क्रान्तियो के ही रास्तों को अपनाकर इस समय विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। इस समय सफलता प्राप्त करने के लिए महान शक्ति की आवश्यकता थी।

रूस के लेनिन इत्यादि ने इस विषय पर अच्छी तरह विचार किया। उन्होने देखा कि राजसत्ता जनता के अज्ञान और उदासीन रहने का नाजायज फायदा उठा लिया करती है।

जनता को सदा अज्ञान में ही रखे रहने का वह प्रयत्न करती है। अज्ञान का प्राबल्य रहने के कारण जनता अपने हिताहित का विवेचन करने में असमर्थ रहती है। वह समझती है कि वर्तमान शासक रहें वा उनके स्थान पर कुछ दूसरे मध्यमवर्ग के लोग रहें उसके लिए समान ही है। वे दोनों ही अवस्था में गरीब बने रहेंगे। दोनों में कोई भी उनकी अवस्था में सुधार नहीं कर सकेगा। उनके इस प्रकार उदासीन हो जाने से देश मे क्रान्ति करने वालों, नया शासन स्थापित करने वालों को नैतिक बल प्राप्त नहीं होता था। राजशक्ति की सहायता करनेवाले पादरी, मुल्ला वा ऐसे ही धार्मिक जगत् के नेता कहलानेवाले लोग होते थे। वे राजाओं के कर्त्तव्यो पर ध्यान नहीं देते थे, सदा जनता को ही शिक्षा दिया करते थे कि उन लोगो का राजाओ के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए! जनता पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता था।

जन-प्रवृत्ति की समीक्षा

लेनिन आदि ने देखा कि जब तक जनता को अपने साथ नही लिया जायगा उन्हे सफलता नहीं मिलेगी। विजय प्राप्त करने के लिए उन्हे नैतिक बल प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होने जनता मे यह भाव फैलाना शुरू किया कि वे लोग जो कुछ भी कार्य कर रहे हैं कुछ थोड़े से शिक्षित मध्यमवर्ग के लोगो के लिए नही परन्तु सारी जनता के लाभ के लिए कर रहे है। वे सदा ऐसा ही प्रचार करते थे जिसमे जनता अपने लाभ का ख़याल करे और उन्हे सहायता पहुँचावे। जनता प्रत्यक्ष रूप से अधिक सहायता किसी भी संग्राम में नहीं

पहुँचाया करती, फिर भी उसकी इच्छा और सहानुभूति से बड़े-बड़े कार्य हो जाते हैं। राजशक्ति उनसे नाजायज फायदा न उठाये तो अपना लाभ सिद्ध नहीं कर सकती।

दूसरी ओर निजी स्वार्थ-त्याग और जनता की भलाइयों का उद्देश रखकर ही पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती।

संगठन की आवश्यकता

जनता में इन भावों के भरने के साथ ही साथ एक संगठित शक्ति की आवश्यकता होती है। राजशक्ति थोड़े से ही लोगों के हाथो में रहती है परन्तु खूब संगठित रहने के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। जनता में भावो के फैलाने के ज़ोर पर बिना संगठित शक्ति के रहे सफलता मिल जाती है परन्तु वह सफलता स्थायी नहीं रहती। सफलता स्थायी बनाने के लिए प्रत्येक देश में एक शक्तिशाली संगठित दल की आवश्यकता होती है।

रूस में बोल्शेवी दल ने जनता में भाव फैलाये थे; उन्हें समझा दिया था कि उनके हाथ मे शक्ति आने पर उनकी अवस्था बहुत सुधर जायगी; वे शिक्षित बना दिये जायंगे फिर उन्हे कोई ठग नही सकेगा। साथ ही उन लोगो ने अपना एक मज़बूत संगठित दल भी बना लिया था इसीलिए उन लोगों की विजय हुई। संगठित दल की महत्ता न समझनेवाले लोगों का यही ख़याल था कि बोल्शेवी शासन रूस में चार दिन की चाँदनी है। उस शासन के स्थिर एवं स्थायी रूप धारण करने पर लोग वर्तमान समय के अल्प किन्तु संगठित दल की महत्ता समझने लगे हैं। लेनिन ने अपनी एक किताब में इस प्रश्न पर विचार भी किया है कि अल्पसंख्यक बोल्शेवीदल किस प्रकार

राजशक्ति को अपने हाथों मे रख सकेगा। उसने दिखलाया है कि राजशक्ति सदा से ही अल्पसंख्यक लोगो के ही हाथों में रहती आई है। वे अल्पसंख्या में रहनेवाले लोग इस कुशलता से कार्य-संपादन करते हैं कि दूसरे लोग उनका विरोध ही नहीं कर पाते। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी (साम्यवादी दल) अल्प संख्या मे है फिर भी अपने त्याग तथा आदर्शों के बल पर राज्य-कार्य चलाती आई है। लोग उसका विरोध नहीं करते क्योकि वे समझते है कि उसके हाथो से राजशक्ति निकल जाने से उनकी अवस्था खराब हो जायगी।

रूस के इस कार्य का एशियायी राष्ट्रो पर बहुत ही गहरा असर पड़ा है। सभी ने रूस की ही नक़ल करने की कोशिश की है। उन लोगों ने अनुकरण किया है परन्तु परिस्थिति के अनुसार उनमे रूस की कार्य-प्रणाली से थोड़ा-बहुत विभेद होता गया है। चीन मे रूस का इस प्रकार से नक़ल करना बहुत ही स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। डा० सनयातसेन को १९११ की क्रान्ति मे सफलता हुई; उस समय राजशक्ति लोगों की दृष्टि मे गिर गई थी इसलिए विदेश से लौटे हुए और अन्य विद्यार्थियो ने उसे उखाड़ फेंका परन्तु वह दल स्थायी नहीं रह सका। चीन की अवस्था युवानशिकाई के सभापतित्व मे बहुत कुछ मंचू राजाओ के समय की ही जैसी होती जारही थी। सनयातसेन १९११ की क्रान्ति मे सफलता प्राप्त कर लेने पर भी विफल हुए। उन्हे इधर-उधर भटकते रहना पड़ा। चीन को वे जिस अवस्था मे लाना चाहते थे वह उस अवस्था मे नहीं आया। इस समय उन्होने रूस की

रूस का अनुकरण

राज्यक्रान्ति का बहुत ही अच्छी तरह अध्ययन किया। उन्होंने अपनी जीवनी में यह बात स्वीकार की है कि रूस से उन्होने बहुत कुछ सीखा था। लेनिन से उनकी इस विषय पर बातचीत भी हुई थी। इस समय से उन्होंने जनता के महत्व को समझा।

जनता मे जागृति की आवश्यकता

क्रान्ति सफल बनाने के लिए जनता में जागृति लाना आवश्यक था। उन्होंने यही कार्य किया। दल की महत्ता उनके ध्यान में आई। जब तक वे जीवित रहे कुओमिंगटांग का संगठन भलीभांति करते रहे। मृत्यु के पहले उहोंने उसे इस प्रकार से संगठित कर लिया था कि वह अल्पसंख्या में रहने पर भी राज्य चला सकती थी। इसी का परिणाम हुआ कि हज़ार बाधाओं के सामने रहते हुए भी कुओमिंगटांग की विजय हुई। जनता की सहायता के बिना विजय नही हो सकती थी और दल के संगठित रहे बिना विजय स्थायी नही बनाई जा सकती थी। इस समय चीन की ऐसी अवस्था हो गई है कि वहां पर प्रतिक्रान्ति (Counter revolution) की तो बिल्कुल ही सम्भावना नहीं है। जनता के अधिक

चीन मे—

अधिकार प्राप्त करने के लिए क्रान्ति हो सकती है परन्तु कुओमिंगटांग ने अधिकारारूढ़ होने के बाद किसान तथा मज़दूरों की अवस्था में बहुत सुधार किया है इसलिए इस प्रकार की क्रान्ति की भी आशा नहीं है। *चीन

* चीन में गृह-कलह तो किसी न किसी रूप में चलता ही रहा है और अब भी आदर्श संगठित शासन-व्यवस्था की स्थापना नहीं हुई है। जापान की कुदृष्टि, युरोपीय शक्तियों के अत्यधिक प्रभाव, गरीबी, अकाल तथा गृह-कलह के कारण शासन की नींव मज़बूत नहीं हो पाई है और

ने साम्यवाद को स्वीकार नहीं किया परन्तु वह बहुत-कुछ उसी के रास्ते पर चला और उसे सफलता मिली।

तुर्की में भी ठीक चीन के ही जैसा कार्य हुआ। वहाँ की १९०८ की तरुण तुर्कों की क्रान्ति केवल ग्यारह महीने के लिए ही सफल हुई कही जा सकती है। अब्दुल-हमीद का अनियंत्रित शासन फिर से लौट रहा था। रूस की राज्य-क्रान्ति से सबक लेकर कमालपाशा ने जनता में राष्ट्रीय भाव फैलाये और अपना एक मजबूत दल बना लिया। इसी के आधार पर आज स्वतन्त्र तुर्की का शासन चलना सम्भव हुआ है।

तुर्की में—

फारस में किसी संगठित दल ने क्रान्ति नही की। वहाॅ पर एक ऐसी घटना हो गई जिसकी आशा पहले से किसी को नहीं थी। रूस ने अपना अधिकार वहाँ से उठा लिया। राज्य-शक्ति हाथ में आने पर वहाॅ के लोगों ने अपने अनुभव से राज्य चलाना आरम्भ किया। रिज़ाखां पहलवी शिक्षित आदमी नही थे। परन्तु वायुमण्डल मे जो भाव गूंज रहा था उससे प्रेरित होकर उन्होने सभी काम ठीक-ठीक चलाया। उनके सामने इतना प्रत्यक्ष था कि युरोपीय ढंग पर राज्यसंगठन होने से राज-शक्ति दृढ़ होती है इसीलिए वे अपने यहाॅ युरोपीय ढंग पर राज्य-संगठन करने लगे। अभी भी वहाॅ पर एक बड़ी ख़राबी है जो भविष्य

फारस में—

न शासन व्यवस्था-सम्बन्धी साधारण एव सैनिक उन्नति ही पर्याप्त मात्रा में हो सकी है। युवक विद्यार्थियों ने कई बार शासकों की कमजोरी को धिक्कारा है। —सम्पादक।

में अनिष्ट कर सकती है। रिज़ाखाँ का दल वहाँ पर संगठित नहीं है इसलिए प्रतिक्रान्ति की सम्भावना बहुत अधिक है। फारस स्वतन्त्र है परन्तु उसे स्वतन्त्र रहने के लिए इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर लेना चाहिए। हर्ष की बात है कि सम्राट् इस दिशा में भी प्रयत्नशील हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की अनुकूलता के कारण अफ़गानिस्तान को स्वतन्त्र बनाने में अमानुल्ला खाँ को अधिक कठिनाई नहीं हुई परन्तु अधिक दिनों तक वे अफ़गानिस्तान पर शासन नहीं कर सके। उन्हें देश छोड़कर बाहर चला जाना पड़ा। इसका मुख्य कारण यही था कि उनका कोई संगठित दल नहीं था। संगठित दल के ज़ोर पर वे बहुत बड़े-बड़े सुधार भी बात की बात में लोगों से मनवा ले सकते थे। वे जनता के लिए ही सुधार करते थे परन्तु जनता उन्हें समझ नहीं पाती थी। उन्हें जनता को समझाना चाहिए था; उसके सामने चित्र खींच देना चाहिए था कि सुधारों के अपनाने से उनकी स्थिति कितनी उन्नत हो जायगी। सुधारों के लिए अमानुल्ला कर बढ़ा रहे थे परन्तु जनता अज्ञानवश उसका लाभ नहीं समझ पाती थी। यदि जनता की आँखें खोलने और उसका अज्ञान दूर करने पर दृष्टि डाली जाती तो वहाँ इस प्रकार से विद्रोह खड़ा होने की सम्भावना नहीं थी।

अफ़गानिस्तान में—

भारतवर्ष में भी इस समय पहले-पहल आन्दोलन हुआ। उससे जागृति खूब अधिक हो गई और भविष्य में सफलता का पथ साफ़ हो गया परन्तु यहाँ पर संगठित दल के अभाव के कारण जितनी सफलता होनी

भारत में—

चाहिए थी उतनी नहीं हुई। गांधीजी के दल में असहयोग के समय बहुत अधिक आदमी आ गये थे परन्तु उस दल के संगठित करने पर अधिक ज़ोर नहीं दिया गया। थोड़े ही आदमी हों परन्तु खूब संगठित हों तो अधिक लाभ होता है। जिस सरकार से लड़ना है उसके संगठन की तुलना में यदि अपना संगठन बढ़ जाय तभी विजय की आशा रखनी चाहिए।

एशियायी राष्ट्रों ने यह भी देखा कि सामाजिक कुरीतियाँ, पुराने धार्मिक विचार और उनका—पुरानी चीजों का पुराने होने के ही कारण—आदर का भाव क्रान्ति के पथ में बाधक सिद्ध होता है इसीलिए उन्होने इन पथ के कंटको को दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया। इस समय के सभी उदाहरणो में ख़िलाफत का उठा देना इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है। लोगों ने जब देखा कि ख़िलाफत के रहने से देश पर पुनः संकट आने की सम्भावना है; देश पुनः गुलामी की जंज़ीरो मे जकड़ दिया जा सकता है तो उसी समय उन्होंने इस प्राचीन प्रथा को उठा दिया। मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता बहुत ही प्रसिद्ध है। अतः उन लोगो में इस प्रकार का परिवर्तन होना एक आश्चर्य-जनक घटना है। सभी एशियायी राष्ट्रों के भीतर इस समय यही भाव काम करने लगा कि यदि धर्मसे हमारा कोई फ़ायदा हो तो उसे मानना चाहिए,नही तो उसे छोड़ देनेमें ही बुद्धिमानी है।

स्त्रियों का हिस्सा

स्त्रियो की दिन-दिन ऐसी अवस्था होती जाती थी कि कुछ ही वर्षों के बाद वह उस अवस्था में पहुँच जातीं जब उनका मनुष्य नाम से पुकारा जाना भी लोगों के कानो में खटकने लगता परन्तु क्रांति आरम्भ

हो चुकी थी। स्त्रियों ने भी उसकी पूर्णता में सहायता पहुँचाई। पुरुषों ने उन्हें उठाने का प्रयत्न किया और वे स्वयं भी महा-यज्ञ में भाग लेने के लिए तैयार हो गई। जो स्त्रियाँ परदे के अन्धकार में पड़ी थीं वे ही स्त्रियां सभाओं में जाने लगीं और अपना अलग दल बनाकर राष्ट्र को उन्नति की ओर बढ़ाने में पुरुषों की सहायता करने लगी। वे अभी तक अशिक्षित ही रखी जाती थी परन्तु इस समय से उनकी शिक्षा के लिए भी आन्दोलन चलने लगा।

सभी एशियायी राष्ट्रों ने रूस को ही आदर्श मान लिया था। जान या अनजान में वे रूस की ही नकल करते थे परन्तु ऐसा कहना भी उनके उन्नति के महत्व को कम करना होगा। रूस में पहले क्रान्ति हुई थी इसलिए वे बातें वहाँ पर ही पहले दिखलाई पड़ी। यदि एशिया के किसी देश में पहले क्रान्ति हुई होती तो सम्भव है वे बाते पहले एशिया में ही दिखलाई देती। इसलिए यह कहना कि सभी एशियायी राष्ट्रों ने रूस की ही नक़ल की, एक दृष्टि से एशियायी राष्ट्रों का अपमान करना होगा। सम्भव है वर्तमान युग मे आर्थिक साम्राज्यवाद से टक्कर लेने के लिए क्रांति का यही एकमात्र पथ रहा हो!

[३]

नवजीवन

जब से तुर्क-साम्राज्य का अधःपतन आरम्भ हुआ वह उत्तरोत्तर नीचे ही गिरता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से तो युरोपीय राष्ट्र उसे 'युरोप का रोगी-मनुष्य' (Sick man of Europe) कहकर पुकारने लगे।

उलटा असर।

प्रत्येक वर्ष उसके युरोप से निकाल दिये जाने की आशा की जाती थी। महासमर के बाद मित्र-राष्ट्रों की कृपा से नकशे से तुर्की साम्राज्य उठ-सा गया था परन्तु रोगी की मृत्यु नहीं हुई। जैसी अवस्था नेपोलियन के आक्रमण के कारण जर्मनी की हुई थी वही अवस्था मित्र-राष्ट्रो के आक्रमण से तुर्की की हुई। जर्मनी के एकीकरण और उत्थान का कारण नेपोलियन का आक्रमण था। उसी प्रकार तुर्की मे नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना का कारण मित्रराष्ट्रो का तुर्क-साम्राज्य का ध्वंस कर देना और सुलतान का अपने अधीन कर लेना हुआ। जब तुर्की के साथ समझौता करने की शर्तें तैयार की जा रही थीं तभी इटली के प्रधान मंत्री निट्टी ने मित्र-राष्ट्रो से कहा था--

"आप लोगों ने तुर्क-साम्राज्य का पवित्र शहर एड्रियानोपोल ले लिया है। तुर्कों की राजधानी को विदेशियो के अधीन रखा है; उनके साम्राज्य का अधिकांश भाग और प्रत्येक बन्दर-

गाह ले लिया है; वहां के ऐसे पाँच प्रतिनिधियों से सन्धि-पत्र पर दस्तखत कराने जारहे हैं जो आपके ही द्वारा चुने हुए रहेंगे और जिसमें तुर्कों का अथवा तुर्की पार्लमेंट का कोई हाथ नहीं रहेगा। इन सब बातो से एशिया माइनर मे लड़ाई छिड़ जायगी उस समय हमारा देश न तो एक भी सैनिक भेजेगा और न खर्च के लिए एक पैसा देगा।"

निट्टी का कहना सत्य निकला। तुर्क लोगों ने निश्चित कर लिया कि मित्रराष्ट्रों की चालों द्वारा उनके शिकार बनकर जीवित रहने की अपेक्षा लड़ते हुए मर जाना अधिक श्रेयस्कर होगा। उन्होंने लड़ाई छेड़ दी और उसके परिणाम-स्वरूप वे रोगोन्मुक्त हो गये। मुस्तफा कमालपाशा-द्वारा निर्मित तुर्की राष्ट्र रोगी कहकर घृणा किये जाने योग्य नहीं रहा।

तुर्की की इस विजय का श्रेय वहाँ की लड़नेवाली बहादुर सेना की अपेक्षा उसके चतुर राजनीतिज्ञ नायकों को कहीं अधिक है। तुर्की की विजय का मुख्य कारण मित्र-राष्ट्रो की आपस की फूट थी। वे आपस में साम्राज्य के बँटवारे के लिए ही झगड़ने लगे। फ्रांस ने समझा कि उसे ग्रेटब्रिटेन ने हेजाज के शरीफ के साथ गुप्त समझौता कर धोखा दिया है। इटली एशिया माइनर में युनान की बढ़ती नहीं देख सकता था; फिर उसे कोई हिस्सा भी नहीं मिलनेवाला था। दूसरी ओर राष्ट्रीय तुर्की और सोवियट सरकार का लाभ इसी मे था कि दोनो एक-साथ मिलकर अंग्रेजों से लड़ें। अंग्रेज दोनो के ही शत्रु थे।

पश्चिम एशिया मे फ्रांस की बढ़ती से अंग्रेज बहुत घबड़ाते थे। उन्होने उसे रोकने [illegible] युनान [illegible] मजबूत कर देना

चाहा इसीलिए इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान-मंत्री लायडजार्ज ने युनान के स्मर्ना पर क़ब्जा जमाने के लिए बहुत जोर दिया। युनानियों और तुर्कों का झगड़ा बहुत दिनों से चला आता था।

तुर्की की स्वातंत्र्य-घोषणा

युनान का स्मर्ना पर क़ब्जा होना मित्रराष्ट्रो के प्रति तुर्कों के भीतर आग पैदा होना था। इसीकारण तुर्की के भीतर इतना जोश आया कि जबतक वह स्वतंत्र नहीं हो गया उसने दम नहीं लिया। युनान की सेना तुर्कों पर बहुत अत्याचार करती थी इससे तुर्क अधीर और अशान्त हो गये। इसी समय १९१९ के मई महीने में स्मर्ना के पास की सेना ने मित्रराष्ट्र और केन्द्रीय सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। कुस्तुनतुनिया से मुस्तफ़ा कमालपाशा विद्रोह दबाने के लिए भेजे गये परन्तु वे भी राष्ट्रीय विचार के थे इसलिए विद्रोहियों के ही साथ मिल गये। उन्होंने युनान और तुर्की की लड़ाई को राष्ट्रीय लड़ाई बना दिया और तुर्क लोगो को एक होकर विदेशी सरकार के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार हो जाने को कहा। उन्होने आवाज उठाई—'तुर्की तुर्कों का है।' उन्होंने अंगोरा में १९२० के अप्रैल मे 'ग्रेट नेशनल एसेम्वली' (राष्ट्रीय महासभा) स्थापित की और अपना काम बड़ी कुशलता से आगे बढ़ाने लगे। उनकी सरकार को मित्रराष्ट्रो ने स्वीकार नहीं किया परन्तु सोवियट सरकार ने उन्हे बधाई दी। अंगोरा की सरकार ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। यह मित्र-राष्ट्रों को दी गई चुनौती थी। सैवरे की सन्धि का समाचार अंगोरा पहुँचा तो कमालपाशा ने कहा—

हम क़यामत (प्रलय) के दिन तक इसके विरुद्ध लड़ाई करेंगे ।

सैवरे की सन्धि से मुसलमान—संसार में खलबली मच गई। उन लोगों ने समझा इस समय मुसलमानों पर बहुत बड़ी मुसीबत आपड़ी है इसलिए सब को एक हो जाना चाहिए। अफ़ग़ानिस्तान, फारस और बोखारा की सरकार ने अंगोरा की सरकार से आपस मे एक मजहब होने के कारण एकता की सन्धि करली। भारतवर्ष से हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही 'खिलाफत' 'खिलाफत' की आवाज उठाई। इस समय सभी मुसलमानों की आंखें अंगोरा की सरकार पर लगी हुई थीं। अरबों ने भी कमालपाशा को इस समय सहायता पहुँचाई। वहाँ के लोगों का भाव एक अरब राष्ट्रवादी नेता ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया—

मुसलमानों में घोर असन्तोष

"अंग्रेज और फ्रांसीसियो को समझ लेना चाहिए कि अरब और तुर्क एक ही मजहब के मानने वाले हैं। वे दोनो ही अनेक शताब्दियों से एक राज्य में रहते चले आये है। इस समय अरब अपने भाई तुर्कों से झगड़ा कर युरोपियन लोगो की दासता स्वीकार नही करेंगे।"

इसी समय तुर्कों के सदा के शत्रु रूस ने १६ मार्च १९२१ को तुर्कों से सन्धि करली। आरमीनिया मे अंग्रेजों ने ही विद्रोह का बीज बोया था। उसके भाग्य का भी निपटारा इसी समय सोवियट और अंगोरा की सरकार ने कर लिया। दोनों ने ही उसे आपस मे बाँट लिया।

फ्रांस और ब्रिटेन की तनातनी

सैवरे की सन्धि मनवाने के लिए अंग्रेज़ बहुत बेचैन हुए। वे फ्रांस को दबाने के लिए युनानियों को उस्काते थे परन्तु उन्हें इस बात का ख़याल नही था कि आगे चलकर कमालपाशा आ जायगा, रूस बाधक होगा अथवा फ्रांस तुर्कों से अलग सन्धि कर लेगा। और दूसरा उपाय न देखकर अंग्रेजों ने यूनान को सहायता दी और तुर्कों पर चढ़ाई करने के लिए कहा। यूनान वाले अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे इसलिए वे अंग्रेजों के कहने मे आ गये। तुर्कों और युनानियो की लड़ाई चल रही थी। फ्रांस अंग्रेजों की चाल से जला हुआ था इस-लिए उसने युनान की शक्ति कम कर देने का प्रयत्न किया। उसने साइलेशिया खाली कर दिया और १९२१ के अक्तूबर मे अंगोरा-सरकार से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार तुर्कों का सारे साइलेशिया पर कब्जा हो गया और तुर्क साम्रा-ज्य तथा सीरिया की सीमा निश्चित कर दी गई। फ्रांस के इस प्रकार के सन्धि कर लेने से अंग्रेज और फ्रांसीसियो का मनमुटाव और भी अधिक बढ़ गया। अंग्रेज़ युद्ध-सामग्री द्वारा युनान की और फ्रांसीसी रुपयो और हथियारों से तुर्को की सहायता करते रहे। रूस ने भी तुर्कों की काफी सहायता की। रूसी-तुर्की सीमा पर उसने अंग्रेजो को तुर्कों के खिलाफ फारस की खाड़ी की ओर से बढ़ने से रोक दिया। १९२२ के बीच मे अंग्रेजो ने युनान को कुस्तुनतुनिया पर कब्जा करने के लिए कहा परन्तु उस शहर की रक्षा स्वयं फ्रांस के एक सेनापति ने की। युनान की सेना पीछे हटती गई और अन्त में ९ सित-

क्षति फ्रांस को पहुँची वह कम नहीं थी। साम्राज्यवाद के खिलाफ एशिया की क्रान्ति में लुसान की सन्धि एक विशेष महत्व रखती है। प्राच्य देशों के छुटकारा पाने में यह एक विशेष अवस्था की सूचना थी।

तुर्की प्रत्यक्ष साम्राज्यवाद के पंजे से छूट गया परन्तु शांतिमय साम्राज्यवादी नीति से अपना छुटकारा नहीं कर सका।

ताड़ से गिरा तो खजूर में अटका।

शांतिमय साम्राज्यवाद की नीति बर्तनेवाला सब से बड़ा राष्ट्र अमेरिका था। उसी ने सब से पहले तुर्की को अपने बन्धन में जकड़ना चाहा। १९२३ में तुर्की से 'चेस्टर कन्सेशन' लिये गये। तुर्क समझते थे कि अमेरिका उनपर अपना राजनैतिक आधिपत्य नहीं जमायगा इसीलिए उन्होंने वहाँ की कम्पनियो को सुविधाएँ दीं। दूसरा कारण यह भी था कि तुर्क लुसान की कान्फ्रेंस में अमेरिका को अपनी ओर मिलाकर अपना पक्ष पुष्ट करना चाहते थे। ३० अप्रैल १९२३ को 'चेस्टर कंसेशन' दिये गये थे। इस सुविधा के अनुसार 'ओटोमन अमेरिकन डेवलपमेंट कंपनी' को बर्लिन-बग़दाद रेलवे की अपेक्षा भी अधिक लाभ होने की सम्भावना थी। चेस्टर सिंडिकेट को पूर्वी अनाटोलिया, आर्मीनिया मे अंगोरा होते हुए कृष्णसागर के किनारे से लेकर भूमध्यसागर पर अलेकजेण्ड्रेट्टा को मिलाते हुए मोसल और उत्तरी मेसोपोटामिया तक रेल बनाने का अधिकार मिला था। पूरी रेलवे लाइन २७१४ मील लम्बी तैयार होने को थी। यह बग़दाद रेलवे से भी बड़ी योजना थी। उस कंपनी को रेलवे लाइन की दोनों ओर २० किलोमिटर के भीतर की खानो का भी अधि-

कार दिया गया था। अंगोरा बसाने और वन्दरगाह तैयार करने का ठेका भी उसी कंपनी को तुर्की सरकार ने दिया था।

इंग्लैंड और फ्रांस दोनों देशो की कम्पनियों को इससे ईर्षा हुई। लुसान की कान्फ्रेंस मे अंग्रेज़ कम्पनियो को तुर्की-साम्राज्य में जो विशेषाधिकार थे उन्हें अमेरिकन मानने के लिए तैयार नहीं थे। अंग्रेज भी चेस्टर को दी गई सुविधाओं को यथासम्भव कम कर देने की कोशिश कर रहे थे इसीलिए ग्रेटब्रिटेन मोसल पर अपना दख़ल जमाना चाहता था। मोसल पर अंग्रेज़ो का अधिकार हो जाने से तुर्की सरकार को वहाँ पर चेस्टर को सुविधा देने का अधिकार नहीं रह जाता था। गुप्त सन्धियों के द्वारा मोसल में टर्किश पेट्रो-लियम कम्पनी (अंग्रेजी कम्पनी) को सुविधा देने का वादा करा कर मोसल को अंग्रेजों ने फ्रांसीसियो को दे दिया था। आगे चलकर मोसल के बदले दूसरा स्थान देकर ग्रेटब्रिटेन ने फ्रांस से मेसोपोटामिया के संरक्षित राज्य मे ही मोसल को भी शामिल करालेने की बात पक्की करली थी इसलिए इस समय वे मोसल पर अपना अधिकार बतलाते थे। दूसरी ओर तुर्की सरकार उस पर अपना अधिकार बतलाती थी, लुसान कान्फ्रेस मे इस मामले का निपटारा नही हो पाया था। मोसल का झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि ग्रेटब्रिटेन और तुर्की सरकार मे युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना दिखलाई देने लगी परन्तु तुर्की के राष्ट्रीय नेता अपनी कमजोरियों को जानते थे। इसी समय कुर्दिस्तान में कुर्दों ने तुर्की सरकार के ख़िलाफ़। क्रान्ति कर दी। इससे बाध्य होकर तुर्कों ने अंग्रेजो से मेल कर लेने मे ही अपनी भलाई

मोसल का झगड़ा

देखी। वे इस समय समझ गये थे कि फ्रांस से उन्हें सहायता नहीं मिलेगी। इटली भी अंग्रेजों का साथ दे रहा है, साथ ही भारतवर्ष के मुसलमान भी अंग्रेजों के भक्त हो गये हैं इसलिए अंग्रेजों पर दबाव नहीं डाला जा सकेगा। रूस की सहायता पर उन्होंने अधिक निर्भर नहीं किया। इसलिए ग्रेटब्रिटेन से लड़ने का विचार छोड़ दिया। मोसल का मुकद्दमा राष्ट्र-संघ के सामने पेश हुआ। उसमे अंग्रेजों की ही विजय हुई। तुर्की के राष्ट्रीय नेताओं ने पहले तो राष्ट्र-संघ के फ़ैसले का विरोध किया परन्तु कुछ ही दिनो बाद उसे चुपचाप मान लिया। मोसल इराक़ के क़ब्ज़े में रहा। इराक़ पर अंग्रेजों का प्रभुत्व था। अंग्रेजी सरकार ने अपने संरक्षित इराक सरकार से ७५ वर्ष के लिए मोसल और बग़दाद से तेल निकालने की सुविधा 'टर्किश पेट्रोलियम कम्पनी' (अंग्रेज़ी कम्पनी) के लिए ले ली। अमेरिकन तेल की कम्पनियाँ अंग्रेज़ी कम्पनियों से झगड़ने लगी। अन्त में १९२५ में तेल के झगड़े में समझौता हो गया। अमेरिकन कम्पनियों को भी तेल में हिस्सा मिला।

लगभग १९१८ से ही तुर्की के इतिहास में साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि तेल का मुख्य भाग रहा है परन्तु और दूसरे भी महान् परिवर्तन उस समय से हुए हैं। तुर्की के लोग केवल राजनैतिक स्वतंत्रता से ही प्रसन्न नहीं हुए। उन्होने आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की भी यथासाध्य चेष्टा की। लुसान की सन्धि से आर्थिक बन्धन टूट गये थे परन्तु तुर्की अपने पाँवो पर खड़ा हो सकता था वा नहीं इसमें सन्देह था। पहले तुर्क स्वयं व्यवसाय नहीं करते थे। उनके यहाँ व्यवसाय करनेवाले

आर्मीनियन, युनानी और यहूदी थे; ये ही लोग उधार रुपया भी दिया करते थे। रेल, खान आदि का अधिकार तुर्की-सरकार विदेशी व्यवसायियो को दे देती थी। राष्ट्रीय सरकार ने इस प्रकार के साम्राज्यवाद के खिलाफ भी क्रान्ति की। स्वतंत्र हो जाने पर तुर्क लोगों ने व्यावसायिक क्षेत्र मे आरमीनियन और युनानियो का स्थान लेना शुरू किया। अब विदेशी लोगो को पहले की भाँति सुविधाएँ देने का विचार छोड़ दिया गया है क्योंकि वे समझने लगे हैं कि युरोपियन साम्राज्यवादी उँगली पकड़ते-पकड़ते बाँह पकड़ लेते है। उन सुविधाओं के ही कारण उनका देश विदेशियों के हाथ मे चला जाता है। इस मामले में अब वे यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि कानून बनाकर तुर्की के सभी प्रकार के पद, असाधारण आवश्यकता को छोड़कर, तुर्की के नागरिकों के लिए ही सुरक्षित कर लिये गये हैं। थोड़े से विशेषज्ञों के लिए अपवाद कर दिया गया है। 'तुर्की तुर्कों का है' यह बात इस समय अक्षरशः प्रत्यक्ष दीख रही है। कोई भी सभ्य देश अपने देश मे विदेशी लोगो को नौकरी वा वैसा पद नहीं देता जिसमें वे वहां के अधिकारी बन जायँ। अभी सरकार को कुछ निपुण लोगों की आवश्यकता है इसीलिए थोड़े से लोग रखे गये हैं। वे लोग भी अधिक दिनों तक नहीं रखे जायँगे।

नौकरियों का राष्ट्रीयकरण

तुर्क जो कुछ भी करते हैं तुर्की की ही दृष्टि से करते है। तुर्क-साम्राज्य कायम रखना और उसे शक्तिशाली बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। यदि वे अपनी भलाई की सम्भावना देखेंगे तो

उन्हे अपने पुराने शत्रुओं से मित्रता कर लेने में भी हिचकिचाहट नहीं होगी। अभी तुर्की की यही इच्छा है कि वह अपनी इज्जत क़ायम रखते हुए शान्तिमय जीवन बितावे। फिर तुर्क जानते हैं कि उन्हें संसार के और राष्ट्रों से सम्बन्ध जारी रखना ही होगा। तत्काल उन्हें रेल बनाना है, जल-सेना तैयार करनी है, हवाई जहाज रखने हैं और अपने शिल्प को बढ़ाना है। इसके लिए उन्हें क़र्ज़ लेने की आवश्यकता है। विदेशी पूँजी के बिना वे अपने उद्देश्यो में सफल नहीं हो सकते। रूस उन्हे इस प्रकार की सहायता देने में असमर्थ है। साथ ही तुर्क रूस को बहुत अधिक शक्तिशाली भी नहीं बनने देना चाहते हैं क्योंकि उन्हें उससे खतरा है। तुर्क इस समय मध्यएशिया की ओर बढ़कर एक महान तुर्क-साम्राज्य क़ायम करना चाहते हैं; इसमें रूस बाधक सिद्ध होगा। कमालपाशा ने स्वतंत्र होने के समय रूस से सहायता ली परन्तु वे साम्यवादी विचार के नहीं थे। साम्यवादी विचारों से वे चिढ़ते हैं क्योकि उसमें तुर्क साम्राज्य की भलाई नहीं है। उन्होने एशिया माइनर में बोल्शेवी प्रचारकों को क़ैद कर लिया और काकेशस की सरहद पर कई बार रूसी और तुर्की सेना में लड़ाई भी हो गई है। तात्पर्य यह है कि कमालपाशा रूस से तुर्क-साम्राज्य की भलाई नहीं देखते, इसी लिए वे रूस के साथी नहीं है। वे समझते हैं कि नवीन तुर्की के लिए अधिक भलाई इसी में है कि तुर्की युरोपीय राष्ट्रों के साथ आर्थिक समझौता कर ले जिसमें उसे सहायता मिले। १९२७ में तुर्की के अर्थ-सचिव अब्दुल हलीक़ बे ने इसी कार्य के लिए लंदन, पेरिस, स्वीडेन आदि स्थानो की यात्रा की थी।

अमेरिका ने विदेशियों के विशेषाधिकार हटाये जाने वाली सन्धि पर दस्तखत नहीं किया फिर भी अमेरिका से मित्रता स्थापित रखने की तुर्क लोगों ने भरपूर कोशिश की है। इसके लिए उन्होंने अमेरिकन कम्पनियों को बहुत अधिक सुविधाएँ दी हैं।

तुर्की स्वतंत्र हो गया; उसके बाद तुर्क राजनीतिज्ञों ने लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में महान् परिवर्तन करना आरम्भ किया। कमालपाशा का नाम इस समय बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। उन्होने ही तुर्क-साम्राज्य को युरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से बचाया था। सभी लोग इस समय समझ रहे थे कि बचाये जाने का सारा श्रेय कमालपाशा को ही है। कमालपाशा स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले राष्ट्र का आदर्श व्यक्ति है इसीलिए केवल तुर्की के ही नहीं परन्तु सारे संसार के मुसलमान उन्हें आदर की दृष्टि से देखने लगे। कमालपाशा ने भी इस बात का अनुभव किया। उन्होंने भी समझ लिया कि युनान को लड़ाई में परास्त करने के बाद वह जो चाहे कर सकते हैं; कोई भी उनके विरोध में खड़ा नहीं हो सकता।

आन्तरिक सुधार

लड़ाई करते समय तुर्की नेताओं को सुलतान और खिलाफ़त दोनों के ही कायम रखने की आवश्यकता थी। यदि आरम्भ से ही उन्होंने सुलतान को गद्दी से उतार दिया होता तो दूसरी जगह के मुसलमान उनके विरोधी हो जाते। परन्तु सेवरे की सन्धि लोप कर देने और तुर्की का नकशा बदल डालने के बाद वह करना भी सरल हो गया। तुर्की का वास्तविक शासनाधिकार वहां की बड़ी राष्ट्रीय

प्रजातंत्र की घोषणा

मजलिस के हाथ में था; फिर भी कानून के हिसाव से छठा महम्मद सुलतान था। सुलतान के रहने से तुर्क-साम्राज्य पर फिर से संकट आने की संभावना थी इसलिए १ नवम्बर १९२२ से सुलतान बनने की प्रथा ही उठा दी गई। खिलाफत की प्रथा रखी गई परन्तु उसे चुनने का अधिकार मजलिस को था। कमालपाशा की व्यक्तिगत ख्याति के कारण इसका विरोध किसी ने भी नहीं किया। २९ अक्तूबर १९२३ को तुर्की प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। कमालपाशा नये प्रजातन्त्र-शासन के सभापति बनाये गये। वे केवल सभापति ही न थे; तुर्की के विषय में वे चाहे जो कर सकते थे। प्रजातन्त्रवादियों ने भी उनका विरोध नहीं किया क्योंकि सभी जानते थे कि नये प्रजातन्त्र के लिए एक होकर काम करना ही अच्छा है। तुर्की में बहुत दिनों से सुलतान का राज्य चला आया था; वहाँ के अधिकतर लोग यह भी नहीं समझ पाते थे कि प्रजातन्त्र किसे कहा जाता है; इससे कमालपाशा को सुविधा थी।

तुर्की के युरोप में बढ़ने की सम्भावना नहीं है। एशिया में ही अपनी शक्ति संचय करना और उसी ओर बढ़ना तुर्की ने अपना लक्ष्य बनाया। इसी विचार से महासमर के बाद तुर्की नेताओं ने अंगोरा में नई राजधानी बसाई। कुस्तुनतुनिया उजड़ गया। तुर्क-साम्राज्य से बहुत-से प्रदेशो का निकल जाना भी अच्छा ही हुआ। साम्राज्य बड़ा था परन्तु संगठित नहीं था इसलिए वह कमज़ोर था। उससे अच्छा छोटा किन्तु संगठित राज्य ही होता है।

लुसान की सन्धि के बाद तुर्की मजलिस ने अपनी अधि-

कांश शक्ति घरेलू मामलों का सुधार करने में ही लगाई। मुस्लिम-संसार में खलीफा का बहुत आदर था। यह प्रथा बहुत पुरानी थी परन्तु तुर्की के सुलतान लगभग तीन सौ वर्षों से ही खलीफा होते आते थे। कमालपाशा तुर्की को बीसवीं शताब्दी के संसार मे लाना चाहते थे। दूसरी क़ौमों के साथ बराबरी रहे इसलिए वे तुर्की की कायापलट करना चाहते थे। मुसलमान-संसार से खलीफा का उठा दिया जाना असम्भव-सा था परन्तु कमालपाशा ने उसे भी कर दिखाया। २ मार्च १९२४ ई० को खिलाफत उठा दी गई। राजघराने के जितने आदमी थे सबको तुर्की से बाहर निकाल दिया गया। खिलाफत उठ जाने से साधारण जनता को विशेष धक्का नहीं पहुँचा। जिन लोगों का अपना स्वार्थ होता है वे ही लोग इन बातों में अधिकतर भाग लिया करते हैं। लोगो का खयाल था कि यदि कमालपाशा न होते तो वे साम्राज्यवाद के चंगुल से न बच पाते। इसलिए वैसा आदमी यदि कुछ ज्यादती भी कर दे तो सह लेना चाहिए। लोग समझ रहे थे कि कमालपाशा के बिना तुर्की का काम नहीं चलेगा इसलिए उनका अधिक विरोध नही हुआ। उस समय से धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र अलग-अलग हो गये। मुल्लाओं के विशेषाधिकार छिन गये। मुसलमानो के कानून की पुरानी किताब—शरियत उठा दी गई और उसके बदले में नया सिविलकोड जारी किया गया।

धार्मिक सुधार

कमालपाशा का मुख्य उद्देश्य अन्धविश्वास को हटाना है। वह बुद्धिवादी हैं और चाहते हैं कि लोग प्रत्येक कार्य

पर विचार करे कि वह युक्तिसंगत है या नहीं। कमालपाशा के आने से तरुण तुर्कों की नीति में परिवर्तन हुआ। नये लोगों के सामने युरोपीय राष्ट्रों का नमूना है। तुर्की के नये सुधारकों की दृष्टि मे युरोपीय राष्ट्रों की वर्तमान उन्नतावस्था का मुख्य कारण उनका मध्ययुगीन क्रिश्चियन भाव को छोड़कर नये वैज्ञानिक युग में आना था, इसीलिए वर्तमान तरुण तुर्क इस्लाम की पुरानी परिपाटी हटाकर उसके स्थान पर राष्ट्रीयता का भाव भरना चाहते थे। कमालपाशा ने लोगों को सलाह दी कि वे कुर्बानी के लिए जानवरों के ख़रीदने में पैसे न लगाकर राष्ट्र के लिए हवाई जहाज़ खरीदने में लगावें जिसमें तुर्की की स्वतंत्रता सदा क़ायम रह सके।

अपनी शक्ति जमाते ही कमालपाशा ने लोगो के रहन-सहन, आचार-विचार में परिवर्तन करने आरम्भ किये। उन्होने

अन्धविश्वास से युद्ध

सभी बातों में पाश्चात्य राष्ट्रों की ही नक़ल की। क्योंकि उनका ख़याल है कि पाश्चात्य रहन-सहन अपनाने से ही उन्नति होगी। पहरावे के विषय में फ़ेज के बदले हैट पहनने और तुर्की की पोशाक के बदले युरोपियन ढंग की पोशाक पहनने की आज्ञा निकाली। स्त्रियों को पुरुषों के ही बराबर के सभी अधिकार दिये गये। 'हरम' की प्रथा उठा दी गई। सरकारी नौकरी करने वाली स्त्रियों के लिए घूँघट निकालने की भी मनाही हो गई। दूसरी स्त्रियो से भी उन्ही स्त्रियों की नक़ल करने के लिए कहा गया। विवाह और तलाक़ के नये क़ानून बना दिये गये। अब धर्म और राजनीति अलग-अलग काम कर रहे हैं इस-

लिए क़ुरान के अनुसार चार-चार शादियाँ करने के बदले एक तुर्क एक ही शादी कर सकता है। तुर्की की स्त्रियाँ अब तलाक़ दे सकती है। वहाँ की स्त्रियाँ रहन-सहन आदि सभी मामलों मे पेरिस की ही नक़ल करती हैं।

शाही जमाने के गहने लगभग दो करोड़ पौंड के थे। कमालपाशा ने उन्हे पेरिस और लंदन मे बेंचकर तुर्की के लिए स्टेट बैंक स्थापित किया। तुर्की की पुरानी यंत्री उठा दी गई, उसके बदले ग्रेगैरियन यंत्री रखी गई। तुर्की भाषा राष्ट्रभाषा बनाई गई। शिक्षा के सम्बन्ध मे भी वहुत से परिवर्तन किये गये। थोड़े से तुर्क युरोपीय देशो को शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करने गये। ३० अगस्त १९२८ को घोषणा की गई कि तुर्क राष्ट्र को अज्ञान से बचाने लिए अरबी लिपि दूर करके लैटिन लिपि काम मे लाई जायगी। तुर्की के शिक्षा-विभाग ने सभी सरकारी दफ़्तरो मे सूचना भिजवा दी कि अक्तूबर के महीने तक नई लिपि लोगो को आ जानो चाहिए। कमालपाशा ख़ुद ही अनाटोलिया के शहरो में घूम-घूमकर लोगों को नई लिपि सिखलाने लगे। उन्हे उमीद है कि कुछ ही वर्षों में सारी तुर्की जनता शिक्षित हो जायगी। तुर्की भाषा का एक नया कोष भी तैयार किया गया है।

कमालपाशा के उन सुधारों से, जिनसे मुसलमानो का धार्मिक सम्बन्ध था, कुछ कट्टर मुसलमान विगड़ खड़े हुए, परन्तु वे तुरत ही दबा दिये गये। १९२५ के लगभग तुर्की असेम्बली मे भी थोड़ा मत-भेद हो गया। 'टर्किश युनियन ऐड प्रोग्रेस' पार्टी के कुछ पुराने सदस्य

विरोध और प्रतीकार

कमालपाशा का डिक्टेटर बनना देख बिगड़ खड़े हुए। उनमें से कुछ ने कमालपाशा को मार डालने का भी प्रयत्न किया परन्तु वे सफल नहीं हुए। १९२६ की जुलाई में वहाँ पर तेरह प्रमुख व्यक्तियों को सजा दी गई। उनमें कई फाँसी पर भी लटका दिये गये। उनका विद्रोह कुछ वैसा संगठित नहीं था। जैसी परिस्थिति है और कमालपाशा ने तुर्की में जो महान् परिवर्तन थोड़े समय में कर दिखाया है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कमालपाशा के जीवित रहते उनके खिलाफ दूसरे लोगों की नहीं चलेगी क्योंकि जनता पर उनका बहुत अधिक प्रभाव है। अलबानिया के प्रजातंत्र शासन में अहमद बेग जोगू के राजा हो जाने पर १९२८ के सितम्बर में ऐसी अफवाह उड़ी थी कि कमाल पाशा भी तुर्की के राजा हो जायँगे। इसके लिए बहुत से लोगों ने उनके पास अर्जियाँ भी भेजी थीं परन्तु उसी साल अक्तूबर के महीने में कमाल पाशा ने इस बात का विरोध किया और 'पेटिट पैरीसियन्स' अखबार के प्रतिनिधि से कहा कि वे अल्बानिया का राजा अहमद बेग जोगू को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। उनके विरोध के लिए संसार में अकेला कमालपाशा भी रह जाय तो भी वह विरोध करता ही जायगा।

इस समय तुर्की शान्तिपूर्वक उन्नति कर रहा है। वहाँ पर किसी प्रकार का विद्रोह नहीं चल रहा है। तुर्की प्रजातन्त्र सभी प्रकार के षड्यन्त्रों से मुक्त है। इटली और तुर्की प्रजातंत्र एक दूसरे पर पहले सन्देह कर रहे थे परन्तु चार-पाँच साल पहले में जो सन्धि हुई उससे वे सभी सन्देह दूर हो गये। युनान

के साथ भी उसका अच्छा सम्बन्ध है। तुर्की सरकार इस समय देश के भीतरी मामलों के सुधार करने में लगी है। सिचाई, रेल बनाना, बीमारियों का दमन करना आदि कार्य जारी हैं। वहाँ पर कर बढ़ा दिया गया है और विदेशी लोगों से ऋण लेना बंद कर दिया गया है।

आर्थिक अवस्था

तुर्की की आर्थिक अवस्था वैसी बुरी नहीं है। लुसान की सन्धि में निश्चित हो गया था कि तुर्की के सुल्तानों ने विदेशी शक्तियो से लड़ाई के पहले जो ऋण लिया है उसका ६० प्रतिशत ही वर्तमान तुर्की सरकार पर है। तुर्की उस रकम को और भी कम कराना चाहता है और इसीलिए फ्रांस पर ज़ोर डाल रहा है। इस समय तुर्की सरकार का मुख्य कार्य सुधार करना है।

आत्मावलम्बी सरकार

तुर्की सरकार किसी भी प्रकार के सुधार के कार्य मे विदेशी लोगो से सहायता नही लेती। उसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है। कर के विषय में उन्होने इस प्रकार की नीति वर्ती है जिससे बहुत-सा तैयार माल विदेश से आना रुक गया है। तुर्क चाहते हैं कि सभी काम तुर्कों द्वारा ही हो परन्तु उन्हे अभी पूर्णरूप से सफलता नही मिली है। अधिकारियो ने एकबार ऐसी विज्ञप्ति निकाल दी कि कुस्तुनतुनिया में वे ही जहाज़ चलाये जायँगे जिनके चलानेवाले तुर्क रहेगे। उस समय तुर्क उस विद्या में निपुण नहीं थे अतः कुछ समय के लिए जहाज़ चलाना बन्द हो गया था। पर अब अवस्था बहुत सुधर गई है और पहले की कठिनाइयाँ बहुत-कुछ दूर हो गई हैं।

अपना राष्ट्रीय धन बढ़ाने के लिए तुर्की को कृषि का ही सहारा लेना पड़ता है परन्तु कृषि की अवस्था बहुत अच्छी नही है। उसमे सुधार करने के लिए बहुत रुपयों की आवश्यकता है परन्तु तुर्की के पास रुपये अधिक नहीं हैं। तुर्की सरकार विदेशी लोगों से बहुत ऋण नहीं लेना चाहती क्योंकि वह विदेशी पूँजी से डरती है। बगदाद रेलवे का कुस्तुनतुनिया और अंगोरा से मिलाने वाला अनाटोलिया का भाग तुर्की सरकार ने खुद खरीद लेने और तुर्कों के ही निरीक्षण मे चलाने की घोषणा की। उस समय से तुर्की सरकार ने अपनी नीति थोड़ी ढीली की है। बेल्जियम और स्वीडेन की कुछ कम्पनियो को थोड़ा-बहुत रेल और बन्दर तैयार करने का ठीका दिया। उसने अमेरिकन बैंकरों से रेल बनाने के लिए दो करोड़ डालर ऋण लेने का भी निश्चय किया। जापान ने नवीन तुर्की के साथ अपना व्यापार चलाने का बहुत प्रयत्न किया। और उसे कुछ सफलता भी हुई। तुर्की सरकार ने भी जापानियों की सहायता की। जापान साम्राज्यवादी होते हुए भी एशियायी राष्ट्र है। युरोपीय देशो से व्यापार न करके यदि जापान के ही साथ व्यापार हो तो अच्छा ही है।

इन सभी कार्यों के चलाने मे हम लोग यही देखते हैं कि तुर्क-राजनैतिक साम्राज्यवाद से तो छूट ही गये हैं, साथ ही शांतिमय साम्राज्यवाद के चंगुल से पूर्णरूप से छूट जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अभी तक उन्हे संग्राम में सफलता ही मिलती आई है। तुर्की के प्रभाव से मुसलमान राष्ट्र बहुत प्रभावित हुए है। आधुनिक जगत् की झलक दिखलाने और साम्राज्यवाद को

कमजोर करने में पश्चिमी एशिया का इस समय तुर्की ही नेता बन रहा है। तुर्की ने इस समय सारे एशियायी राष्ट्रों के भीतर स्वतंत्रता की नई उमंग, नये विचार और भविष्य की उज्ज्वल आशाएँ भर दी हैं।

[४]

बन्धन-मुक्त फ़ारस

१९२१ के आरम्भ में फारस में अंग्रेजों की नीति सफल होती-सी दिखलाई देती थी। फारस पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधिकार में चला जाता परन्तु रूस ने बीच में आकर सारा मामला बिगाड़ दिया। अंग्रेजों ने रुपया देकर मंत्रियों से ऐंग्लो-पर्शियन सन्धि पर दस्तख़त करा लिया था परन्तु मजलिस ने उस सन्धि को स्वीकार नहीं किया।

२० फरवरी १९२१ को फारस में क्रान्ति हो गई। इस क्रान्ति में रूस का हाथ था। इस समय के शाह अहमदशाह कम उम्र के और बहुत कमज़ोर थे। फारस का राष्ट्रीयदल, जिसके नेता 'शद' के सम्पादक जियाउद्दीन थे, इस समय चाहता था कि सरकार पर उसका कब्जा हो जाय। जियाउद्दीन ने कोजैक सेनापति रिज़ा खां को अपनी ओर मिला लिया। २१ फ़रवरी १९२१ को रिजा खां ने सेना लेकर तेहरान पर धावा कर दिया। और रातोंरात वहाँपर अपना अधिकार जमा लिया। पुराना मंत्रि-मंडल तोड़ दिया गया। इस समय जियाउद्दीन प्रधानमंत्री और रिजा खां सरदार सिपाह (सेनापति) बनाये गये। इस समय रूस की एशियायी नीति के कारण अंग्रेजों को कुछ भी बोलने की हिम्मत नहीं हुई। पहले की तरह इस समय शाह को छिपा रखकर अपना काम निकालना असम्भव था।

क्रान्ति

अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रीयदल का पक्ष मजबूत करने के लिए सोवियट सरकार ने २६ फरवरी १९२१ को फारस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार उसने फारस के अपने सभी अधिकार, केवल काश्पियन समुद्र में मछली मारने के अधिकार के अतिरिक्त, छोड़ दिये। अब फारस को रूस की ओर से खतरा नहीं रह गया। उसने कमालपाशा को भी रूस की सहायता लेकर सैवरे की सन्धि रद्द करने का प्रयत्न करते देखा था। १९१९ के अफग़ानिस्तान और अंग्रेजो की लड़ाई का उदाहरण भी उसके सामने था; उस लड़ाई में अंग्रेजों की विजय हुई थी फिर भी अफग़ानिस्तान स्वतंत्र कर दिया गया। रूस के ही कारण ग्रेटब्रिटेन को अपनी एशियायी नीति बदलनी पड़ी थी। उसका फ़ायदा फारस ने भी उठाना चाहा।

रूस और फारस की सन्धि

इसी समय अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका ने भी फारस की सहायता की। अंग्रेज और अमेरिकन लोगों मे मेल था फिर भी अमेरिकन यह नहीं चाहते थे कि मध्य एशिया और फ़ारस के सब कच्चे माल, खासकर तेल, पर अंग्रेजों का एकाधिकार हो जाय। अमेरिका भी चाहता था कि उसके व्यापारियों को भी फारस मे पूँजी लगाने की वैसी ही सुविधा प्राप्त हो जैसी अंग्रेजों को है। इस विषय मे २१ जनवरी १९२२ को अमेरिका ने फारस को लिखा भी था कि 'अमेरिकन सरकार फारस पर किसी एक शक्ति का पूर्ण अधिकार नहीं होने देगी। वहाँ पर व्यापार करने के लिए सब को बराबर अधिकार रहना चाहिए।'

अमेरिका की सहानुभूति

पहले-पहल बजट बना। रिज़ा खां को सबसे बड़ी चिन्ता सैन्य-संगठन की थी। उन्होंने उसपर अर्थ-सचिव का अधिकार रहना ठीक नहीं समझा इसलिए अमेरिकन विशेषज्ञों से पहली शर्त यह मनवाली कि आमदनी के रुपयो में से सबसे पहले वे लोग एक करोड़ तोमन (डालर) सालाना युद्ध-विभाग को दिया करेंगे। युद्ध-विभाग उस रक़म का हिसाब भी उन्हें नहीं दिया करेगा। रिज़ा खां हिसाब देने में अपना अपमान समझते थे। ख़र्च के और दूसरे विभागों का निरीक्षण करने में इन विशेषज्ञों को पूरी सफलता हुई। रिज़ा खां सदा उनकी सहायता करते रहे।

महम्मरा के शेख़ पर विजय

महम्मरा के शेख फारस सरकार को कर नहीं दिया करते थे। वे अंग्रेजों के कब्जे में आगये थे और अपने को स्वतंत्र समझते थे। अर्थ-शास्त्रियों ने उनसे कर के एक करोड़ बीस लाख डालर माँगे। शेख़ ने ख़ुद तो कर देने से इन्कार ही किया, साथ ही बख्तियारी सरदार को भी देने से मना किया। रिज़ा खां बीस हज़ार सैनिक लेकर स्वयं उन लोगों की ओर बढ़े। बख्तियारी सरदार ने पहले ही अधीनता स्वीकार कर ली। अंग्रेजों ने महम्मरा के शेख को सहायता पहुँचाई फिर भी शेख़ को रिज़ा खां के सामने झुकना पड़ा। उन्होंने फारस की अधीनता स्वीकार की और कर देने लगे।

रिज़ा खां ने व्यापारिक सड़कें सुरक्षित रखने के लिए गारद बैठा दिया। महम्मरा के शेख़ को हराकर लौटने पर उनका बहुत नाम हुआ। सारे फारस में उनकी सुख्याति फैल गई।

सभी लोग समझने लगे कि फारस की अस्तव्यस्त अवस्था सुधारना अथवा व्यापारी तथा यात्रियों की रक्षा करना किसी के लिए सम्भव है तो वह रिज़ा खां है। रिजाखां के मकान पर लोग उनका दर्शन करने लगे। फारस में दौरा करने पर स्वयं उन्हें अपनी ख्याति का पता चला। अब इन्हे स्वयं शाह बन जाने की इच्छा हुई परन्तु गद्दी दखल कर लेने की हिम्मत न हुई। कजर वंश का राज्य चला आता था; उस समय भला रिज़ा खां कैसे राजा हो सकते थे? रिज़ा खॉ ने छिपे-छिपे अहमद शाह को उतारने का प्रयत्न किया। युद्ध-विभाग का वे जितना रुपया लेते थे उसका लगभग तृतीयांश वे इसी कार्य मे खर्च कर देते थे। सबसे पहले उन्होंने शासन-प्रणाली का रूप बदल देना चाहा। उन्होंने फारस मे प्रजातन्त्र स्थापित करने की सोची। इस बात के लिए वे लोगो से दरख्वास्त लिखवा-लिखवाकर अपने पास मॅगवाने लगे। अन्त मे चुनाव हुआ। रिज़ा खां ने स्वयं जिन लोगों को चाहा, वे ही लोग चुने गये। प्रजातन्त्र शासन स्थापित हो गया। लोगों को इसमें शक हुआ कि रिज़ा खां शायद इसमे कोई चाल चल रहे हैं। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वे जानते थे लोग उनकी खुशामद करने आयेंगे और उस समय वे फिर से अधिकारारूढ़ हो जायँगे। हुआ भी ऐसा ही। लोगो के अनुरोध पर रिज़ा खां ने अपना इस्तीफा वापस कर लिया। मजलिस के सदस्यो ने, जो रिज़ा खां की कृपा से चुने गये थे, १९२५ मे यह घोषित कर दिया कि अहमदशाह

प्रभाव में वृद्धि

क़जर गद्दी से उतार दिये गये और अस्थायी सरकार का अधिकार रिज़ा खां के हाथ में रहेगा। रिज़ा खां ने सदस्यों-

फारस के सिंहासन पर—

द्वारा यह प्रस्ताव भी पास करा लिया कि देश प्रजासत्तात्मक राज्य के लिए तैयार नही है इसलिए शाह की प्रणाली क़ायम रहे। रिज़ा खां ने अपने को शाह चुनवा लिया। २५ अप्रैल १९२६ को वे सिंहासनारूढ़ हुए और रिज़ाशाह बन गये। खान्दान चलाने और लोगों में अपने खान्दान के लिए आदर का भाव भरने के लिए उन्होंने 'पहलवी' नाम की पुरानी खिताब धारण की। इनका राज्याभिषेक बड़े ही धूमधाम से हुआ। इन्होंने अपने लिए एक नया ताज बनवाया और लड़के को उत्तराधिकारी बनाया। नादिरशाह का पुराना तख़्त निकाला गया और वे उसपर बैठे। मजलिस ने उन्हे शाह स्वीकार कर ही लिया था, मुल्लाओं ने इस विषय में उदासीनता दिखलाई क्योंकि वे सभी समझते थे कि इस समय सबसे शक्तिमान आदमी फारस में रिज़ा खां ही है।

जब अंग्रेज अधिकारियों ने देख लिया कि रिज़ा खां ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसका फारस में सबसे अधिक प्रभाव है

अंग्रेजों की स्वीकृति

तब उन्हों ने उसका साथ देना शुरू किया। अंग्रेज अपना हित साधने के लिए सदा उसी की सहायता करते हैं जिसके हाथ में अधिकार रहता है। १९२५ में रिज़ा खां के अधिकार में अस्थायी सरकार आई तो अंग्रेज़ ही ऐसे थे जिन्होंने सबसे पहले उन्हें अस्थायी सरकार का प्रधान स्वीकार किया। रिज़ा खां का शाह होना भी इन्होंने ही सबसे पहले स्वीकार किया। अंग्रेज़ सदा से यही चाहते

आये हैं कि फारस उनके अधिकार में आ जाय । यह नीति उन्होंने कभी नहीं छोड़ी । दक्षिणी फारस में उनका आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही स्वार्थ है। उस स्वार्थ की रक्षा करना ही उनका मूल उद्देश है । दूसरा उद्देश धीरे-धीरे उत्तर की ओर जाना है । उन्होंने देखा कि रिज़ा खां से उनका बहुत काम निकल सकता है; उनसे मेल रखकर वे अपनी पहले जैसी स्थिति फारस में कायम कर सकेंगे; इसीलिए उन्होंने उनसे मेल कर लिया ।

रिज़ा खां भी अपनी शक्ति फारस में मजबूती से जमा लेना चाहते हैं । इसके लिए उन्हे रूस से सहायता मिलने की आशा नहीं है क्योंकि सोवियट सरकार अपनी नीति से वाध्य है । वह एशियायी राष्ट्रों की मित्र है इसलिए फारस के ही किसी आदमी को निज का हित-सम्पादन करने मे और दूसरे लोगों को दबाने में वह सहायता नहीं करेगी । साम्यवादी विचार के रहने के कारण रूसी रिज़ा खां के खिलाफ़ ही फ़ारस मे प्रचार करेंगे । इसलिए अपनी शक्ति जमाने के उद्देश से रिज़ा खां ने रूस से मेल करना अच्छा नहीं समझा । * इस काम के लिए उन्होने अंग्रेज़ो से मेल किया । उन्हे विश्वास था कि अंग्रेज़ कम से कम उनको निजी शक्ति जमाने देने मे वाधा नहीं पहुँचायँगे ।

---

* इतने पर भी फारस मे रूस का ही प्रभाव सर्वाधिक है । यद्यपि अब उसके प्रति कुछ असन्तोष का भाव पैदा होने लगा है फिर भी नज़दीक होने के कारण रूस से फारस को व्यापारिक सुविधाए अधिक हैं ।

—सम्पादक ।

अंग्रेजों के साथ फारस की जो सन्धि होने जा रही थी, उस पर घूस लेकर जिस मंत्री ने दस्तखत किये थे उसी को रिज़ाशाह ने राज्यकार्य के लिए मंत्री नियुक्त किया। इससे मालूम पड़ता है कि रिज़ाशाह को अंग्रेजों से मदद मिली। मंत्रिमण्डल में भी अंग्रेजो के पक्ष के अधिक आदमी है फिर भी अंग्रेजों का इतना अधिक हाथ नहीं है जिससे फ़ारस-सरकार उनके लिए कुछ रियायत करने को बाध्य हो। अंग्रेज रूसी सरकार से भय खाते है, इसलिए उनका भी रिज़ाशाह से मिलकर रहना आवश्यक है। रिज़ाशाह भी देखते है कि बिना किसी हानि के यदि अंग्रेजों से मैत्री होजाय तो क्यो न कर ली जाय?

अंग्रेजों से मित्रता करते समय फ़ारस अपने लाभ पर समुचित रूप से ध्यान देता है। मिश्र से भारतवर्ष तक हवाई रास्ता बनाने मे देर हुई, इसका एकमात्र कारण यह था कि फ़ारस-सरकार फारस की खाड़ी पर अंग्रेजों का बहुत अधिक प्रभाव नहीं जमने देना चाहती थी। फारस की स्वतन्त्रता मे बाधा पड़ सकती थी इसीलिए मजलिस उसे अनिश्चित सरकार के १९२१ ई० में मान लेने पर भी मानने के लिए तैयार नही होती थी। एँग्लो पर्शियन तेल की कंम्पनी तेल की खानों से लेकर तेहरान तक एक सड़क बनाना चाहती थी उसे भी फ़ारस-सरकार ने अंग्रेजो की सैनिक चालाकी समझकर रोक दिया।

फारस और तुर्की की सन्धि

अपने बचाव के लिए फारस अपने समान मजहबवालो से मित्रता करके रहना चाहता है। तुर्की, फारस और अफग़ानिस्तान की संस्कृति तथा जाति की एकता है। मंगोल-तातार खून तीनों ही देशों

के लोगों में है । आपस में एकता स्थापित करने के लिए २२ अप्रैल सन् १९२६ को फारस और तुर्की मे निम्न-लिखित सन्धि हुई—

१. इस सन्धि के अनुसार हम एक-दूसरे पर चढ़ाई नहीं करेंगे; यदि कोई चढ़ाई करेगा तो उसकी सहायता नहीं करेंगे और एक दूसरे के राजनैतिक और आर्थिक हितों के विरुद्ध दूसरे से समझौता भी नहीं करेंगे ।

२. यदि राष्ट्र हम में से किसी भी एक देश को आधार मानकर दूसरे पर चढ़ाई करने की तैयारी करेगा तो उसे सब प्रकार से रोकेंगे ।

३. कोई तीसरा राष्ट्र हम दोनों के खिलाफ यदि हमारे किसी के भी देश में षड्यन्त्र रचेगा तो हम उसे बाहर निकाल देंगे ।

४. सीमा पर की जातियों को हम लोग अलग-अलग व मिलकर रोकेंगे जिससे वे हमारे किसी के भी राज्य में उपद्रव न कर सकें ।

अफ़ग़ानिस्तान के साथ भी प्रायः इसी प्रकार की सन्धि करली गई । १५ जून १९२८ को जब अफ़ग़ानिस्तान के राजा और रानी तेहरान गये थे तब फारस और अफ़ग़ानिस्तान और फारस और तुर्की की १९२६ की सन्धि और भी पुष्ट कर दी गई । इसके अनुसार इन राष्ट्रों में किसी एक से और किसी तीसरी शक्ति से लड़ाई छिड़ जाय तो दूसरी पार्टी के लोग लड़ाई रोकने का प्रयत्न करेंगे । तेहरान और काबुल के राजदूत इस समय प्रतिनिधि की हैसियत वाले बना

दिये गये। इसी समय सोवियट सरकार से भी फारस सरकार ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने और तीसरी शक्ति के करने पर अपने देश को युद्ध का आधार न बनने देने की सन्धि कर ली।

फारस-सरकार को विदेशियों का विशेषाधिकार—अपने यहाँ के राजदूतों से मुक़दमे का फ़ैसला कराना बहुत खटकता था। सभी लोगों को समान दृष्टि से देखा जाय इसलिए २६ अप्रैल १९२७ को फारस सरकार ने विदेशी सरकारों के सामने विदेशियों का विशेषाधिकार उठा देने की इच्छा प्रकट की। ग्रेट-ब्रिटेन उस राय से सहमत तो हुआ ही नहीं, साथ ही १९२७ की मई में उसने ऐंग्लोहेजाज सन्धि-द्वारा बहरीन के लोगों से दोस्ती का भाव रखने का वादा किया। बहरीन द्वीप-समूह फारस के ही अधीन था। फ़ारस-सरकार ने उस सन्धि का विरोध किया और उस विषय में अंग्रेज़ी सरकार को लिखा। अंग्रेजी सरकार के उत्तर से सन्तुष्ट न होने पर उसने १९२७ के दिसम्बर में राष्ट्र-संघ से उसकी शिकायत की। पीछे इस मामले में एक प्रकार का समझौता हो गया।

१२ अप्रैल १९२८ को अफगानिस्तान ने इंग्लैंड के साथ किसी प्रकार की सन्धि न कर रूस के साथ अफगान-रशियन वायुमार्ग-विषयक संधि कर ली। इस सन्धि के कारण मजबूर होकर फारस को अपनी ओर मिलाये रहने के लिए एक महीने के अन्दर ही ७ मई १९२८ को, अंग्रेजो ने फारस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार फारस से अंग्रेजों का विशेषाधिकार जाता रहा। उनके मुकदमो का फैसला आगे से

फारसी न्यायालय में ही होना निश्चित हुआ। १० मई १९२८ की नई ऐंग्लो-पर्शियन सन्धि मान ली गई जिसके अनुसार फारस को कर के सम्बन्ध में स्वतंत्रता प्राप्त हो गई और उसने वादा किया कि विशेष अवस्था में फारस की सीमा पर से हवाई जहाज जाने देगा और उनके टिकने के लिए एक स्टेशन भी बनायगा, जहाँ अंग्रेजी हवाई जहाज़ टिक सकेंगे।

सोवियट सरकार की अंग्रेजों की विरोधी नीति से फारस सरकार का बहुत-कुछ लाभ हुआ है और भविष्य मे भी वह उससे लाभ उठाना चाहती है परन्तु उसकी साम्यवादी नीति से वह बहुत घबड़ाती है। अंग्रेजों के साथ उसके सहानुभूति रखने का यह एक बहुत बड़ा कारण है। अंग्रेज भी फारस को अपनी ओर मिलाये रहने का बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं क्योंकि १९०७ के पहले इंग्लैंड और रूस का जितना अधिक झगड़ा था उससे इस समय कई गुना अधिक बढ़ गया है। रूस की एशियायी नीति से तो इंग्लैंड घबड़ाता ही है, साथ ही फ़ारस पर रूसियो का छिपे-छिपे कब्ज़ा होता जारहा है, इससे वह और भी अधिक व्यग्र हो रहा है। वर्तमान सोवियट सरकार को उत्तरी फारस मे बहुत अधिक लाभ हो रहा है। तेहरान तथा उत्तरी फारस के शहरों मे तैयार विदेशी चीजें जितनी भी आती हैं लगभग सभी रूस की ही ओर से आती हैं। रूस का आर्थिक हित उत्तरी फारस में बहुत अधिक अटका हुआ है। रूस ने ज़ारशाही के समय के अपने सभी अधिकार छोड़ दिये हैं इसलिए फारस के अधिकांश राजनीतिज्ञ उसके प्रति बहुत ही अच्छा भाव रखते हैं। १९२८ में ऐंग्लोपर्शियन तेल की

कम्पनी के साथ जो बात-चीत हुई थी फारस के मंत्रि-मंडल ने उसे गुप्त रखने का प्रयत्न किया था और रूस के साथ व्यापारिक सन्धि नही की थी इसीलिए मजलिस ने उसे इस्तीफा देने के लिए बाध्य किया। अंग्रेजों की आर्थिक नीति का उत्तरी फारस के सम्बन्ध मे रूस अभी भी उतना ही विरोधी है जितना वह जारशाही के समय था। इस विरोध के कारण अंग्रेजो का रूसियों के साथ लड़ाई छिड़ जाना भी सम्भव है। अपनी रक्षा के लिए फारस ग्रेटब्रिटेन और रूस दोनों से ही मिला रहता है। अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण फारस दो राष्ट्रों के बीच पड़ गया है। पहले दोनो राष्ट्र मिल गये थे इससे फारस का बहुत नुकसान हुआ। अब ये दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के कट्टर विरोधी हो रहे है; फारस के राजनीतिज्ञ भी दोनों के झगड़े से अपना लाभ निकालना सीख गये है। अभी उसके सभी दुःख दूर नही हुए है। एशिया के दूसरे भागों मे जैसे क्रान्तिकारी-आन्दोलन चल रहे हैं उनसे वह परिचित है। चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ भी उसकी पूरी सहानुभूति थी।

अफीम पर एकाधिकार

बाहरी झंझटों से छूट जाने पर अब फारस अपनी सारी शक्ति अपने घर को व्यवस्थित करने मे लगा रहा है। अमेरिकन कमीशन के आने से उसका आर्थिक विभाग सुधर गया है। उस पर बाहरी ऋण और देशों की तुलना में बहुत ही कम है। सड़क बनाने के लिए उसने अलग रुपये निकाल दिये हैं। कास्पियन के किनारे बेन्दरगाज से लेकर तेहरान, काजवीन, हमदन होते हुए फारस की खाड़ी तक रेल बनाने का उसका विचार है।

कुछ हिस्सा बन भी चुका है। चाय और चीनी की आमदनी साल में दस लाख पौंड होती है, इसीसे उस रेल का खर्च निकाला जायगा। १९२० में अफीम के सम्बन्ध मे नया कानून बनाया गया। इसके अनुसार जितनी जमीन में अफीम बोई जायगी उसकी निगरानी सरकार की तरफ से होगी। अफीम बोने, तैयार करने, बेचने, बाहरी देशो मे भेजने आदि के विषय मे राज्य का एकाधिकार रहेगा।

भीतरी सुधार के कार्य मे तुर्की का इस पर बहुत अधिक असर पड़ा है। बहुत-सी बातों में इसने तुर्की की ही नकल की है। इसका भी ध्यान पश्चिमी सभ्यता की ओर आकृष्ट हुआ है। पश्चिमी शिक्षा पाने के लिए फारस अपने विद्यार्थियो को विदेश भेजने लगा है।

फारस सरकार ने भी अपने देश से अरबी लिपि के बदले लैटिन लिपि का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। सारे फारस से

सुधार के पथ में—

म्युनिसिपलटियो को सिनेमा हाल खोलने की आज्ञा दी गई है। यह इसीलिए किया गया है जिसमें फारस की जनता पश्चिमी देशो के रीति-रिवाजो से परिचित हो जाय। अभी वहाँ थोड़े सिनेमा हाल हैं; और जो हैं उनमें भी उच्चकोटि के तो बहुत कम हैं।

आरम्भ मे सुधारो का विरोध मुल्लाओ की ओर से जोरो से हुआ परन्तु सरकार उससे विचलित नहीं हुई। सरकार ने अपनी आज्ञा पालन कराने के लिए बहुत ही सख्ती से काम लिया है। अब फारस मे मुल्लाओ का जोर बहुत अधिक नहीं है और साम्राज्यवादियों की ओर से भी दबाये जाने का अधिक

भय नहीं है इसलिए फारस-सरकार और भी सख्ती से काम ले रही है। उसने सैकड़ों मुल्लाओं को निर्वासित कर दिया है। बहुत से नये स्कूल खोले गये हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने में अभी तक बहुत असुविधा होती थी, इस विषय में भी फारस-सरकार ने बहुत अधिक सुधार किया है। स्वतन्त्र देश के लिए ये सभी सुधार काम में लाना सम्भव है। फारस पर किसी विदेशी शक्ति का अधिकार नहीं है इसीलिए वह अपने उद्देश्यों में सफल होता जा रहा है।

एशिया के जो राष्ट्र हाल में विदेशियों के प्रभुत्व से छूटे हैं वे सभी साफ जाहिर करते हैं कि किसी प्रकार की भी उन्नति करने के लिए पराधीन देशों को पहले पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। शिक्षा-सम्बन्धी या सामाजिक जितने भी प्रकार के सुधार हैं वे विदेशी लोगों के प्रभुत्व में नहीं किये जा सकते। देश में कुशिक्षा जितनी ही अधिक फैली रहती है, सामाजिक अवस्था जितनी ही गिरी रहती है, लोग जितने ही दबने वाले होते हैं साम्राज्यवादियों का उतना ही अधिक लाभ होता है। फिर भला वे उन लोगों को उन्नत होने देकर अपने लाभ पर पानी क्यों फेरेंगे ?

[५]

अफ़ग़ानियों का अफ़ग़ानिस्तान

जबतक अफग़ानिस्तान की पर-राष्ट्र-नीति अथवा अन्य बातें अंग्रेजो के अधीन थी तबतक वह गुलाम था। वहांपर सामाजिक, धार्मिक अथवा शिक्षा-सम्बन्धी सुधार होना कठिन था परन्तु १९१९ मे रूस की एशियायी नीति का लाभ उठाकर अमानुल्ला खां ने अफगानिस्तान को स्वतंत्र बना लिया। उस समय से यह देश अफग़ानियों का कहे जाने योग्य हो गया। इस समय से अफग़ानिस्तान अंग्रेजो के अधिकार मे न रहकर उनकी बराबरी का हो गया। अब अफगानिस्तान के राजदूत मास्को, बर्लिन, पैरिस, रोम, तेहरान, अङ्गोरा और लन्दन मे रहने लगे। इसी समय यह भी तै हो गया कि अफ़ग़ानिस्तान के लिए हथियार तबतक भारतीय वन्दरो से होकर लाये जा सकेगे जबतक यह नहीं समझा जायगा कि वे हथियार अंग्रेजो के खिलाफ काम मे लाये जाने के लिए मॅगाये जा रहे है। इस समय से अमानुल्ला खाँ 'हिज मैजेस्टी' कहलाने लगे।

अफ़ग़ानिस्तान का व्यापार केवल भारतवर्ष और रूस में ही परिमित है। भारतवर्ष से रुई, काफी, चमड़ा, रेशम, चाय, लोहा और कुछ मशीनें भेजी जाती हैं। अफ़ग़ानिस्तान से ऊन, दरी, खाल, घोड़े, सूखे फल आदि यहाँ आते हैं। रूस के अफग़ानिस्तान

व्यापार

के साथ अधिक व्यापार चलने का कारण यह है कि काबुल को छोड़कर अफ़ग़ानिस्तान के बाक़ी सभी मुख्य शहर रूसी सीमा के ही पास पड़ते हैं। उन स्थानों को अफ़ग़ान-तुर्किस्तान कहते हैं। अफ़ग़ानतुर्किस्तान से खाल, ऊन, रेशम, सूखे फल आदि रूस भेजे जाते हैं और रूस से तेल, चीनी, कृषि के सामान और कुछ तैयार माल आता है। लड़ाई के दिनो में शत्रुओं को परास्त करने के लिए व्यापार बन्द कर देना भी बहुत बड़ा अस्त्र हो जाता है। रूस के साथ यदि अंग्रेज व्यापार बन्द कर दें और उसमें फ़ारस, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान आदि देश सहायक हो जायँ तो उसे बहुत कठिनाई होगी। इंग्लैंड ने अगर अफ़ग़ानिस्तान से समझौता कर लिया कि वह रूस के साथ व्यापार बन्द कर दे और भारतवर्ष उसे वे सामान पहुँचा देगा तो रूस बड़ी कठिनाई में पड़ेगा इसलिए व्यापारिक सन्धियों में उसने अपने फ़ायदे के लिए अफ़गानिस्तान से तै कर लिया कि वह आर्थिक बाधाओं (economical blocade) में दूसरी शक्तियो का सहायक नहीं होगा।

खनिज सम्पत्ति

अफ़ग़ानिस्तान मे रांगे, कोयले और तांबे की खाने भी बहुत हैं। नदियों की रेती में सोने का अंश भी पाया जाता है है परन्तु अभी खुदाई नहीं की गई है। देश का बहुत-सा धन ज़मीन के नीचे गड़ा पड़ा है परन्तु इतनी काफ़ी पूँजी नहीं है कि वह बाहर निकाली जा सके। फिर भी कन्दहार के पास सोने की और जगदलक के पास लाल की खान खोदी गई है। देश में काफ़ी सड़कें भी नहीं हैं जिनसे खानों का माल निकालकर सुविधा-पूर्वक एक स्थान से दूसरे

स्थान पर ले जाया जा सके। तेल की भी खानें हैं परन्तु पूँजी के अभाव के कारण वे बाहर नहीं निकाली जा सकतीं। आधुनिक व्यवसायी साम्राज्यवाद के अधिकार जमाने के लिए वहाँ सभी सामग्री मौजूद है परन्तु वहाँ के राजा चीन और एशिया के दूसरे देशों का उदाहरण देखकर सचेत हो गये। वहुत से विदेशी व्यवसायी उन खानो के विपय में सुविधा प्राप्त करने गये परन्तु राजा ने उन्हे नहीं दिया। उनका विश्वास था कि विदेशी कम्पनियो को सुविधा देने से अफ़गानियो का अफगानिस्तान नही रह जायगा; युरोपियनो का वहाँ प्राधान्य हो जायगा और वे अफगानिस्तान पर अपना क़ब्जा जमा लेंगे। जर्मनी ने इस विषय में वहुत अधिक प्रयत्न किया और १९२६ में अफ़गानों के साथ मित्रता की सन्धि हो जाने पर जर्मन इंजीनियर, डाक्टर आदि अधिक संख्या में अफगानिस्तान पहुँचने लगे। वहाँपर एक जर्मन कम्पनी भी पहुँची है जो अपने विज्ञापनों से अपने को मुसलमानो का पुराना दोस्त वतलाती है परन्तु इन लोगो को वैसी सफलता नहीं मिली है। रूस भी अफगानिस्तान मे घुसने का वहुत प्रयत्न करता रहा है। जब से उसने अफगान सीमा के तरमेज तक रेल वना ली है तवसे उसका और भी अधिक प्रचार का कार्य चल रहा है। वह अंग्रेजो के खिलाफ खूब प्रचार करता है परन्तु उसे भी काफी सफलता नहीं हुई। अंग्रेज़ो का वहाँपर वहुत अधिक स्वार्थ अटका हुआ था। जवसे अमानुल्ला खां गद्दी पर वैठे उन्होंने अफ़गानिस्तान की भलाई के लिए अंग्रेजो की इच्छा के विरुद्ध कार्य किया, इससे अंग्रेज़ उन्हें गद्दी से उतारने की तैयारी करने लगे।

कर्नल लारेंस जिन्होंने अरब में तुर्कों के खिलाफ विद्रोह करा दिया था वेश बदलकर कई साल से पश्चिमोत्तर सीमा पर ही रखे गये थे। वे वहाँ पर गृह-कलह खड़ा कर देने का खूब प्रयत्न करते रहे। बात प्रकट हो जाने पर उन्हें इंग्लैंड भाग जाना पड़ा। वे चले गये परन्तु उनका उद्देश सफल हुआ। अमानुल्ला के खिलाफ विद्रोह हो गया। और अब उन्हें देश छोड़-कर रोम में चले जाना पड़ा है।

गृह-कलह और विद्रोह में बच्च-ए-सक्का नाम का एक भिश्ती सैनिक प्रधान हो उठा पर अन्त में कर्नल नादिर खाँ पेरिस से लौटे; उन्होने विद्रोह दबाया और जनता की सम्मति से स्वयं सम्राट् बने। आज कल भी वही सम्राट् हैं।

कर्नल लारेंस का यह कार्य अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ खोदने वाला ही होगा। अरबों के साथ उन्होने विश्वासघात किया और वे प्रतिशोध लेने के लिए उठ खड़े हुए; वैसे ही अफ़ग़ानिस्तान के लोग जिस दिन समझ जायँगे कि अमानुल्ला के खिलाफ अपने स्वार्थवश अंग्रेजो ने उन्हे भड़काया उसी दिन वे अंग्रेजों के कट्टर विरोधी बन जायँगे। इसमें सन्देह नहीं कि अफ़ग़ानिस्तान में विद्रोह खड़ा करने में अंग्रेजो का बहुत बड़ा हाथ है। छिपी हुई बात किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाती है। अमानुल्ला जिस समय युरोप भ्रमण कर रहे थे उस समय अंग्रेजों का काम वहाँ पर बहुत जोरों से चलने लगा था। अमानुल्ला को अपने खिलाफ विद्रोह होने का पता नहीं था परन्तु अंग्रेजी सरकार जानती थी कि अफ़ग़ानिस्तान में उसकी नीति कितनी दूर तक सफल हुई है। इंग्लैंड के प्रधान मंत्री ने

अपने को बहुत रोका परन्तु फिर भी विजयोन्माद मे आकर अमानुल्ला के सामने ही विद्रोह खड़ा करने की झलक अपनी बातो से उन्होंने प्रकट कर ही दी। अमानुल्ला को उस समय उस बात की आशंका भी नहीं थी इसलिए उनका ध्यान ही उस ओर नहीं गया।

अमानुल्ला के किये हुए सुधार

अमानुल्ला ही अफ़ग़ानिस्तान में सब से पहले राजा हुए जो आधुनिक विचारो से परिचित थे। उन्होने अंग्रेजी और फ्रेंच सीख ली थी। उनपर पश्चिमी सभ्यता का बहुत असर पड़ा था। वे समझते थे कि यदि अफगानिस्तान आधुनिक जगत् के आचार-विचारों से अनभिज्ञ रहा तो वह अपनी स्वतंत्रता क़ायम नहीं रख सकेगा इसलिए वे अफ़ग़ानिस्तान को एक अर्वाचीन राष्ट्र का रूप देना चाहते थे। युरोप में व्याख्यान देते समय एक स्थान पर उन्होने कहा था—'मुसलमानी राष्ट्र यदि भविष्य मे अपने को उन्नत अवस्था मे कायम रखना चाहते हैं तो उन्हे सबसे पहले युरोपीय देशो की विशेषताओं को अपनाने की आवश्यकता है।' यहाँ पर विशेषता का अर्थ युरोपीय राष्ट्रों की युद्ध-कला और उनकी राजनैतिक चाले हैं; विशेषता का अर्थ यह है कि यदि एशियायी राष्ट्र संसार के नक़शे मे अपना स्थान क़ायम रखना चाहते हैं तो उन्हे एक साथ मिलकर गोरों के प्रभुत्व मे अपनी रक्षा करनी चाहिए।

अमानुल्ला ने उपर्युक्त तीनो विशेषताओं को अपनाया था। जर्मनी और तुर्की के ढांचे पर उन्होने अपना सैन्य-संगठन किया; बड़े-बड़े शहरो मे सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के कालेज

के प्राण के लिए उनके भीतर विशेष आदर का भाव नहीं रहता। पुरानी परिपाटी क़ायम रखने का वहाँ बहुत जोर है। शिक्षा का तो बहुत ही अधिक अभाव है। इन्ही बातो से अमानुल्ला की कठिनाइयों का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। उन्होंने सोचा कि यदि स्वतन्त्र हो जाने पर देश को आधुनिकता की ओर न बढ़ाया जाय तो स्वतन्त्र होकर रहना कठिन हो जायगा इसलिए देश में उन्होंने बहुत से सुधार करने चाहे। विदेश से लौटने पर तो उन्होने ग़जब ही कर दिया।

सुधार

वे अपने देश में इस प्रकार के सुधार करने लगे जिससे थोड़े ही दिनो में अफ़ग़ानिस्तान संसार के सभी राष्ट्रो की बराबरी का हो जाय। उनके सामने कमाल-पाशा का आदर्श था और वह अफग़ानिस्तान को तुर्की बना देना चाहते थे। सबसे बड़ा सुधार उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध मे किया। शहरों के प्रमुख स्थानो पर नोटिसे टँगवाई कि लोग अपने लड़कों को स्कूलों मे पढ़ने के लिए भेजा करें। सभी सरकारी नौकरों को अपने लड़कों को स्कूलो मे भेजना पड़ता था, नहीं भेजने पर उन्हे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता था वा अर्थ-दंड देना पड़ता था। काबुल में इस समय एक विश्वविद्यालय और एक शिल्प की पाठशाला है। इन्होंने पचास से अधिक स्कूल खोले जिनमें तीन लड़कियों के लिए थे। अफग़ानिस्तान के पर-राष्ट्र-सचिव सरदार महमूद बेग तर्जी की तुर्की पत्नी इनका संचालन करती थीं। इन्होने कन्याओं की शिक्षा का अध्ययन करने के लिए फ्रांस की यात्रा की थी। उन स्कूलों में लगभग दो हज़ार से ऊपर लड़कियाँ

शिक्षा पाने लगी थी। बहुत-से युवक भिन्न-भिन्न युरोपीय देशों में पढ़ने के लिए भेजे गये थे। इटली और तुर्की ने उन्हें अपने यहाँ रखकर अपने ख़र्च से पढ़ाने का वादा किया था। लड़कियाँ भी पर्दा तोड़कर नये लिबास पहनाकर दाई का काम सीखने के लिए तुर्की भेजी गईं। स्त्रियो के अख़बार भी निकलने लगे जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'स्त्रियों की शक्ति' था। ग्रामों में भी शिक्षा का प्रसार हुआ और पहाड़ी देशों के ख़ानाबदोशो तक भी नई रोशनी पहुँचने लगी।

अमानुल्ला ने अफग़ानिस्तान मे विधानात्मक शासन स्थापित किया। अफग़ानो को शासन करने की कला सिखलाने के लिए तथा पार्लमेंट के क़ायदे-क़ानूनो से वाकिफ कराने के लिए एक राष्ट्रीय पार्लमेण्ट की स्थापना हुई। इसे जिर्गा कहते थे। इसमे जानेवाले सदस्यो के लिए बेंच पर बैठना और दाढ़ी मुड़ा लेना आवश्यक रहता था। सभी लोगो को युरोपीय पोशाक पहननी पड़ती थी। अफग़ानिस्तान के लिए एक मंत्रि-मण्डल भी कायम किया गया था जो जिर्गा के सामने उत्तरदायी रहता था। उसके लिए योग्य प्रधान मंत्री नहीं मिल रहा था इसलिए अमानुल्ला ख़ाँ स्वयं उसके प्रधान मंत्री बने। लोगों के जितने प्रकार के ख़िताब थे सब उठा दिये गये। राजा ने भी अपने सभी ख़िताब छोड़ दिये।

पश्चिमी ढंग की पोशाक अपनाने पर भी अमानुल्ला ने स्वदेशी का तिरस्कार नहीं किया। वे स्वयं तो अपने देश के बने

स्वदेशी।

कपड़े पहनते ही थे साथ ही दूसरों को भी स्वदेशी इस्तेमाल करने के लिए बाध्य करते थे। देशी कला-कौशल बढ़े इसलिए संरक्षण की नीति बर्तते थे।

ऐश-आराम की चीज़ों पर बहुत अधिक कर लगा दिया जाता था जिसमें देश में उनकी अधिक खपत न हो। तम्बाकू, ताश, मक्खन, दूध, आदि पर दो सौ प्रतिशत कर लगता था। नकली फूल, युरोप के बने दरी-आइने, कंघी-खिलौने आदि पर सौ प्रतिशत और विदेशी कपड़ों पर पचास प्रतिशत कर लगता था।

अपने सभी सुधारों को अमानुल्ला खूब सख्ती करके लोगों द्वारा पालन करा सकते थे परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। वे चाहते थे कि लोग सुधारों को स्वयं समझ लें कि उनसे क्या फ़ायदा है; उनके अपना लेने से उनका संसार में कितना अधिक सम्मान बढ़ जायगा। अमानुल्ला पुराने दयालु प्रकृतिवाले राजाओं के विचार के थे। सप्ताह मे उन्होंने एक दिन ऐसा रख दिया था जिस दिन राज्य का छोटे से छोटा आदमी उनके सामने जाकर अपनी फ़रियाद सुना सकता था।

मुल्लाओ का असतोष

अमानुल्ला के बहुत-से सुधारों से वहाँ के मुल्लाओं का नुकसान था। मुल्लाओं का जनता पर बहुत अधिक प्रभाव था। लोग आधुनिक विचारों से वाक़िफ़ नहीं थे इसलिए उनकी खूब चलती थी। मुल्लाओं ने समझा कि नये सुधारों से लोगो पर से उनका रोब और उनके लिए सम्मान का भाव जाता रहेगा। सुधारो के काम मे लाने पर इमाम और मौलवी अपनी इच्छानुसार क़ुरान का अर्थ नहीं लगा सकते थे और न लोगों को ग़ाजी की पदवी के लोभ में डालकर जब कभी 'जेहाद' बोल सकते थे। स्त्रियो का पर्दा तोड़ने, बाल कटाने तथा अख़बार निकालने लगना उनके लिए नई चीज थी। वे उन्हे उतनी अधिक स्वतंत्रता नहीं देना

चाहते थे। इन सब कारणो से मुल्ला विगड़ गये। उन्होंने कहना शुरू किया कि बादशाह सभ्यता तथा धर्म पर प्रहार करना चाहते हैं। जुम्मा के दिन मस्जिदों में व अन्य मौक़ों पर वे लोगो को भड़काने लगे।

अमानुल्ला के नये-नये सुधारो के विषय मे अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश चले जाने पर मुल्लाओं का काम जोरो से चलता रहा। अंग्रेज भी उन्हे भड़काने मे सहायता देते रहे। अमानुल्ला ने लौटने पर सुधारों का काम जोरों से आरम्भ किया, उस समय उन्हे बग़ावत की झलक दिखलाई दी। सुधार का विरोध करनेवालो का कहना था कि सभी स्त्रियाँ, रानी सुरैया भी, पर्दे मे रहे; जो लड़कियाँ युरोप मे शिक्षा पाने गई हैं वे वापस बुला ली जायँ और राजा पुराने मुसलमानी मजहबी ख़यालों को माने। अमानुल्ला ने देखा कि अभी सुधार करने का अच्छा मौक़ा नहीं है इसलिए सुधारो को स्थगित कर देने का विचार करने लगे। साथ ही अफ़ग़ान मुल्लाओ का सरकारी फ़रमान लेना अनिवार्य कर दिया। देवबंद के उल्माओं को देश से निकाल दिया क्योंकि उन लोगों के भीतर बहुत-से विदेशी दूत थे। जो उल्मा देवबंद से काबुल आदि की ओर जाते थे उन पर सख्त निगरानी रखी, फिर भी मुल्लाओ का कार्य रुका नहीं। वे छिपे-छिपे राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते गये। उल्माओ के इस विद्रोह का फ़ायदा अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने उठाया और ऐसा कहा जाता है कि विद्रोह को भड़काने में उनका हाथ था क्योकि अमानुल्ला, जो स्पष्टतः अंग्रेजी शासन के विरोधी थे, के रहने से उनका नुक़सान था।

दिसम्बर १९२८ में शिनवारी फिरके के लोगों ने विद्रोह आरम्भ कर दिया था। पीछे मोहमन्द फिरके के लोग भी इसमें शामिल हो गये। उपद्रवकारी यह चाहते थे कि सुधार वापस ले लिये जायँ। अन्त मे विद्रोहियों की ही विजय हुई। बादशाह सुधारों को रद्द करने के लिए विवश हुए। बादशाह ने ११ जनवरी को 'असने अफ़गान' में इस सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की जिसमें इस बात की घोषणा की कि युरोपीय पोशाक के सम्बन्ध में जो आज्ञा प्रचारित हुई थी वह वापस ली जाती है, कन्या-पाठशालाएँ बंद कर दी जायँगी, जो लड़कियाँ तुर्की भेजी गई है वे वापिस बुला ली जायँगी, स्त्रियों की सभाएँ भी बंद कर दी जायँगी, सिपाहियों को पीरो के मुरीद बनने के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता न होगी और पचास सदस्यो की एक मजलिस इन्तज़ामिया क़ायम की जायगी जिस पर मुल्लाओं और मजहबी पेशवाओं का प्रभुत्व रहेगा, शरीअत के अनुसार क़ानून में सुधार होगा और स्त्रियों को बुर्क़ा पहनने की आज्ञा दी जायगी और वह युरोपीय पोशाक न पहन सकेंगी।

परन्तु इससे उपद्रव शांत नही हुआ। विद्रोहियों के दल में बच्च-ए-सक़्क़ा भी शामिल हो गया। बच्च-ए-सक़्क़ा, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, एक भिश्तीवाले का लड़का है। पेशावर मे वह पहले चाय की दुकान करता था। वह अमानुल्ला की सेना मे सैनिक का भी कार्य कर चुका था। नौकरी छोड़ देने पर वह डाका डालने का काम करने लगा। पहले उसके दल में कुल चौदह आदमी थे परन्तु वर्तमान विद्रोह के पहले ही उसके दल मे तीन सौ

विद्रोह

आदमी हो गये थे। उन सब के पास बन्दूकें रहती थीं। अमानुल्ला उन्हें पकड़ना चाहते थे परन्तु पकड़ नही सके थे। इतने मे ही अमानुल्ला के सुधारो से चिढ़कर जलालाबाद के शिनवारियोने विद्रोह किया। जब विद्रोह ने भीषण रूप धारण किया तब अमानुल्ला ने बच्चा-ए-सक्का को बुला भेजा और कहा कि यदि वह शिनवारियो के दबाने मे सहायता करेगा तो उसके सभी पुराने अपराध क्षमा कर दिये जायँगे। उसने क़ुरान छूकर अमानुल्ला की सहायता करने की प्रतिज्ञा की। अमानुल्ला ने उसका विश्वास किया और उसे अपना कर्नल बनाकर तीन सौ राइफ़लें और बहुत-सी कारतूसे दीं। बच्चा-ए-सक्का ने और भी तीन सौ आदमी अपने दल मे शामिल कर लिये। फिर काबुल पर धावा कर दिया। परन्तु उसे सफलता नहीं हुई। वह काबुल के पास की ही पहाड़ी मे छिप रहा।

इस समय अमानुल्ला का विश्वास अपनी सेना पर से भी बहुत-कुछ उठ गया था इसलिए वे किंकर्तव्य-विमूढ हो गये।

सिंहासन-त्याग

ऐसे ही समय में शोरा बाजार के पीर साहब उनके पास पहुँचे। पीर साहब की मुल्लाओ पर धाक थी। उन्होने अल्लाह और कुरान के नाम पर देश को गृह-कलह से बचाने के लिए अमानुल्ला को स्वयं गद्दी खाली कर अपने भाई इनायतुल्ला को बिठलाने के लिए कहा। अमानुल्ला जानते थे कि पीर साहब सुधारो के विरोधी हैं; फिर भी उन्होंने उनकी नीयत मे सन्देह नहीं किया और १४ जनवरी को गद्दी खाली कर दी। आगे चलकर पता चला कि पीर साहब बच्चा-ए-सक्का के खुफिया-विभाग मे काम करते हैं और उन्होने

धोखा देकर अमानुल्ला को गद्दी खाली करने के लिए कहा था। अमानुल्ला के गद्दी खाली करने पर इनायतुल्ला गद्दी पर बैठे परन्तु वे अपनी रक्षा नहीं कर सके। बच्च-ए-सक्का ने पहाड़ी से निकल कर गद्दी पर कब्ज़ा कर लिया और हबीबुल्ला खां के नाम से अफ़ग़ानिस्तान का राजा बन बैठा। उसने अपने को सारे अफ़गानिस्तान का राजा घोषित किया परन्तु उसका अधिकार केवल काबुल और उसके आस-पास ही रहा।

बच्च-ए-सक्का का कब्ज़ा

अमानुल्ला ने आधुनिक ढंग पर शिक्षा देने के लिए जितने लड़के और लड़कियों के लिए स्कूल खोले थे उन सब को उसने यह कहकर बन्द कर दिया कि विदेशी शिक्षा देना इस्लाम के खिलाफ़ है। अपना प्रभुत्व क़ायम करने के लिए उसके पास काफी आदमी न थे, न धन था। उसकी आय का मुख्य ज़रिया ख़ज़ाना था, जिस पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया था। आय के लिए वह वहाँ के लोगों से बहुत बड़ी-बड़ी रक़में वसूल करने लगा।

अमानुल्ला काबुल से चलकर कन्दहार पहुँचे। कन्दहार से क्वेटा तक उनके अधिकार में रहा और वहां से वे कर वसूल करते रहे। कन्दहार पहुँचने पर अमानुल्ला प्रायः रोज़ ही सभाएँ किया करते थे और लोगों को धन की सहायता करने और अपनी ओर से लड़ने के लिए कहा करते थे परन्तु उनकी कोई सुनता नहीं था। अन्त में लोगों से सहायता लेने का उन्होंने एक नया ढंग निकाला। कन्दहार में एक दरगाह है। वहाँ पर एक बड़े सन्दूक़ के भीतर एक चांदी के सन्दूक़ में एक चोगा रखा हुआ है। मुसलमान उसे पैग़म्बर का पहना हुआ चोगा मानते हैं। उसे

वे 'खेर का शरीफ़' कहते हैं। अफगानिस्तान मे खेर का शरीफ को लोग बहुत आदर से देखते है; उन लोगों का विश्वास है कि कोई पापी आदमी खेर का शरीफ को उठा नही सकता। अमानुल्ला ने एक दिन निश्चित किया। उस दिन दरगाह से डेढ़ मील की दूरी पर इदगाँव मे॰ चालीस हजार मुसलमान इकट्ठे हुए। उन सब के सामने अमानुल्ला ने चाँदी का बक्स खोला और खेर का शरीफ़ उठा कर लोगो को दिखला दिया। इससे लोगो के भाव बदल गये। अब वे अमानुल्ला की सेना में भर्ती होने लगे।

थोड़े ही दिनों के भीतर अमानुल्ला ने लगभग पन्द्रह-सोलह हजार सैनिक इकट्ठे कर लिये जिनमें तीन वा चार हजार शिक्षित सैनिक थे और २४ मार्च को काबुल पर धावा करने के लिए आगे बढ़े। अमानुल्ला की सहायता करने के लिए नादिरखां भी पैरिस से आ गये। नादिरखां का अधिक नाम १९१९ में ठट्टा के मैदान मे अंग्रेजो को पीछे हटा देने के कारण हुआ। नादिर खां के भाई हाशिमखां अमानुल्ला के विरोधी थे।

देश-त्याग

वे स्वयं गद्दी नहीं चाहते थे परन्तु अमानुल्ला के स्थान पर किसी दूसरे को गद्दी पर बिठाना चाहते थे। अमानुल्ला दिन पर दिन काबुल की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। समाचार पत्रो मे बराबर यही छपा करता था कि अमानुल्ला की विजय होती जा रही है परन्तु एकाएक २३ मई को वे पीछे लौटकर अंग्रेजो की सीमा चमन में चले आये और वहाँ से चलकर बम्बई पहुँचे। बम्बई से इटली चले गये। आजकल वहां चुपचाप जीवन बिता रहे हैं।

अमानुल्ला के एकाएक चले आने का कारण लोग उनकी

हार बतलाते हैं परन्तु अपने वक्तव्य में उन्होंने इसे अस्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—'लोग समझते हैं कि बच्च-ए-सक्का की विजय हुई है इसीलिए मैंने अफ़गानिस्तान छोड़ दिया है। इस प्रकार हम लोगों की हार कभी हुई ही नहीं। सदा हम लोग विजय करते गये। मेरे लौटने का कारण यह है कि मैं दुर्रानी और गिलजाई दोनों ही अफ़गान फिरकों को अपने स्वार्थ के लिए लड़ाना तथा उनका खून बहाना नहीं चाहता। मैंने जैसे ही सुना कि अन्धेरी, तारक, ओटक और तोकनिस फिरके मेरे विरुद्ध हो गये, मैंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। मै शान्तिमय उपायों से विद्रोह शांत करना चाहता था। आरम्भ से ही मैंने इस बात का प्रयत्न किया था। उन फिरको के विद्रोह करने पर भी मै विजय प्राप्त कर सकता था। परन्तु मैं और अधिक अफ़गानो का खून बहाना नही चाहता। मेरे चले आने का कारण हार नही है; हमारी सदा विजय ही होती रही है।'

अमानुल्ला के देश-त्याग का यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि अफ़गानिस्तान मे मुल्लाशाही का ही अकंटक राज्य रहेगा और अन्ध-विश्वास वहाँ पर सदा जमा ही रह जायगा। अमानुल्ला ने स्वयं कहा था—'मै असफल रहा परन्तु मेरे उद्देश कभी व्यर्थ नहीं होगे। अफगानिस्तान में जो अभी लड़ाई चल रही है वह कुछ धार्मिक भाव से प्रेरित होकर नही, उसका मूल कारण अज्ञान और स्वार्थ है। मुझे पूरा विश्वास है कि पिछले दस वर्षो में अपने कठोर परिश्रम से मैंने जो नया भाव पैदा कर दिया है वह अफगानिस्तान को वर्तमान अवस्था में कदापि नही रहने देगा।'

गेरीबाल्डी ने भी ठीक ही कहा है कि देश की उन्नति की ओर ले जाने वालो को खाने के लिए भूख, सोने के लिए ठंडी भूमि और इनाम मे मृत्यु दी जाती है। देश की उन्नति करने के कारण अमानुल्ला को यदि उसके देश-वासियो ने निकाल दिया तो यह स्वाभाविक ही है । देश-भक्तो के चले जाने पर ही उनके लिए लोगो मे आदर का भाव हो जाता है और देश दिन-दिन उन्नति करने लगता है।

वही हुआ । अमानुल्ला के बाद सरदारो के अनुरोध से जेनरल नादिरखां गद्दी पर बैठे । आजतक वही 'हिज़ मेजेस्टी नादिरशाह' के नाम से राज्य कर रहे हैं। इन्होंने बीच की नीति से काम लिया । यह सुधारक विचार के हैं पर परिस्थिति देखकर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। इनके समय मे भी अफगानिस्तान धीरे-धीरे प्रगति कर रहा है । अमानुल्ला ने राष्ट्र की सेवा का जो बीज बोया था वह धीरे-धीरे फूट रहा है और आशा है कि एक दिन उसमें सुधार का महान् पौधा उगकर जन-हृदय को छाया प्रदान करेगा।

[६]

विश्वासघात का प्रतिशोध

वर्साई की सन्धि के बाद अरबों की समझ मे आ गया कि तुर्क-साम्राज्य के ध्वंस के लिए उन्होंने अंग्रेजों की जो सहायता की वह उनके स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायक होने की जगह अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ मजबूत करने, अपने बन्धनों को और भी अधिक जकड़ देने और केवल शासकों का परिवर्तन करने का ही कारण हुई। तुर्क-साम्राज्य की अधीनता के समय उन्हें जितनी स्वतंत्रता थी अंग्रेजों की अधीनता मे आने पर उतनी भी नहीं रह गई। अंग्रेजों का साथ देना अपने को तप्तभूमि से हटाकर अग्निकुण्ड में ले जाकर खड़ा करना था। यहाँ के छोटे-छोटे शासक आपस में लड़ा करते थे; उनमें एकता नहीं, वे राजनैतिक विचारों से परिचित नहीं इसीलिए अंग्रेज उनपर अपना प्रभुत्व जमा सके थे। इससे अंग्रेजों का दो प्रकार का हित-साधन होता था। एक तो भारत-वर्ष के मार्ग में होने से उनपर अधिकार करना अंग्रेजों के लिए आवश्यक था। तुर्की, फारस, अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेजों के खिलाफ़ हो गये थे इसलिए भारतवर्ष का वह रास्ता खतरे से ख़ाली नहीं था। वे पैलेस्टाइन की ओर से दूसरे रास्ते पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। दूसरा लाभ आर्थिक था। इन्हीं दो लाभो के लिए उन्होंने अरबो को तप्तभूमि से लाकर अग्निकुण्ड में खड़ा कर दिया था।

अग्निकुण्ड में पहुँचते ही अरबों के भीतर ऐसा आन्दोलन चला जैसा कभी नहीं चला था। आपस में एक हो जाने के लिए इस समय जैसा प्रयत्न उन्होने किया वैसा और पहले कभी नहीं किया था। ऊपर से देखने से वे देश शांत दीखते हैं परन्तु उस शांति के भीतर ऐसी भयानक अग्नि जल रही है जो फूटे बिना नहीं रह सकती। चीन, फारस, तुर्की आदि देशो में जैसी अग्नि प्रज्वलित हुई है उससे वह कम नहीं है। एशिया के और राष्ट्रों की तरह यहां पर भी क्रान्ति का प्रचार, विदेशियो के खिलाफ आन्दोलन और आत्म-निर्णय के अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा के सिवा और कुछ भी दिखलाई नहीं देता।

सीरिया में फ्रासीसियों के अत्याचार

सीरिया का संरक्षण अपने हाथो मे लेते ही फ्रांस ने वहां बहुत सख्ती करना आरम्भ कर दिया। उसने वहाँ वालों के भावों की जरा भी परवा नहीं की। उन्होने यह भी नहीं ख़याल किया कि सीरिया की प्राचीन सभ्यता भी कोई चीज थी। सीरियन लोगों को फ्रांसीसी लोगो ने असभ्य और जंगली समझकर उनपर जैसा-तैसा शासन करना आरम्भ किया। इन कारणों से फ्रांसीसियो को आरम्भ से ही सीरिया में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सीरिया की राष्ट्रीय एकता भंग करने के लिए उन्होने उसे पाँच भागों मे विभक्त कर दिया। लिबोनान मे ईसाई लोगों की संख्या कम होते हुए भी उनका जोर अधिक था। फ्रांस ने उसे स्वतंत्र कर दिया। ड्रूसेस को भी प्रान्तीय स्वतंत्रता देकर अलग कर दिया और दमिश्क, अलप्पो और अलाउइट का संघ बनाया। इनके लिए ऐसा विधान रचा कि

इन तीनों प्रांतों की अलग-अलग प्रतिनिधि सभा रहेगी और वहां से पाँच-पाँच सदस्य चुने जाकर बड़ी कौंसिल में जायँगे। सभापति का चुनाव कौंसिल से ही होगा। ठीक इसी की समानता में फ्रेंच अधिकारियों का भी जाल बिछा दिया। उनमे सबसे ऊंचा पद हाई कमिश्नर का रखा। उसे चुननेवाला फ्रांस का पर-राष्ट्र-सचिव होता था। अरब इस प्रकार की व्यवस्था पसन्द नही करते थे इसलिए १९२५ में दमिश्क और अलप्पो मिला दिये गये और अलाउइट एक स्वतंत्र प्रांत बना दिया गया।

असन्तोष, दमन और विद्रोह

अरब फ्रांसीसियो के शासन से असन्तुष्ट थे। ऐसे ही समय में फ्रांस की ओर से साराईल नाम के एक सख्त हाई कमिश्नर भेजे गये। इससे लोगों में विद्रोह का भाव और भी अधिक जागृत हुआ। ड्रूसेस के लोगों से बहुत मजदूरी कराई जाती थी और उन्हे बहुत दबाया जाता था। एक फ्रेंच अफसर की बिल्ली खोजाने पर वहाँ की सारी जनता को जुर्माना कर देने की नौबत आ जाती थी। फ्रेंच अफसरो को वहाँ के लोगों के आचार-विचार रहन-सहन का कुछ भी पता नहीं रहता था। सख्ती का परिणाम भी बड़ा भयावना हुआ। ड्रूसेस के एक फिरके ने सुल्तान अतराश की अधीनता में ड्रूसेस की राजधानी सुइडा में एक फ्रांसीसी सेना को घेर लिया; देश में चारो तरफ विद्रोह मच गया। बड़ी मुश्किल से १९२७ के अंत तक विद्रोह शान्त किया जा सका। साराईल की सख्ती के कारण लिओवन के ईसाई भी बिगड़ गये थे। अब ईसाई और अरब

दोनों ही मिलकर फ्रांसीसियों का विरोध करने लगे। क्रान्ति के भीषण रूप धारण करने पर साराईल ने दमिश्क में मुसलमानों के घरो पर बम गिरवाये। बल्वा करने के अपराध में हजारों आदमी मार डाले गये और अनेक गॉव जला दिये गये, फिर भी फ्रेंच सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होने सीरियन लोगों पर ४०००० पौंड जुर्माना किया और पचास हजार राइफल माँगे। इससे सीरिया में क्रान्ति की आग और भी अधिक फैल गई। फ्रांस ने और अधिक सेना भेजकर किसी तरह विद्रोह दबाया परन्तु लोगो के भीतर का भाव परिवर्तन नही कर सका। अन्त मे साराईल बुला लिया गया और १९२५ के दिसम्बर में एक दूसरे हाईकमिश्नर भेजे गये। उन्होने नम्रता से काम लिया और परिस्थिति में परिवर्तन हुआ।

अरबों की राष्ट्रीयता के भाव ने फ्रांसीसियों को चैन नहीं लेने दिया। फ्रांस ने अपने लाभ के लिए सीरिया का संरक्षण अपने हाथ मे लिया था परन्तु १९१९ तक सीरिया पर अधिकार जमाने में उसके ६६२२ आदमी मारे गये और अक्तूबर १९२५ तक वहाँ का सैनिक व्यय २४६५०००००० फ्रैंक हो गया। सीरिया के टैक्स से बहुत कम वसूली होती थी। अरब लोगो ने फ्रांसीसियों से अच्छा बदला चुकाया। परिस्थिति यहाँ तक भयंकर हो गई थी कि फ्रेंच पार्लमेंट में सीरिया का संरक्षण छोड़ देने की भी चर्चा चलने लगी थी।

सीरिया के लोगो में यह भाव पैठ गया कि फ्रांसीसियों के अधिकार मे जाने से ही वे निर्धन होते जा रहे हैं। वहाँ के राष्ट्रीय विचारवालों ने सीरिया को एक राष्ट्रीय सरकार के

अधिकार में रखकर फिर से मिला देने के लिए बहुत जोर लगाया। साथ ही वे पैलेस्टाइन के साथ भी एक हो जाना चाहते थे। इसके लिए सीरिया-पलेस्टाइन कमिटी भी बन गई जो वृहन सीरियन राज्य कायम करने का प्रयत्न करने लगी। इस राज्य में पैलेस्टाइन भी शामिल हो जाता।

सीरिया के नये हाईकमिश्नर पौन्सोट ने फ्रेंच सरकार से सीरिया मे कुछ सुधार करने के लिए कहा। उनका विचार था कि शासन-व्यवस्था में कुछ सुधार कर दिया जाय और वहाँ प्रजासत्तात्मक ढंग की सरकार क़ायम कर दी जाय तो वहाँपर फ्रांसीसियो के खिलाफ अधिक भाव रहने की सम्भावना नहीं रहेगी। उनके के ही विचारानुसार सीरिया के अनेक व्यवसायों मे फ्रांसीसियों की पूँजी के साथ सीरियन लोगों की पूँजी मिला दी गई और सीरिया की एक पार्लमेण्ट १९२८ के अप्रैल मे बना दी गई।

पैलेस्टाइन का शासन

पैलेस्टाइन पर अधिकार जमाने मे अंग्रेज़ों का मूल उद्देश्य स्वेज और फारस की खाड़ी के बीच रास्ते को सुरक्षित रखना है, इसीलिए वे वहाँ पर यहूदियो। को बसा-कर उसे अपना सातवाँ उपनिवेश बना लेना चाहते थे। यहूदियों को वसाने से अंग्रेजों को उनसे आर्थिक मामलों में भी सहायता मिलने की आशा थी। व्यवसायी साम्राज्यवाद के दख़ल जमाने के लिए भी पैलेस्टाइन ऊसर भूमि नहीं है। अंग्रेजों ने १९२० मे सर हर्बर्ट सैमुएल नामक एक यहूदी को वहाँ का हाईकमिश्नर बनाकर भेजा था। उन्होंने ही अपने व्याख्यान में कहा है कि मृतकसागर (Dead Sea)

से ही यदि पोटाश निकालने का समुचित प्रवन्ध हो जाय तो वहाँ से अस्सी करोड़ पौंड का पोटाश निकलेगा।

यहूदियो के जाकर बसने से पैलेस्टाइन की आर्थिक समस्या मे अवश्य ही सुधार हुआ। वहाँ पर सड़कें वन गईं, कारखाने खुल गये, बहुत-सी बीमारियाँ दूर हो गईं, नये-नये स्कूल खुल गये फिर भी अरब लोगों को उससे सन्तोष नही हुआ। यहाँ पर अंग्रेज़ों ने सख्ती से काम नहीं लिया। पहले उन्होने ऐसा प्रवन्ध किया था कि हाई कमिश्नर को सहायता करने के लिए अधिकारियो की एक कार्यकारिणी सभा और एक व्यवस्थापिका सभा रहेगी। व्यवस्थापिका सभा मे दस अधिकारी और १२ चुने हुए आदमी रहेगे। चुने हुओ में ८ मुसलमान, २ ईसाई और २ यहूदी रहेगे।

अरबो को धोखा दिया गया था। वे असन्तुष्ट थे; इसलिए उन्होने चुनाव मे भाग नही लिया। उनके भाग नहीं लेने पर हाईकमिश्नर ने व्यवस्थापिका सभा के बदले अधिकारियों को सलाह देनेवाली एक कमिटी बना ली। हर्बर्ट सेमुएल १९२५ तक हाईकमिश्नर रहे और उतने दिनो तक उन्होंने बहुत अच्छी तरह से राज्य का प्रवन्ध किया। कर की वसूली से जितना खर्च हुआ था वह निकालकर १९२५ में दस लाख डालर वचे थे और रोकड़ में पच्चीस लाख डालर थे। इससे वहाँ के किसानों पर टैक्स कम कर दिया गया।

पैलेस्टाइन के अरब किसी बात से भी सन्तुष्ट नहीं थे। १९२० से ही उन्होने विद्रोह करना शुरू कर दिया था। उसी समय जेरूसलम मे यहूदियों की दूकानें लूट ली गई थीं

और कुछ यहूदी मार भी डाले गये थे। १९२१ फरवरी मे अरब पैलेस्टाइन कांग्रेस ने अपनी मांग पेश की कि पैलेस्टाइन में केवल अरबों का ही प्रतिनिधि शासन स्थापित किया जाय। इस कांग्रेस के कुछ ही सप्ताह बाद यहूदियों के खिलाफ सारे देश में विद्रोह हुआ परन्तु उसका सबसे भयानक रूप जाफ़ा में ही था। वहाॅ पर तीन सौ आदमी मारे गये थे। अरब यही समझते थे कि यहूदी पैलेस्टाइन में अपना राज्य स्थापित करने आये हैं। उनके विरोध करने का यही कारण था। सबसे अधिक चिढ़ उन्हे इस बात की थी कि तुर्क-साम्राज्य के अन्तर्गत वे जितनी स्वतंत्रता उपभोग कर पाते थे उतनी इस समय उन्हे नहीं मिलती थी। क़ानून आदि के मामलों में उनके साथ जंगली लोगो के जैसा व्यवहार किया जाता था।

विद्रोह

मृतकसागर (Dead Sea) मे अंग्रेज और यहूदी पूँजीपतियों को सुविधा देने पर अरब लोगो ने बहुत विरोध किया। दूसरे आर्थिक मामलो में भी अरब यहूदी और अंग्रेजो के काम में रुकावट डालते हैं। १९२५ तक ३३८०१ यहूदी पैलेस्टाइन मे पहुॅच गये थे। उन में से कुछ लोग खेती करने लगे। परन्तु अरबों के प्रबन्ध से उनके खेतो मे काम करने के लिए मजदूर नही गये इसलिए बहुत से यहूदी लौटने लगे। १९२५ में ही २१४१ यहूदी लौट गये।

अरब मिशनरी स्कूलो के भी कट्टर विरोधी हैं। वे उन स्कूलों को राष्ट्रीयता के भाव से दूर भगानेवाला समझते हैं इसलिए वहाॅपर अपने लड़कों को पढ़ाना अच्छा नहीं समझते।

यहूदियों के साथ बहुत मत-भेद होने पर भी वहाँ के अरब अंग्रेज अधिकारियों का सामना करने मे यहूदियो से मिल जाते है। जब कोई ऊँचा पद खाली होता था, तब पैलेस्टाइन के लोग न रखे जाकर अंग्रेज रखे जाते थे; इससे अरब और यहूदी दोनो में ही असन्तोष फैलता था। सभी अनर्थों की जड़ अरव अंग्रेजो को ही समझते है इसीलिए वे उनके वहुत विरोधी है। यहूदी लोगो को वहाँ रहने देने में भी अरव लोगो को कोई आपत्ति नही है परन्तु वे लोग अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमाना चाहते हैं इसीलिए अरब उनके विरोधी है। यहूदियो के हाथ में अभी भी बहुत-कुछ शक्ति है; उन लोगों ने पैलेस्टाइन की अवस्था में भी सुधार किया है परन्तु अरव लोगो को इससे रत्तीभर भी संतोष नही है। वे उनके खिलाफ बगावत करने पर सदा तुले रहते हैं। उन्हे संतोष तभी होगा जब उनका अपना राज्य क़ायम हो जायगा।

इराक़ मे भी अरब की एकता चाहने वाले नेता थे। अरब अनेक भागों मे विभक्त कर दिया गया था इस बात का तो उन्हे असंतोष था ही, साथ ही उन्हे अंग्रेज़ों की मातहती में रखा गया था इसलिए वे और भी अधिक असन्तुष्ट हुए। १९१९-२० मे ही उन्होंने बग़ावत की परन्तु इस समय अंग्रेजों ने बहुत ही चालाकी से काम लिया। उन्होने अपनी ओर से नम्रता दिखलाई। उन्होंने वहाँ के ही किसी आदमी को राजा बनाना चाहा। वहाँ के राष्ट्रीय दल वाले सैयद तालिब को राजा बनाना चाहते थे परन्तु वे अंग्रेजों के कट्टर विरोधी थे। अंग्रेज फैजुल को ही वहाँ का राजा बनाना

इराक़ म—

चाहते थे। उन्होंने सैयद तालिब को सिलोन में निर्वासित कर दिया और २३ अगस्त १९२१ को फैजुल को राजा बना दिया। फैजुल अंग्रेजों के हाथ का पुतला था और इराक़ का बाशिन्दा नहीं था इसलिए वहाँ वाले उसके खिलाफ थे। फ्रांसीसियों ने फैजुल को निकाल दिया था इसलिए उसे राजा बनते देख उन्होंने भी अंग्रेजों के खिलाफ लोगों को प्रोत्साहित करना आरम्भ किया।

फैजुल की सहायता के लिए एक मजलिस बना दी गई और १९२२ में वह पहले-पहल गद्दी पर बैठा। १९२२ में ही अंग्रेजों ने इराक़ से मनमानी सन्धि करा ली। इस सन्धि के अनुसार इराक़ सरकार ने सभी प्रमुख बातों में, खासकर सेना और आर्थिक मामलों में, अंग्रेजों की राय लेनी स्वीकार की। एक दूसरी सन्धि द्वारा वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों की तनख्वाह निश्चित कर दी गई। यह भी निश्चित हो गया कि यदि इराक़ राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं हो सका तो वह सन्धि बीस वर्षों के लिए लागू होगी। १९२३ ई० में दूसरा समझौता हुआ जिसके अनुसार सन्धि के चार वर्षों तक लागू रहने की ही बात निश्चित हुई। इतने में ही मोसल का मामला आ गया। मोसल पर अधिकार करना अंग्रेजों के लिए बड़े फायदे का था। इराक़ पर अपना प्रभुत्व जमाने से ही वे मोसल के मामले में भी हाथ डाल सकते थे इसलिए उस सन्धि की अवधि फिर पच्चीस वर्षों की करा ली गई। एक धारा यह भी थी कि इराक़ यदि बीच में ही राष्ट्र-संघ में शामिल हो गया तो सन्धि रद्द समझी जायगी। २७ सितम्बर १९२४ को राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने भी इस सन्धि को स्वीकार कर लिया।

अंग्रेजों के साथ सन्धि होने की बात का राष्ट्रीय—दल ने घोर विरोध किया परन्तु उन्हें भी विश्वास था कि यदि वे अंग्रेज़ों से मिलकर नहीं रहेंगे तो मोसल उन्हे नहीं मिल सकेगा इसलिए उन्होंने वह सन्धि मानली।

इराक़ पर कब्जा जमाने में अंग्रेज़ी सरकार का बहुत-सा धन खर्च हुआ था। १९२५ तक क़ब्ज़ा जमाये रखने के लिए पन्द्रह करोड़ पौंड खर्च किया गया था। रुई के व्यवसायियों और तुर्की पेट्रोलियम कम्पनी को इससे बहुत अधिक लाभ होता था। इसीलिए अंग्रेज़ों ने उस पर कब्ज़ा जमाया था। दखल जमाये रखने में बहुत अधिक खर्च देखकर अंग्रेजी पार्लमेण्ट ने इराक़ का संरक्षण छोड़ देने का विचार कर लिया था। यदि इराक़ की सरकार उस सन्धि को नहीं मानती तो अंग्रेजो के इराक़ छोड़ देने की सम्भावना थी। इराक़ पर कब्जा जमा लेने के बाद अंग्रेजो ने बगदाद से फारस की खाड़ी तक और दूसरे स्थानो पर भी रेले बनाली है। अंग्रेज़ों ने दखल जमाने में जो कुछ भी खर्च किया था उसे उन्होने पूँजी समझा था। उसी पूँजी का वे फायदा उठाने लगे। इराक़ पूरी तरह से अंग्रेज़ो के हाथ में है। वहां की अवस्था का इसीसे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि १९२७ मे उन्होने भारतीयो को इराक़-सरकार में कोई पद प्राप्त करने से रोक देना चाहा। इराक़ी लोगों में स्वार्थ-भाव बहुत अधिक है। वे अपनी थोड़ी-सी भलाई के लिए झट से पक्ष परिवर्तन कर देते हैं। उन्होने अपने समान मज़हब वाले तुर्कों से लड़ाई की और यदि अपनी भलाई देखेंगे तो अंग्रेज़ों का पक्ष लेकर एशिया के और दूसरे राष्ट्रों के खिलाफ़ भी लड़

मुझे राजा मानो।' अंग्रेज हुसैन की सहायता चाहते हुए भी नहीं कर सके।

अंग्रेज इब्नसऊद को और आगे बढ़ने देना नही चाहते थे। इब्नसऊद ने भी जल्दी बाजी करना अच्छा नहीं समझा इसलिए उसने अंग्रेज़ो से सन्धि कर ली। इस समय इब्न-सऊद ही अरब का सबसे शक्तिशाली शरीफ बन गया। सीरिया, पैलेस्टाइन और इराक़ के लोगों ने मिलकर अरबो की एकता के लिए जितना प्रयत्न नहीं किया उतना अकेले इब्न-सऊद ने किया। इसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली थी परन्तु हुसैन की तरह से उनके अधीन नहीं हो गया था। उसने सम्पूर्ण अरब को एक करने का विचार इस समय तक छोड़ा नहीं था।

पिछले साल १९२८ के आरम्भ में इब्नसऊद इराक़ पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा। बहुत से बहाबी शेख और सुल्तान इब्नसऊद के पास पहुँचने लगे। युरोप से बहुत से लड़ाई के सामान भी उसने मँगाने आरम्भ कर दिये। फ़रवरी के महीने मे केवल एक जहाज से दस हजार बक्स कारतूस उतारे गये थे। वे बन्दर में उतारकर तुरन्त ही गाड़ियो मे लादकर देश के भीतर भेज दिये गये। इराक पर चढ़ाई करने के उसने बहुत से बहाने भी ढूँढ लिये। उसने फ़ैजुल पर यह दोष लगाया कि वे हेजाज के वेदायूँ जातियों में उसके ख़िलाफ असन्तोष फैलाते हैं।

मस्कत और ओमन के सुल्तान भी कुछ वर्षों से अंग्रेजों के निरीक्षण में आ गये थे। १९२७ की जेद्दा की सन्धि में ओमन के सुल्तान से दोस्ती का बर्ताव रखने का वादा करने

पर भी इस समय इब्नसऊद ओमन पर अपना अधिकार बतलाने लगे।

अंग्रेजों ने अपनी किसी प्रकार की भी नीति इस समय अरब के विषय में प्रकट नहीं की। इब्नसऊद का अंग्रेजों से भी झगड़ा था। हेजाज रेलवे पर वह अंग्रेज और फ्रांसीसियों का अधिकार न रहने देकर अपना अधिकार जमाना चाहते थे परन्तु फ्रांस चुप रहकर जैसी सहायता उन्हें पहले किया करता था वैसी मध्यसागर (मेडिट्रेनियन) के मामले में अंग्रेजों से समझौता हो जाने के कारण इस समय उसने नहीं की। इब्नसऊद का विरोध अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनो ने ही किया। इब्नसऊद को सफलता नहीं हुई। इस समय इब्नसऊद ट्रांसजार्डेनिया पर भी आक्रमण कर दे सकता था इसलिए अंग्रेज वहाँ पर तैयारी करने लगे। उनकी तैयारी केवल आक्रमण रोकने लायक ही नही वरन् आगे बढ़कर आक्रमण कर देने के लायक हो गई थी।

इराक़ का भय

इराक़ वहाबिओ के आक्रमण के भय से बहुत भयभीत हो गया। अंग्रेजो की सहायता की उसे पूर्ण आशा थी परन्तु उन्होने उत्तर दिया कि वे जिसमें अरब की भलाई देखेंगे वही करेंगे। यदि वे वहावियों के साथ मिलने में फायदा देखेगे तो उनके साथ ही मिल जायँगे। इस समय अंग्रेज इराक-सरकार को वहावियों के डर से और भी अधिक भयभीत करके अपने लिए कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त कर लेना चाहते थे। कुछ अंग्रेज पूँजीपतियो ने आपस में मिलकर 'ब्रिटिश ऑइल डिपार्टमेण्ट कम्पनी खोली थी। इस कम्पनी ने पांच सौ मील लम्बी

बढ़ने का उपयुक्त समय नहीं समझा। अतः उस समय चुप बैठ कर उपयुक्त समय की प्रतिक्षा करने में ही भलाई देखी।

इब्नसऊद ने अरब में क्रम-से-कम ऐसी अवस्था ला दी है कि अंग्रेज़ चाहे जिस प्रकार अरब को अपनी इच्छानुसार नचा नहीं सकते। इब्नसऊद का सारे अरब को एक करने का प्रयत्न दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। दजबल शमार के बेदायूं, नेज्द के वहाबी, सीरिया, इराक़ हेजाज के अरब, पैलेस्टाइन के यहूदी, लबनन के ईसाई एक साथ मिलकर अरब मे अपना एक संगठित राज्य स्थापित करले तो भविष्य मे उनकी शक्ति बहुत बढ़ जायगी। वे अपनी रक्षा करने में समर्थ होगे और दूसरे लोगों को भी सहायता पहुँचा सकेंगे। अरब की प्राचीन सभ्यता बहुत ही उन्नत रही है। यदि वे एक हो जायँ तो उनके पुराने सुख और चैन के दिन फिर से लौट आयँगे। अभी भी सारे अरब में तुर्की और मिश्र के साथ मिल जाने का आन्दोलन चल रहा है। इतनी बात अवश्य है कि इस आन्दोलन की आवाज़ बहुत ही धीमी है परन्तु धीमी आवाज़ वाला स्वप्न भी इब्नसऊद के सारे अरब को एक कर देने के ख़याल के पूरा हो जानेपर बहुत शीघ्र पूरा हो सकता है। अब अरब दिन-दिन वर्तमान युग की लहर में बहना सीखता जा रहा है। जिस मरुभूमि को पार करने में पहले महीने लगते थे अब घंटों में वहाँ पर पहुंचना सम्भव हो गया है मोटरे दौड़ने लगीं है। यात्रा की अन्य सुविधाएँ भी जारी की गई हैं। शिक्षा इत्यादि में भी बहुत से सुधार किये गये हैं। इससे अरब के एकसूत्र में बँध जाने में बहुत-कुछ सहायता मिलेगी।

राजनैतिक तथा सेनाविषयक मामलों मे सलाह देने के लिए सलाहकार बुला लिये। रूस के वह मित्र थे वह समझते थे कि रूस के साथ मेल रहने पर ही दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्रों पर चीन के साथ अच्छा व्यवहार रखने के लिए दबाव डाला जा सकेगा; उसी की मित्रता के जोर से जापान को मंचूरिया पर कब्जा करने से रोक सकेंगे और कुओमियंग के बड़े भारी शत्रु ग्रेट-ब्रिटेन के साथ लड़ाई में सफलता पा सकेंगे।

मंचू-साम्राज्य की जड़ खोद डालने पर भी सनयातसेन का उद्देश पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ। युआनशिकाई की मृत्यु के बाद चीनी प्रजातन्त्र जीवित रहा परन्तु शक्ति, एकता और शांति का वहाँ पर पूर्णरूप से अभाव था। दिन-दिन प्रजातन्त्र शासन की वृद्धि में रुकावट डालने वाले नये-नये कारण उपस्थित होते ही गये। उत्तर और दक्षिण चीन में बहुत भेद था। दोनों स्थानों की लिपि एक थी फिर भी बोलचाल की भाषा में बहुत भेद था। राष्ट्रीयता का जोर जितना दक्षिण चीन में था उतना उत्तरी चीन में नहीं था।

बाधाएं

प्रजातन्त्र शासन की दूसरी बड़ी बाधा यह थी कि चीन की सरकार बहुत दिनों से ढीली-ढाली चली आती थी। प्रांतों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता थी। प्रजातन्त्र शासन स्थापित होने पर भी उस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रांतीय सैनिक शासक, जिन्हे चीनी 'तुखन' कहते हैं, केन्द्रीय प्रजातन्त्र शासन की परवा नहीं करते थे। ये तुखन अपने-अपने प्रांतों में लूट मचाते. अलग-अलग सेनाएँ रखते, आपस में अथवा केन्द्रीय शक्ति से सदा लड़ते

गृह-कलह

रहते और उनमें जो बहुत अधिक मजबूत होता वह शासन उलट देता, मंत्रिमण्डल को अपने अधिकार में रखता और इच्छानुसार शासन किया करता था। इन लोगो ने चीन को गृह-कलह का आदर्श नमूना बना रखा था। ये लोग पूरे देश का लाभ नहीं देख कर केवल अपना निजी लाभ देखा करते थे। इन्हे राष्ट्र को उन्नत करने की परवा नहीं रहती थी। अपना समय और शक्ति अपनी शक्ति दृढ़ करने में ही लगाते थे। इन फ़साद खड़ा करने वाले तुखनो को बाहरी देशो से अस्त्र-शस्त्र भी मिल जाया करते थे। यदि उन में किसी की हार होती तो वह कमजोर हो जाता था परन्तु उसका धन उसके पास ही रह जाता था। ऐसे तुख़न धन लेकर दूतावासो मे छिप रहते थे और फिर तैयारी कर लड़ने लग जाते थे। साम्राज्यवादी राष्ट्र खासकर जापान, अपना लाभ चीन को सदा कमजोर बनाये रखने में ही देखता था इसलिए वह भिन्न-भिन्न तुख़नो की धन से सहायता किया करता था। तुखन उसको सहायता से अपनी शक्ति बढ़ाकर लड़ते रहते थे। वे लोग कभी-कभी आपस में मिलकर केन्द्रीय शक्ति पर भी अपना अधिकार जमा लेते थे।

सनयातसेन देश को उन्नत करना चाहते थे; उन्हें अपना लाभ नहीं देखना था इसलिए देश की तत्कालीन अवस्था से वे बड़े ही दुखी रहते थे। वर्साई की सन्धि ने चीन-वासियों की आंखे खोल दी। राष्ट्रवादी आघात लगने पर देश की अवस्था सुधारने का प्रयत्न और भी अधिक तत्परता से करने लगे। रूस-जापान युद्ध द्वारा जिस प्रकार युरोपियनो के अजेय होने की बात निस्सार सिद्ध हो गई उसी प्रकार वर्साई की सन्धि के

कारण युरोपीय राष्ट्रों का नैतिक प्रभाव और उनके एक होने की बात निस्सार हो गई।

वर्साई की सन्धि के कारण चीन में सभी विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ आन्दोलन आरम्भ हुआ। देश के सभी लोगों में विरोध का भाव विद्यमान था परन्तु विद्यार्थियों में वह स्पष्ट दिखलाई देता था। इस विचार के विद्यार्थी केवल पेकिंग में ही लगभग बीस हज़ार थे। अनेक नगरों मे उन्होंने जुलूस निकाल कर वर्साई-सन्धि का विरोध किया। विद्यार्थी राजनैतिक मामलों में खूब भाग लिया करते थे। लोगों ने जापानियों से सम्बन्ध रखनेवाले अनफू क्लब को तोड़ डाला और जापानी चीज़ों का बहिष्कार आरम्भ किया। इसी समय १९२० में सनयातसेन कैंटन की राष्ट्रीय सरकार के सभापति चुने गये।

वर्साई की सन्धि से असन्तोष

पेकिंग की सरकार बहुत कमजोर हो गई थी; फिर भी और राष्ट्र उसीको चीन की सरकार मानते थे। दूसरे राष्ट्रों ने देखा कि चीन के बहुत कमजोर होने पर भी कोई राष्ट्र अकेला उसपर अपना प्रभुत्व जमा नहीं सकेगा तब उन लोगों ने एकसाथ मिल कर उस पर प्रभुत्व जमाने का विचार किया। चीन से युरोपीय शक्तियाँ बहुत लाभ उठा रही थी, अमेरिका को उस लाभ का काफी भाग नहीं मिलता था इसलिए उसने चीन के मामले मे सदा यही प्रयत्न किया कि चीन का जैसा बँटवारा पुराने साम्राज्यवादियों ने कर रखा है वह मिटा दिया जाय। ऐसा होने पर ही अमेरिकन पूँजीपतियों का लाभ हो सकता था। युआनशिकाई ने जो ऋण लिया था, उसमें ब्रिटिश, फ्रेंच,

जर्मन, अमेरिकन, रूसी और जापानी लोगो को बराबर-बराबर भाग मिला था। १९१३ मे अमेरिकन उस ऋण से हट गये। युद्ध के समय जर्मन और रूसी भी हट गये! १९१६ मे अमेरिकन इंटरनैशनल कारपोरेशन ने ग्रैंड केनाल बनाने के लिए चीनी सरकार को तीस लाख डालर ऋण दिये। इसी कम्पनी ने १५०० मील लम्बी रेल बनाने का ठीका भी लिया; फिर भी वे जापानी लोगो को अधिक लाभ उठाते हुए देखकर उनसे ईर्षा करते थे। १९१८ में चीन को जापान के संरक्षण मे जाने देने से बचाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मंडल का बनाना आवश्यक था। अकेले जापान का ही लाभ न हो इसलिए अमेरिकन, ब्रिटिश, फ्रेंच और जापानी बैंको का एक दल चीन-सरकार को ऋण देने के लिए बना। मंचूरिया और मंगोलिया के विषय मे अपवाद कर देने पर जापान दूसरे राष्ट्रो की बातो से सहमत था।

शांति-महासभा के बाद जापानी साम्राज्यवाद का विरोध चारो तरफ से होने लगा। प्रत्यक्षरूप में युद्ध से सबसे अधिक लाभ उसे ही हुआ था इसलिए सभी राष्ट्र उससे चिढ़ गये थे। अमेरिका उसका सबसे बड़ा विरोधी था। उसने १९२१-२२ में वाशिंगटन कान्फ्रेंस बुलाई।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस

दक्षिण चीनी प्रजातंत्र के सभापति सनयातसेन ने उस कान्फ्रेस में चीन की ओर से दक्षिण चीन के प्रतिनिधि लिये जाने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति हार्डिंज को लिखा परन्तु उन्होने वर्साई का अनुकरण करते हुए पेकिंग सरकार को ही आमंत्रित किया। कान्फ्रेंस में जापान ने साइबेरिया खाली

करने, चीन के साथ दूसरी सन्धि कर कियाचाऊ का पट्टा लौटाने, शांटुंग की जर्मन रेल चीन के हाथ बेंच देने और चीन-जापान दोनों देशो की कम्पनियो द्वारा शांटुंग के कोयले की खानों से कोयला निकालने का वादा किया। कान्फ्रेंस में वेईहाईवेई, हांगकांग, पोर्टआर्थर और कांगचाऊ भी चीन को लौटा देने की बात तै हुई परन्तु इनमे से कोई भी लौटाया नहीं गया। एक मुक्त-द्वार सन्धि पर भी नौ शक्तियों ने दस्तख़त किया। इन शक्तियो में एक जापान भी था। इस सन्धि के अनुसार सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि चीन की स्वतंत्रता मानी जायगी; दस्तख़त करने वाली शक्तियाँ चीन के किसी भी भाग मे आर्थिक एकाधिकार प्राप्त नहीं करेंगी और अपना प्रभुत्व-क्षेत्र भी निश्चित नहीं करेंगी। चीन से अथवा उससे सम्बन्ध रखती हुई गुप्त-सन्धियाँ कोई भो राष्ट्र नहीं कर सकेगा। ये बातें साम्राज्यवादी चालों के लिए मृत्यु-समान थीं। कान्फ्रेस ने अपनी इच्छा प्रकट की थी कि चीन अपनी सभी रेले मिलाकर एक राष्ट्रीय रेलवे बना लेगा और जैसी सहायता विदेशियो से वह चाहेगा वैसी ही लेगा। यदि कान्फ्रेंस की सभी बाते मानी जाती तो चीन युरोपीय और जापानी साम्राज्यवाद से पूर्ण रूप से छुटकारा पा जाता और १८९५ से चली आती हुई साम्राज्यवादी नीति उलट जाती परन्तु उपर्युक्त बाते केवल काग़ज पर लिखने के लिए ही थी। कमजोर राष्ट्रों को अधिकार तभी प्राप्त हो सकता है जब वे स्वयं प्रयत्न करके लें। अधिकार उन्हे कोई दे नहीं सकता।

जापान को आगे बढ़ने में बहुत-कुछ स्वतन्त्रता रही। फिर

भी इस कान्फ्रेन्स के कारण उसका बहुत घाटा था। उसने मंचूरिया के तुखन चांग-सो-लिन से मेल कर लिया। उसे केन्द्रीय शक्ति से लड़ने के लिए हमेशा उभाड़ता रहा। जापानी चाहते थे कि पेकिंग पर चांग-सो-लिन का कब्जा हो जाय। अनफू क्लब के स्थान पर कोई एक दूसरा अवश्य चाहिए था। केन्द्रीय शक्ति बहुत कमजोर हो रही थी। होनान के तुखन वू-पाई-फू उसपर अपना आधिपत्य जमाने जा रहे थे। चांग-सो-लिन अपना आधिपत्य चाहते थे इसलिए दोनों में १९२० में ही लड़ाई छिड़ गई। मंचूरिया के तुखन ने सनयातसेन को आशा दिलाई कि यदि वे उसकी सहायता करेंगे तो वह कैंटन सरकार को स्वीकार कर लेगा। सनयात-सेन ने उसे अच्छा मौक़ा आया समझा और वू-पाई-फू के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दी परन्तु इनकी हार हुई और इन्हें भागकर शांघाई चले जाना पड़ा। कैंटन पर दख़ल जमाने के लिए यांगत्सी के दक्षिण के कई तुखन आपस मे ही लड़ पड़े। इस समय ऐसे भी बहुत से तुखन हो गये जो किसी भी सरकार के अधीन नहीं थे। वे लोग अपने अधिकृत प्रदेशों पर मन-माना कर लगाते थे और अपनी प्रजा के साथ इच्छानुकूल व्यवहार करते थे। लड़ाई मे मंचूरिया के तुखन की इस समय हार हुई। वू-पाई-फू का पेकिंग पर अधिकार हो गया। चांग-सो-लिन ने १९२४ में दूसरी बार उनपर आक्रमण किया। वू-पाई-फू उनका सामना करने के लिए मंचूरिया की ओर बढ़े परन्तु उनकी सेना उनसे सन्तुष्ट नहीं थी। वे मंचूरिया की ओर बढ़ रहे थे, इतने में उनके ईसाई सेनापति फेंग-यू-हिशांग ने पेकिंग पर अधिकार

गृह-कलह

कर लिया । चू-पाई-फू का सामना जापानी लोगों ने भी मंचूरियन तुखन का पक्ष लेकर किया । अन्त में वू-पाई-फू को भागकर होनान चले जाना पड़ा ।

जेनरल फेंग-यू-हिशांग सनयातसेन के मित्र थे। उन्हें सोवियट-सरकार से भी सहायता मिली थी। उनके मुख्य सलाहकार सोवियट राजदूत कारा खां और सनयातसेन थे। इस समय सभी लोगों को आशा होने लगी कि पेकिंग में सोवियट ढंग का शासन हो जायगा। सनयातसेन भी इसी मौक़े पर पेकिंग पहुँचे परन्तु ११ मार्च १९२५ को इनकी मृत्यु हो गई।

सनयातसेन की मृत्यु

मृत्यु के पहले ही सनयातसेन ने कुओमिण्टांग को ऐसी अवस्था पर पहुँचा दिया था कि यदि वह तुखन लोगों के खिलाफ लड़ाई करती तो उसकी विजय निश्चित थी। जिस समय तुखन आपस में लड़ रहे थे उस समय सनयातसेन कुओमिटांग को और भी अधिक संगठित कर रहे थे। कुओमिण्टांग में पहले व्यक्तियों की चलती थी। उनका नेता कोई व्यक्ति विशेष हुआ करता था परन्तु यह कमज़ोरी थी। इसे दूर करने का सनयातसेन ने काफ़ी प्रयत्न किया। उन्होंने सदस्यों को समझा दिया कि नेताओं के ऊपर ही कुओमिण्टांग की सफलता-असफलता निर्भर नहीं करनी चाहिए। एक यदि चला जाय तो दल के दूसरे व्यक्ति तुरन्त ही उसका स्थान ले लें। आपस में मतभेद रहने से क्रान्ति सफल नहीं होती। वे कुओमिण्टांग में सदा एकता स्थापित करते रहने का प्रयत्न करते थे। कुओ-

कुओमिण्टाग में फूट

मिराटांग में सनयातसेन के समय में ही तीन दल थे परन्तु उनके व्यक्तिगत प्रभाव से सभी दल दबे हुए थे। उनके मरने पर फूट पैदा हो गई। नेताओ ने उसे सम्हालने की पूरी चेष्टा की; उन्हें बहुत-कुछ सफलता भी मिली। सनयातसेन ने क्रान्ति के कार्य को तीन अवस्थाओ में विभक्त कर दिया था। पहली अवस्था सैन्य-बल से, साम्राज्यवाद के अस्त्र, देश के तुखन लोगों को दबाने की थी। दूसरी अवस्था लोगों को शिक्षित करने की थी; उस समय भी कुओमिराटांग के ही अधिकार मे सारी शक्ति रहती; तीसरी विधानात्मक अवस्था होती जिस समय जनता की सरकार देश पर शासन करती।

रूस घरेलू झगड़ो से निपट जाने पर चीन की ओर ध्यान देने लगा। उसने चीन के राष्ट्रवादियों को सहायता दी। सहायता देने के कई कारण थे। चीन एक सताया जाता हुआ राष्ट्र था। अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाने के लिए सोवियट-सरकार ने उसकी सहायता की। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति मे भी जापान, अमेरिका और ब्रिटेन के खिलाफ चीन एक अस्त्र बनाया जा सकता था और साम्यवादी विचारो का प्रचार उसकी सहायता से मध्य एशिया में अच्छी तरह किया जा सकता था। रूस चीन के आपस मे मिल जाने से दोनो को ही लाभ हुआ। जापान ने उन लोगो के साथ नरमी का व्यवहार आरम्भ किया। मालूम पड़ने लगा कि अमेरिका और ब्रिटेन के खिलाफ पूर्वी एशिया में चीन, रूस और जापान का एक नया दल हो जायगा। रूस के ही कारण चीन मे अंग्रेजों के खिलाफ बहुत अधिक विरोध का भाव आगया।

१९२४ की रूसी-चीनी सन्धि के बाद रूस के प्रतिनिधि कारा खाँ पेकिंग में रहने लगे। इनके पहुँचने के बाद से पेकिंग में विदेशियों के, ख़ासकर इंग्लैंड के, खिलाफ़ बहुत अधिक भाव फैल गया। रूसी सरकार के खिलाफ़ चीनी लोगों की ग़लत धारणाएँ बँध गई थीं; वे नष्ट होने लगीं। कारा खां का प्रभाव विद्यार्थियों पर बहुत अधिक पड़ा। सोवियट-सरकार की ओर से चीन में अख़बार निकालने वाले भी भेजे जाने लगे। सोवियट-सरकार चीनी जनता पर यह प्रभाव डालना चाहती थी कि वह समझ ले कि रूस ने अपनी नीति बदल ली है, अब वह पुराना साम्राज्यवादी रूस नहीं रह गया। चीन के साथ किसी विदेशी राष्ट्र ने समानता के आधार पर सन्धि की तो वह इस समय तक अकेला रूस ही था इसलिए उसकी बातों पर लोगों का विश्वास हो जाता था। चीनी, ख़ासकर विद्यार्थी, रूसी लोगों को अपना सहायक समझते थे क्योंकि रूसी उनके साथ मिलते समय उन्हें यथोचित सम्मान देते थे। कारा खां से लोगों ने पूछा कि उनके प्रचार करने का कौन-सा ढंग है जिससे विद्यार्थियों पर उनका इतना अधिक प्रभाव पड़ता है ? कारा खां ने उत्तर दिया था कि विद्यार्थी यदि अन्य विदेशी लोगों के साथ मिलने जाते है तो उन्हे वे बैठने के लिए भी नहीं कहते परन्तु उनके यहाँ पहुँचने पर विद्यार्थियों का सत्कार होता है इसीलिए उनका अधिक असर पड़ता है।

रूस का प्रभाव

दक्षिण चीन में भी रूस ने सनयातसेन को काफी विश्वास दिला दिया था कि सोवियट-सरकार की शासन-प्रणाली और उनके कुओमिंगटांग की शासन-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं है। 'एशिया

एशियायी लोगों का है,' इस बात का भी रूस पक्का पक्षपाती है। सनयातसेन ने रूसी लोगो से बहुत-कुछ लाभ उठाया । बोरोडिन की सहायता कुओमिएटांग के उत्कर्ष के लिए बड़ी मूल्यवान सिद्ध हुई। सारे राष्ट्र से आन्दोलन का भाव फैलाने के लिए सनयात-सेन शिक्षक और विद्यार्थियों मे काम कर रहे थे। उनकी जहाँ तक चलती थी, स्कूलो में कुओमिएटांग के सदस्यो को ही शिक्षक का कार्य देते थे।

सनयातसेन क्रान्ति के लिए देश में उपयुक्त वायुमण्डल तैयार करने के ये सब प्रयत्न कर रहे थे; दूसरी ओर साम्राज्य-वादी राष्ट्र अपना मतलब साधने की धुन में लगे हुए थे। जापान मंचूरियन तुख्न चांग-सो-लिन की सहायता करता ही था, साथ ही उसने ईसाई जेनरल फेंग-यू-हिशांग की भी सहायता पेकिंग पर दखल जमाने के समय की थी। जापानी सिद्ध करके दिखला देना चाहते थे कि जापान उनका परम मित्र है इसीलिए १९२४ मे शांटुंग मे विद्रोह हो जाने पर जब इंग्लैंड आदि राष्ट्र चीनी रेलवे पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार जमाना चाहते थे उस समय जापान ने उनका सख्त विरोध किया था और चीन को अपमानित होने से बचाया था। जापानी यह भी नहीं चाहते थे कि पेकिंग की सरकार कैंटन सरकार से मिली रहे। पेकिंग सरकार ने दक्षिणी चीन से मेल करने के लक्षण प्रदर्शित किये, इसलिए उन्होंने चांग-सो-लिन को फिर भड़काया और उसे पेकिंग पर चढ़ाई कर देने के लिए कहा। १९२६ के आरम्भ में ही ईसाई सेनापति की हार हुई और उन्हें भाग कर कहीं दूसरी जगह चला जाना पड़ा।

चांग-सो-लिन का पेकिंग पर अधिकार हो गया। वू-पाई-फू भी लड़ाई की तैयारी करने लगे; परन्तु उन्होंने चांग-सो-लिन से दक्षिणी सरकार के खिलाफ मेल कर लिया। चांग-सो-लिन का रूसी सरकार से झगड़ा चलने लगा। मंचूरिया में सोवियट सरकार के हस्तक्षेप से मनमुटाव और भी अधिक बढ़ा। चांग-सो-लिन समझने लगा कि साम्राज्यवादी रूस और सोवियट सरकार में कुछ भी अन्तर नहीं है। मंचूरिया में जापान के रुकावट डालने के कारण रूस आगे नहीं बढ़ सका।

दक्षिणी चीन में रूस का काम अच्छी तरह चलता रहा। कैंटन सरकार का सलाहकार बोरोडिन १९२३ ई० से ही वहाँ पर रहता था। उसी के निरीक्षण में ह्वामबोत्रा में एक सैनिक विद्यालय खोला गया था जहाँ पर दक्षिणी सरकार के लिए सैनिक तैयार किये जाते थे। सोवियट सरकार के ही ढंग पर यहाँ पर और भी कई संस्थाएँ कायम की गईं। बोरोडिन और उसके सहायकों की सहायता से कैंटन सरकार दिन-दिन संगठित होती गई। उनकी सहायता से दक्षिणी चीन के सेनापति चियांग-काई-शेक की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वह उत्तर के तुखनों से मुकाबिला करने योग्य हो गये। सोवियट सरकार की नीति के कारण दक्षिणी सरकार की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, उनमें अंग्रेज़ और तुखनों के खिलाफ भाव भी वैसे ही बढ़ता जाता था।

दक्षिण चीन

इसी समय अंग्रेजों की ओर से एक ऐसा कार्य हो गया कि जिससे उनके खिलाफ विद्रोहाग्नि और भी जोरों से भड़क

उठी। ३० मई १९२५ को कुछ विद्यार्थी शंघाई की सड़कों से विदेशियों के खिलाफ़ भावप्रदर्शन करने के लिए जुलूस बनाकर जा रहे थे। अंग्रेजी सिपाहियों ने उनपर गोली चला दी जिससे कई मर गये और अनेक घायल हो गये। यह ऐसी घटना हो गई जिससे चीन के विद्रोह ने एक नया रूप ले लिया।

दु:खद घटना

१९१५ में जापान की इक्कीस माँगों के खिलाफ भी लोगों में इस समय के जैसा असन्तोष का भाव नहीं था। चीनी लोगों के भीतर पढ़े-लिखे लोगों के लिए बहुत अधिक सम्मान का भाव रहता है। विद्यार्थी ही आगे चलकर विद्वान् बनते है इसलिए जनता उनका बहुत आदर करती है। विद्यार्थियों के मारे जाने से असन्तोष की अग्नि भभक उठी। द्वेष का भाव सभी विदेशियों के प्रति था। परन्तु वह ग्रेटब्रिटेन के खिलाफ बहुत ही अधिक था। कैंटन में सभी विदेशी चीजों का बहिष्कार आरम्भ हुआ। पेकिंग में भी असन्तोष पैदा हुआ था परन्तु वहाँ के लोग कुछ कर नहीं सके। अंग्रेजी चीजों के बहिष्कार करने के बाद छोटे-मोटे दंगे होने लगे। विदेशी और ईसाई लोगों के खिलाफ भाव लोगोंमे जागृत होने लगे। चीन इस मामले मे इस समय जैसा एक हो गया, वैसा पहले और कभी नहीं हुआ था।

१९२६ में कुओमिटांग कांग्रेस के संरक्षण मे आई हुई कैंटन-सरकार की सेना उत्तर के तुखनों पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी। रूस में वोल्शेवी लोगों ने जिस-प्रकार से देश को एक बनाने और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया था, यह प्रयत्न भी ठीक वैसा ही था। इस आक्रमण में सबसे अधिक आश्चर्य

राष्ट्रीय दल की बढ़ती

कुओमिंगटॉग के नेताओं ने मंचूरियन तुखन चाँग-सो-लिन की सत्ता पेकिंग से उठा देने के लिए आक्रमण करने के पहले अमेरिका और इंग्लैंड से उस लड़ाई में तटस्थ रहने के लिए कहा। उन्होंने अपने राजनैतिक दूत जापान में वहाँ की सरकार को यह विश्वास दिलाने के लिए भेजे कि राष्ट्रीय दल के अधिकार में चीन का एकीकरण हो जाने से उनके आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी। अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा करके राष्ट्रीय दल ने पेकिंग पर चढ़ाई की और १९२८ के जून में उसपर अधिकार कर लिया।

राष्ट्रीयदल ने दो वर्ष पहले ही वूहन और नानकिन पर अधिकार जमा कर अंग्रेजो के यॉगत्सी पर अधिकार करने की आशा पर पानी फेर दिया था। पेकिंग पर कब्जा करना उससे भी अधिक महत्व का था। इसपर कब्जा हो जाने से उत्तरी चीन से जापानी षड़यन्त्र का भय जाता रहा। पिछले साल दिसम्बर से मंचूरिया में भी राष्ट्रीय दल का झंडा फहराने लगा। पेकिंग और मंचूरिया पर दखल हो जाने से राष्ट्रीय सरकार के अधीन सारा चीन आ गया। अनेक वर्षों से विभक्त देश एक ही झंडे के नीचे आ गया। कुओमिंगटाँग को ऐसी सफलता पहले और कभी नहीं मिली थी। चीन की कोई भी क्रांति इसके पहले सारे देश को इस प्रकार से एक करने में समर्थ नहीं हुई थी। इस समय से चीन एक-राष्ट्र कहे जाने योग्य हो गया। विदेशी लोगों की एक भी नहीं चली। चीन का स्वातंत्र्य-युद्ध समाप्त हुआ-सा दीखता है। चीन अन्त में विजयी हुआ। यह विजय केवल चीन के

लिए ही नहीं परन्तु सारे एशिया के लिए बड़े ही महत्व की है। चीन में चली जाने वाली साम्राज्यवादी चालो के लिए यह एक बहुत बड़ा धक्का है। अब प्रत्यक्ष दीखने लगा है कि साम्राज्यवाद का ध्वंस निकट आ गया है।

स्वतंत्र होने पर चीन दिन-दिन उन्नति करता जा रहा है। अब वह अपने लाभों पर दृष्टि डाल सकता है। विदेशी बैंकर और पूंजीपतियो के चंगुल से भी वह शीघ्र ही छूट जायगा।*

राजधानी का परिवर्तन

चीनी लोगों ने अब अपनी राजधानी पेकिंग में न रखकर नानकिन मे रखी है। १८ अप्रैल १९२८ को राष्ट्रीय सरकार ने वू-हान से हटाकर नानकिन को राजधानी बनाया। सनयातसेन १९११ मे ही पेकिंग से राजधानी हटा देना चाहते थे परन्तु युआन-शिकाई के कारण वैसा नहीं कर सके थे। मंचू लोगों ने अपनी सुविधा के लिए देश के उत्तरी भाग में राजधानी रखी थी; उससे असुविधा हुआ करती थी। साथ ही युरोपियन लोगों का दाँवपेच वहाँपर बहुत-कुछ सफल हो जाता था। नानकिन मे उसका सफल होना कठिन हो जायगा। चीन अपने जीवन मे एक नया युग लाना चाहता है। पुरानी बातो को भूल जाना चाहता है; पेकिंग मे उसे दासता, दरिद्रता, अपमान और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़े थे उनसे हटकर अपने पूर्व गौरव को वह प्राप्त करना चाहता है। नानकिन में जबतक

---

* हाल के चीन-जापान संघर्ष से सिद्ध हो गया है कि अब भी चीन कितना दुर्बल और अव्यवस्थित है तथा विदेशी उसपर कैसे तार लगाये हुए हैं। —सम्पादक।

राजधानी थी चीन का इतिहास उज्ज्वल था इसीलिए अच्छे मकानों का अभाव रहते हुए भी राजधानी वहीं स्थानान्तरित की गई है। नानकिन को वर्तमान युग का एक नगर बना देने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। कुओमिएटांग ने दो अमेरिकनों पर यह कार्य-भार सौंपा है।

चीन सनयातसेन-द्वारा निर्द्धारित क्रान्ति की तीन अवस्थाओं में पहली अवस्था पार कर चुका। विरोधियों को जीतने और कुओमिएटांग की अधीनता में चीन का एकीकरण करने के लिए सैन्य-शक्ति लगाई गई थी, उसमें पूरी सफलता हुई। राजनैतिक शक्तियों को काम में लाने की और लोगों को शिक्षित करने की अवस्था आरम्भ हो गई है। जनता अपना शासन आप ही चला लेने योग्य हो जायगी, उस समय वैध शासन की अवस्था आ जायगी।

सैनिक विजय प्राप्त करने के बाद चीन अपना घर सम्हालने में लग गया है। क्रान्ति के समय उसके सैनिकों ने बड़ी वीरता का परिचय दिया। सैनिक शक्ति की अवस्था पार कर-चुकने पर चीन के सामने प्रश्न यह है कि अधिकांश सैनिकों को शांति-प्रस्थापन के कार्य में किस प्रकार लगाया जाय; देश की रक्षा के लिए बाक़ी सैनिकों को किस प्रकार रखा जाय और जनता की भलाई इन प्रश्नों को हलकर किस प्रकार की जाय? चियांग-काई-शेक ने पिछले साल फायून के मन्दिर में सनयात सेन की आत्मा की आराधना करते हुए ठीक ही कहा था—

'तुम्हारे (सनयातसेन के) निर्धारित किये जनता के तीन सिद्धान्तों के अनुसार क्रान्ति का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। सैन्य-

शक्ति द्वारा सफलता प्राप्त कर लेना तो उसका बहुत ही छोटा अंग है। शांति के समय हम लोगों को देश के मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान के लिए जितना प्रयत्न करना है वह सैन्य-क्रान्ति से दसगुना अधिक कठिन है। जबतक जनता के तीन सिद्धान्त पूर्णरूप से पूरे नहीं हो जाते हम लोग नही समझ सकते कि क्रान्ति खतम हो गई और हम लोगों ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया।'

क्रान्ति के समय चीन की अवस्था बहुत ही शोचनीय हो गई थी। सैन्य-क्रान्ति खतम हो जाने पर बीस लाख युवको को सेना में रखना अनुत्पादक रीति पर खर्चा बढ़ाना था। वह लोगों पर व्यर्थ का भार होता इसलिए उसे कम कर युवको के श्रम को देश के लाभ के लिए खर्चा करने का चीन-वासियों ने प्रयत्न किया। फिर भी देश की रक्षा करने के लिए सैन्य-शिक्षा की आवश्यकता थी। २४ मई १९२८ को नानकिन-सरकार ने सभी कालेजों मे सूचना भेज दी कि विद्यार्थियों को सप्ताह में कम से कम तीन बार सैन्य-शिक्षा अवश्य ही दी जाय। स्कूलो में सूचना भेज दी गई कि वहाँ विद्यार्थियो की शारीरिक अवस्था सुधारी जाय जिसमे कालेज मे पहुँचने पर वे सैन्य-शिक्षा ले सकें।

१९२८ से ही चीन मे घरेलू सुधार भी होने लगे हैं। बाहरी देशों से भी नये प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होने लगे हैं।

घरेलू सुधार

१५ जून १९२८ को चीनी सरकार ने सभी विदेशी राष्ट्रों के प्रति घोषणा प्रकाशित की। उसमें उसने लिखा कि चीन अस्सी वर्षों से असमानता की

सन्धियों की जंजीर से जकड़ा हुआ है; उसे अपने देश में आयात-निर्यात कर लगाने की भी स्वतन्त्रता नहीं है, यह बड़े ही अपमान की बात है। यदि चीन कर की बाधाओं से मुक्त कर दिया जाय और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में और राष्ट्रों के बराबर का राष्ट्र समझा जाय तो चीन में विदेशियो के जान-माल की और भी अच्छी तरह रक्षा की जा सकेगी; उसी अवस्था में शांति स्थापित रह सकेगी और मनुष्य-मात्र का कल्याण हो सकेगा।

संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने चीन की बातों पर सबसे पहले ध्यान दिया। उसने चीन की राष्ट्रीय सरकार को चीन की वास्तविक सरकार स्वीकार कर लिया; आपस के भेदों का फैसला कर लिया और चीन के साथ एक नई व्यापारिक सन्धि करली जिससे चीन आर्थिक स्वतंत्रता में एक पग आगे बढ़ गया। अमेरिका ने २५ जुलाई १९२८ को चीन के साथ सन्धि की थी। २७ दिसम्बर तक उसके अलावे ग्यारह और राष्ट्रों ने, जिनमें इंग्लैंड, फ्रांस और हॉलैंड भी थे, चीन के साथ नई सन्धि करली। इन सन्धियों-द्वारा निश्चित हो गया कि चीन को अपने देश में आयात-निर्यात कर लगाने की पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी और इसमें बाधक पहले की जितनी सन्धियां हैं वे सभी रद्द समझी जायँगी। उन ग्यारह राष्ट्रों में बेलजियम, डेन्मार्क, इटली, पुर्तगाल और स्पेन एक पग और भी आगे बढ़े। उन्होने १ जनवरी १९३० से चीन में अपना विशेषाधिकार (extraterritoriality) भी छोड़ देने का वादा किया। *

---

*इन सब बातों के होते हुए भी जहाँ स्वार्थों का संघर्ष होने की सम्भावना होती है वहाँ अवस्था पूर्ववत् ही हो जाती है। —संपादक।

सभी देशों ने चीन के साथ नई संधियां कर लीं परन्तु जापान ने अभी तक नहीं की। उसने १८९६ की सन्धि को ही और दस वर्षों के लिए क़ायम रखा। आपस के कई मामले तै करने के लिए जापान से याडा महाशय १९२८ के अक्तूबर में चीन गये परन्तु सभी मामले तै नहीं हुए। दूसरी वार नवम्बर में याडा फिर गये परन्तु चीनी परराष्ट्र-सचिव ने यह समझकर कि जापानी सरकार ने उन्हे अपनी पूरी शक्ति नही दी है, उनसे बातें नहीं कीं। अभीतक चीन-जापान की कोई सन्धि नहीं हुई है। हाल में, १९३३ मे महीनों की जापान की जबर्दस्ती और संघर्ष के बाद कोई समझौता हुआ है पर क्या समझौता हुआ है, यह बात इतनी गुप्त रखी गई है कि अभीतक कुछ पता नही लगा है।

चीन में अपने देश के अधिकारियों-द्वारा न्याय कराने का अभी भी सोलह राष्ट्रों को—अमेरिका, बेल्जियम, ब्रेजिल, ब्रिटेन, डेन्मार्क, फ्रांस, इटली, जापान, मेक्सिको, नेदरलैंड, नार्वे, पेरू, पुर्तगाल, स्पेन, स्वीडेन और स्वीजरलैंड को अधिकार है। चीनी इसे अपने यहाँ और अधिक चलने देना नहीं चाहते। इसमे वे अपना सब से बड़ा अपमान समझते हैं इसीलिए उन्होंने कई वर्ष हुए ब्रिटेन को विशेपकर तथा अन्य राष्ट्रों को भी लिखा था कि इस प्रकार के विशेपाधिकार उठा दिये जायँ। उसने अपनी सूचना में यह भी दिखलाया था कि जिन देशो को विशेपाधिकार प्राप्त नहीं है उनके साथ कोई अन्याय का भय नहीं करना चाहिए।

चीन ने कानून और न्याय के मामलों में भी सुधार किया है। अपने यहाँ पहले की अपेक्षा अच्छे क़ानून, अच्छे न्यायालय, और अच्छे क़ैदख़ानों का बन्दोबस्त किया है। क़ानून के पुराने कोडों को सुधार कर नये कोड तैयार किये हैं। न्याय के लिए नये न्यायालय स्थापित किये हैं और न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा दी है। क़ानून की शिक्षा कालेजों मे तो दी ही जाती है इसके लिए अलग नये ढंग के स्कूल भी खुल गये हैं।

राष्ट्रीय सरकार का संगठन न तो सोवियट और न युरोपीय ढंग का ही है। वह पूर्ण रूप से चीनी ढंग का है। वहाँ की सरकार के पाँच अंग है जिन्हे युआन कहते हैं। इस प्रकार से अंगों का विभाग स्वयं सनयातसेन ने ही किया था। वे पाँच युआन एक्जिक्यूटिव (शासन), लेजिस्लेटिव (व्यवस्था), जुडीशियल (न्याय), एकजामिनेशन (परीक्षा) और कण्ट्रोल (अधिकार) के हैं। सरकार का इस प्रकार का संगठन नये ढंग का है; अभी इसे काम में लाया जा रहा है। आशा है कि यह यूरोपीय ढंग की सरकारो की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम सिद्ध होगा।

चीन की क्रान्ति केवल राजनैतिक ही नही बल्कि आर्थिक भी है। वहाँपर तेल, टीन और लोहे की पर्यात खानें हैं। जिस दिन वह एक विकसित शिल्प-प्रधान देश हो जायगा उस दिन की उसकी शक्ति का अन्दाजा अभी नहीं लगाया जा सकता। सम्भव है उस दिन ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान एक साथ मिल कर भी उसका सामना नहीं कर सकें क्योंकि इन सभी देशों से पाँच

आर्थिक बातें

वाले विदेशियों का लाभ इसी में था कि वे अपना माल बेचे। वे मशीन बेचने लगे। अब चीन मे ही माल तैयार होने लगा और विदेशी लोगों के तैयार माल की बिक्री रुकने लगी। यह साम्राज्यवाद के निज के शरीर का मृत्यु-बीज था। चीन को अपना माल आप ही तैयार कर लेने से वे रोक नहीं सके।

कारखानों के चलने से चीन में पूँजीपतियों का भी एक वर्ग हो गया। जिस चीन में कुछ ही वर्षो पहले एक भी कारखाना मशीन से चलनेवाला नही था वहीं पर १९२३ में १९००० कारखाने स्थापित हो गये। वह रुई उत्पन्न करने में संसार का तीसरा देश है, फिर भी कपड़ो के लिए दूसरों पर आश्रित रहता था। १९०० के वाद से ही अधिकतर कपड़े की मिलें वहाँ पर स्थापित हुईं। महायुद्ध के समय विदेशी कपड़ो का आना बन्द हो गया। इसलिए चीन के कपड़ो के कारखानों को वहुत प्रोत्साहन मिला। १९१९ मे वहाँ पर केवल ६५९७५२ तकुए चलते थे; वे ही १९२२ में वढ़कर १५९३०३४ हो गये। इन चार वर्षो मे मशीनो से चलनेवाले कारखाने तिगुने वढ़ गये। चीन पहले विदेश के तैयार माल पर निर्भर करता था। १९२१ मे उसीने ७३०००००० डालर से ९६०००००० डालर तक का तैयार माल विदेश भेजा।

औद्योगिक अवस्था

१९२९ में ही मैचेस्टर के 'काटन यार्न असोसियेशन' ने एक पैम्फलेट निकाला था जिसमें उसने लिखा था कि चीन रुई उत्पन्न करनेवाला और उसके कपड़े व्यवहार करनेवाला देश है। अभी चीन में कपड़े की कुल १२७ मिलें चल रही हैं जिनमें चार अंग्रेजी, छियालीस जापानी और सतहत्तर चीनी हैं। वहाँ

के अधिकतर बुने जानेवाले करघे १९२१ में ही स्थापित हुए हैं। चीन अब भारतवर्ष में सूत भेजने लगा है। उसके साथ प्रतिद्वंद्विता करना दूसरे देशो के लिए कठिन हो गया है क्योंकि वहाँपर मजदूरी बहुत सस्ती है। चीनी जितने कपड़े व्यवहार करते हैं उसका तीन-चौथाई हाथ का बना होता है। विदेशी माल का दाम थोड़ा भी बढ़ जाता है तो देशी माल की मांग बहुत अधिक बढ़ जाती है। अब लंकाशायर के रुई के व्यापार मे बहुत घाटा आने लगा है क्योंकि उसका चीन का बाजार छूट गया है तथा भारत का भी बाजार कुछ देशी उद्योग की उन्नति और कुछ जापानी प्रतियोगिता के कारण छूटता जाता है।

पूँजीवाद का विरोध

चीन मे देशी पूँजीपतियों के खिलाफ भी आन्दोलन आरम्भ हुआ। सनयातसेन साम्यवादी विचारो को पसन्द करते थे परन्तु कुओमिंगटांग की नीति उन्होने साम्यवादी नही बनाई। हाँ उन्होने इतना निश्चय कर लिया था कि बड़े-बड़े व्यवसायो पर सरकार का ही आधिपत्य रहेगा। साम्यवादियो का उन्होने यह सिद्धान्त नहीं अपनाया कि जमीन जमींदारो से छीनकर किसानो के बीच बांट दी जाय और कारखानों पर मजदूरो का अधिकार हो जाय। मजदूर तथा किसान लोगो की अवस्था में सुधार करने का उन्होंने वादा अवश्य ही किया था परन्तु उनकी दृष्टि से उनकी अवस्था सुधारने में साम्यवादी सिद्धान्त बिलकुल ठीक नही थे।

१९१९ मे वर्साई की सन्धि के बाद देश में आन्दोलन चला उसी समय मजदूरों मे भी आन्दोलन चला। व्यवसायी संघ की स्थापना सबसे पहले उसी समय हुई। व्यवसायी संघो

स्थापित किये जायंगे जो कारखानों का अर्थ-संचालन करेंगे। विदेशी लोगों के साथ व्यापारियों का जो ठीका-पट्टा होगा वह सब चीनी भाषा में लिखा जायगा; विदेशी उसे समझ सकें इसलिए अंग्रेज़ी में भी उसका अनुवाद रहेगा परन्तु क़ानून की दृष्टि में चीनी भाषा में लिखा हुआ ही अधिक ठीक समझा जायगा।'

चीन को नये ढंग का राष्ट्र बनाने के लिए चीन की राष्ट्रीय सरकार विदेशी लोगो से भी सहायता लेती है। सैन्य और शिल्प के मामले में सलाह देने के लिए जर्मन तथा अर्थ-संचालन और कर का मामला ठीक करने के लिए अमेरिकन सलाहकार रखे गये है। चांग-सो-लिन के हारने और मरने तक चीनी राष्ट्रवादी अंग्रेज साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ते रहे हैं क्योकि वे लोग उसे सहायता करते थे। इधर अंग्रेज और चीनियों के परस्पर सम्बन्ध मे उलट-फेर हुआ है, नहीं तो राजनैतिक मामलों में सलाह देने के लिए अंग्रेजों की ओर से सर फ्रेडरिक ह्वाइट नहीं रखे जाते। चियांग-काई-शेक (राष्ट्रीय चीन के सभापति) और सी० टी० वांग (पर-राष्ट्र-सचिव)* चाहते हैं कि उन्हें संसार के दूसरे उन्नत राष्ट्र अपनी श्रेणी का मान ले इसीलिए वे अंग्रेजो से मिलकर रहना चाहते है। जब इस प्रकार के मेल से उनकी हानि होने की सम्भावना नही रह गई तो फिर मेल क्यो न करलें।

चीन के सामाजिक जगत् में भी इस क्रान्ति ने उथल-पुथल मचा दी है। पहले स्त्रियां डाक्टर वा वकील नहीं हो सकती

---

*यह १९२९ की बात है। —सम्पादक

थी परन्तु अब होती जा रही हैं। उनकी शिक्षा के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया गया है। चीन में स्त्रियो का क्रान्ति मे क्या स्थान था यह श्रीमती सनयातसेन द्वारा भारतीय स्त्रियो के पास पटना के स्त्री-सम्मेलन के अवसर पर भेजे गये सम्वाद से विदित हो जायगा। उन्होंने ५ जनवरी १९२८ को बर्लिन से लिखा था:—

"मैं उन स्त्रियों की ओर से आप लोगों को बधाई देती हूँ जो नेताओ के देश को स्वतंत्र करने के पथ से विचलित हो जाने पर भी गृह-कलह और अंग्रेज तथा दूसरे साम्राज्यवादियो के भार से चीन को छुड़ाने मे लगी हैं। चीन की स्त्रियों की तरह आप लोगों को भी देश के पुनरुत्थान के लिए देश को अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चक्र से छुड़ाने में लग जाना चाहिए।"

चीन में बहुत-कुछ सुधार हुआ, वह उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है; फिर भी कुओमिंगटांग में एक ऐसा दल है जो नानकिन–सरकार से सन्तुष्ट नहीं है। उस दल का कहना है कि सनयातसेन की इच्छानुसार कार्य नही चल रहा है। अभी भी सम्भावन यही है कि चीन के विभिन्न दलो में लड़ाई छिड़ जाय, परन्तु इतना स्पष्ट है कि गृह-कलह मे चाहे जो दल भी विजयी हो उसे जनता के अधिकारों को मानना और राज्य के कामों मे उसे प्रतिनिधित्व देना ही पड़ेगा। अब चीन की वैसी स्थिति भी नहीं रह गई है कि गृह-कलह से लाभ उठाकर साम्राज्यवादी अपना लाभ साध लेंगे।

अब चीनी क्रान्ति के पिता की मूर्ति, राष्ट्रीय सरकार-द्वारा दस लाख पौंड व्यय करके तैयार किये गये स्मारक मे बैठकर

नानकिन की ओर एकटक दृष्टि से देखा करती है। सनयातसेन का प्रयत्न सफल हुआ, उनका स्वप्न पूरा हुआ, चीन स्वतन्त्र हो गया।

[८]

उद्बुद्ध भारत

जॉन स्टुर्ट मिल के शब्दो में यही कहा जा सकता है कि अंग्रेजो ने भारतवासियों को 'मनुष्य रूप में जानवर' समझ लिया था। वे जिस देश पर शासन करते है उसके हित-अनहित का कुछ भी खयाल नही करते। अंग्रेजी राज्य मे भारतवर्ष दरिद्रों का देश बन गया। आधी कृषक जनता साल भर तक कठोर परिश्रम करने पर भी नहीं जानती कि पेट भरकर किस प्रकार भोजन किया जाता है। देश की भूमि अभी भी उपजाऊ है, देश मे अभी भी वे ही नदियाँ बहती है जिन के जल से सारा देश सींचा जाकर शस्य-श्यामल बनाया जाता था; सब कुछ वही है फिर भी दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। दरिद्रता का एक मात्र कारण अंग्रेजी शासन है।

अंग्रेजी राज्य में टैक्स बहुत अधिक बढ़ा दिये गये, भारतवर्ष के कला-कौशल का जबर्दस्ती नाश कर दिया गया। गवर्नमेंट के खर्च के लिए करोड़ो रुपये ले लिये जाते हैं। इतना ही नहीं, भारतवासियो को सदा अशिक्षित और परतन्त्र बनाये रखने का सतत प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए गांधीजी ने अंग्रेजी राज्य का नाम 'शैतानी राज्य' दिया है। इससे किस प्रकार से छुटकारा पाया जाय ?

रूस में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था, लोग तड़प-तड़पकर मर रहे थे। उनकी सहायता करने के लिए कुछ आदमी अन्न-वस्त्र बाँट रहे थे। लेनिन ने उस समय कहा था—"इससे नहीं चलेगा। लोगों को तड़प-तड़पकर मरने दो। वे जितने ही सताये जायँगे उनकी आंखे उतनी ही जल्दी खुलेंगी।" वास्तव मे लेनिन का कथन बिल्कुल सत्य है। महात्माजी ने भी एक बार कुछ ऐसा कहा था—'साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचकर मुझे विष दे मार डालना चाहते हैं तो मुझे कुछ भी चिंता नहीं है। जिस दिन वह बात होगी मैं समझ लूँगा कि अंग्रेज़ी साम्राज्य-वाद का अन्त हो गया।' भारतवासियों ने अंग्रेजों के लिए अपना ख़ून बहाया था; उसके उपहार में उन्हे ६ अप्रैल १९१९ को रौलट ऐक्ट बनाकर दे दिया गया। यह क़ानून भारतवासियों की सभी प्रकार की स्वतंत्रता कुचल डालने के लिए पास किया गया था। लोगो ने इसका विरोध किया और उसके उपलक्ष में मातम मनाया। सारे देश में आन्दोलन चलने लगा। गान्धीजी ने लोगो को उसका विरोध अहिंसात्मक रीति से करने के लिए कहा। फिर भी अहमदाबाद, बम्बई, वीरमगांव, दिल्ली और कलकत्ता मे बलवे हो गये। जहाँ पर लोगो ने अधिकारियों के रोकने पर भी सभाएँ की वहाँ गोलियाँ चला दी गई। अमृतसर में सभा करने की मनाही कर दी गई थी फिर भी लोगों ने १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग़ में सभा की। फिर क्या था, जेनरल डायर ने निहत्थे लोगों को मारने में अपनी सारी गोलियाँ खतम कर दी। इतना ही नहीं, जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड के बाद

पंजाब के वे दिन !

पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया। पुरुषो और स्त्रियों को खुलेआम नंगा कर बेत लगाये गये। विद्यार्थियो को सोलह-सोलह मील तक रोज़ चलकर युनियन जैक के सामने सिर झुकाना पड़ता था। पांच-सात वर्ष के छोटे-छोटे बच्चे भी इस प्रकार से सिर झुकाने के लिए बाध्य किये गये। प्रतिष्ठित लोगो तक को छाती के बल कुछ ख़ास गलियो में चलने के लिए मजबूर किया गया। भारतवासियों को अंग्रेजो की सहायता करने के उपलक्ष्य मे यही अपमान इनाम दिया गया था। भारतवर्ष की दृष्टि से यह बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। यदि भारतवासियो को दबाने के लिए रौलट ऐक्ट नहीं पास हुआ होता और जलियाँवाला बाग़ मे पांच सौ आदमी मरे और पन्द्रह सौ घायल नही हुए होते तो भारतवर्ष में वैसी जागृति नहीं हुई होती। भारतवर्ष को जागृत करने का यदि किसी को वास्तविक श्रेय है तो वह डायर-जैसे अंग्रेज अधिकारियो को ही है। यदि जलियाँवाला बाग़ जैसे और भी थोड़े-से काण्ड हो जाते तो भारतवर्ष और भी अधिक जागृत हो जाता।

भारतवर्ष की जमीन कम उपजाऊ नही है फिर भी यहाँ के लोगो को भूखो मरना पड़ता है। यह स्वाभाविक है कि जब-

रोटी का सवाल

तक पेट का प्रश्न नही आता, जनता जागृत नही होती। अंग्रेजो के अत्यधिक अत्याचार, विश्वासघात और ज्यादती के सिवा अन्न की कमी भी भारतीय जागृति का एक कारण है। अभीतक जागृति इने-गिने आदमियो मे ही थी। उन थोड़े से लोगों का खयाल था कि कांग्रेस के अवसर पर साल मे एक बार सभी नेता इकट्ठे होकर खूब

ज़ोरों से व्याख्यान दें और किसी प्रकार से उस व्याख्यान की आवाज़ समाचार-पत्रों द्वारा इंग्लैंड तक पहुँच जाय तो देश की सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। इस समय से लोगों ने समझा कि अंग्रेजों के दान-द्वारा भारतवर्ष स्वतंत्र नहीं बनाया जा सकता। कोई भी देश भिक्षा माँगकर कभी स्वतंत्र नहीं हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए लड़ाइयाँ लड़नी होती है। उस लड़ाई मे उन्हे अपने प्रतिद्वंद्वी को परास्त करना होता है। इस समय नेताओं का विश्वास व्याख्यान देने और समाचार-पत्रो में जोशीले लेख लिखने से उठ गया। अब वे वास्तविक कार्य की ओर झुके।

महात्मा गांधीजी ने इसी समय जनता के महत्व को समझा। उन्हें अनुभव हुआ कि जबतक जनता में जागृति नहीं होगी तबतक देश स्वतन्त्र नही हो सकता। उन्होंने कोपीन धारण किया और घूम-घूमकर लोगो को जागृत करने का काम आरम्भ किया। उन्होने लोगो को सिखलाया कि अंग्रेजी साम्राज्य मुट्ठीभर अंग्रेजों के ही ऊपर अवलम्बित नहीं है; उसकी नींव हम भारतीय ही हैं। रेल, तार, सेना, न्याय सभी कार्य उनकी ओर से भारतीय ही चलाते हैं। यदि वे ही अंग्रेज़ी सरकार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करलें तो फिर क्या अंग्रेज़ी साम्राज्य एक दिन भी टिक सकता है?

तिलक ने कांग्रेस मे क्रान्ति का बीज पहले ही बो दिया था। उन्होंने लोगों को समझा दिया था कि अंग्रेजों के हाथों से स्वराज्य प्राप्त करने का विचार हमें छोड़ देना चाहिए। अंग्रेज़ हमारे सहायक नहीं हो सकते। गांधीजी ने तिलक के मरते समय उनसे देश में असहयोग जारी करने की राय ली। तिलक

ने कहा कि रास्ता तो बहुत ही उपयुक्त है परन्तु देश उसके लिए तैयार नही है । गान्धीजी को पूरा विश्वास था । उन्होने १९२० के सितम्बर मे भारतीय महासभा के कलकत्ते वाले विशेष अधिवेशन मे असहयोग का प्रस्ताव पेश कर पास करा लिया । दिसम्बर के महीने मे नागपुर-कांग्रेस ने भी वह प्रस्ताव पास कर दिया ।

असहयोग

यहाँ पर यह प्रश्न आपसे आप उठ खड़ा होता है कि असहयोग आन्दोलन कहीं कायरता को तो नहीं सूचित करता ? यदि हमारे पास काफी शक्ति नहीं है, हम अपने शत्रु के आक्रमण को रोक नही सकते और वैसी अवस्था में कहें कि शत्रु को माफ कर दिया तो वह कायरता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता । परन्तु शक्ति केवल अस्त्र-शस्त्र की ही शक्ति नहीं होती । असहयोग के सिद्धान्त में एक महान् शक्ति और उद्देश छिपा है । स्वयं इस आन्दोलन के प्रवर्तक गांधी जी का ही कहना है कि यदि शत्रु के खिलाफ हमारे भीतर क्रोध हो और केवल डर के ही कारण हम शत्रु से बदला लेने मे असमर्थ हो तो असहयोग का अस्त्र हमारे लिए नही है । हमे शत्रु को क्षमा करना है परन्तु डर कर नहीं । अपने भीतर यदि यह सोचे कि हम डरके मारे चुप हो रहे है और उसे क्षमा करना कह रहे हैं तो उस प्रकार की झूठी क्षमा करने की अपेक्षा शत्रु के साथ लड़ाई में कटकर मर जाना कहीं अच्छा है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग, भय करनेवाले और कमजोर लोगो का नहीं परन्तु निर्भीक और अधिक से अधिक मजबूत लोगों का अस्त्र है ।

लोगों ने गाँधी जी की आवाज़ सुनी। अनेक विद्यार्थियो ने अंग्रेजी स्कूल-कालेजो में पढ़ने की अपेक्षा सड़कों पर पत्थर तोड़ते रहना भी अधिक श्रेयस्कर समझा। उन लोगों ने सरकारी विद्यालयों का नाम ही गुलामखाना रख दिया था। जो विद्यार्थी अपने मात-पिता के दबाव से सरकारी स्कूल-कालेजों में पढ़ते थे उन्हे बड़ी ही लज्जा मालूम पड़ती थी। तुरन्त ही राष्ट्रीय स्कूल-कालेज स्थापित होने लगे और सरकारी विद्यालयो से निकले हुए विद्यार्थी इन राष्ट्रीय विद्यालयों मे पढ़ने लगे। माता-पिताओं को अपने लड़कों के भविष्य की चिन्ता रहती थी। वे सोचते थे कि असहयोग एक लहर है; उसके चले जाने पर अवस्था पूर्ववत हो जायगी वैसी अवस्था मे लड़को का जीवन नष्ट होगा, परन्तु युवाओं का उमंग भविष्य की चिंता नही किया करता। कितने विद्यार्थियों ने माता-पिता की सरकारी विद्यालयो के छोड़ने की अनुमति न मिलने पर घर ही छोड़ दिया था। उन लोगों मे स्वाभिमान, आत्म-सम्मान और स्लावलम्बन के भावों का संचार हो रहा था। भारतवर्ष के विद्यार्थियो को राष्ट्रीय शिक्षा नहीं मिली थी, फिर भी वे राजनैतिक मामलो मे काफी दिलचस्पी लेते थे। असहयोग के समय जितनी सभाएँ होती थीं उनका प्रबन्ध अधिकतर विद्यार्थी ही किया करते थे।

विद्यार्थियों का असहयोग

राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थियो का जनता विशेष आदर किया करती थी। वह समझती थी कि उन लड़कों ने बुरी आदतें अवश्य ही छोड़ दी होंगी। असहयोग-आन्दोलन ने वास्तव में विद्यार्थियों के नैतिक जीवन में बहुत सुधार किया था।

इस समय अनेक विद्यार्थियों की बुरी आदतें छूट गई थीं। कितने कार्यों के विषय में वे कहने लगे थे कि अमुक कार्य के करने मे हमारी अन्तरात्मा गवाही नहीं देती। 'अन्तरात्मा की आवाज' का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि आगे चलकर विद्यार्थी एक दूसरे को यही कहकर चिढ़ाने लगे थे।

असहयोग-आन्दोलन के कारण मादक वस्तुओं के निषेध का भी काम आगे बढ़ा। विदेशी वस्तुओ को भी लोग कम करना चाहते थे। इसलिए विदेशी कपड़ो के साथ-साथ ताड़ी, शराब आदि की दूकानों पर लोग सत्याग्रह किया करते थे। इस प्रकार के सत्याग्रहों में विद्यार्थी ही अधिकतर भाग लिया करते थे। कभी-कभी उन लोगों पर पुलिसवाले तथा अन्य गुंडे मारने के लिए टूट पड़ते थे फिर भी वे उन लोगो की परवा नहीं करते थे। एक बार मार खा लेने पर उनका उत्साह और भी अधिक बढ़ जाता था।

स्कूल-कालेजो से निकल आने पर जिन विद्यार्थियो का घर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था वे 'गांधी-आश्रम,' 'तिलक-स्वराज्य-संघ' 'सत्याश्रम' 'सेवा सदन' अथवा अन्य नाम इसी प्रकार के रखकर अपना आश्रम बना लेते थे। बिहार प्रांत में ऐसे आश्रमों का कार्य मुठिया से चलता था। गांव के प्रत्येक घर मे जब भोजन बनने जाता था उस समय उस भोजन में से एक मुट्ठी अन्न निकाल दिया जाता था। सप्ताह में एक दिन जाकर वही अन्न एकत्र कर विद्यार्थी ले आते थे और उससे अपनी जीविका चलाते थे। वे पढ़े-लिखे विद्यार्थी गांववालों के अन्न दान के बदले उनके लड़को को पढ़ा दिया करते थे। गांव के

लड़कों के लिए वैसे गुरुजी बड़े ही अच्छे मालूम पड़ते थे क्योंकि वे उन्हें पीटकर नहीं परन्तु प्यार से पढ़ाया करते थे। पुराने विचार के गुरु जी लोगों की तरह बात-बात में उनकी खबर नहीं लिया करते थे। इस प्रकार से पढ़ानेवाले विद्यार्थी अधिकतर बड़े घरों के ही लड़के होते थे इसलिए गाँवों के लोग इन्हें भिक्षुक न समझकर परोपकारी समझते थे; उन्हें वे अपने पुत्रों के जैसा ही मानते थे।

इस समय बहुत से, वैसे लोग, जो पहले खेती करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे, सरकारी नौकरियाँ छोड़ खेती करने लगे। पढ़े-लिखे आदमी, जो शहर भी नहीं छोड़ना चाहते थे, इस समय गांवों में जा-जाकर लोगों मे असहयोग के सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। देश के कई नामी वकील-बैरिस्टरों ने भी अपना पेशा छोड़ दिया।

अभी तक अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग देहाती लोगों से मिलना नहीं चाहते थे। उन्हें वे इतना मूर्ख समझते थे कि उनसे बातें तक नहीं करते थे। असहयोग ने लोगो के जीवन में सादगी ला दी, पढ़े-लिखे आदमी गाँवों मे जाकर प्रचार का काम करने लगे इसलिए जनता भी जागृत होने लगी।

देहात की ओर

वह भी अब समझने लगी कि उसका वास्तविक शत्रु कौन है? गांधीजी का नाम गाँव-गाँव में फैल गया। जो लोग गाँवों में प्रचार करने जाते थे उन्हें गाँववाले गाँधीजी का चेला समझते थे, उनसे वे दिल खोलकर सभी प्रकार की बातें करते थे और उनका सत्कार करते थे। इस समय विदेशी लिबास में सज-धजकर चलनेवालों की पूछ नहीं होती थी।

खादी पहनने वालों की लोग इज्जत करते थे। उनके ऊपर लोगों का इतना विश्वास जम गया था कि साधारण जनता समझने लगी थी कि जितने खादी पहननेवाले होते हैं सभी त्यागी, सत्य बोलनेवाले और सच्चरित्र होते है। देहातों मे वहुत अधिक पर्दा रहने पर भी कांग्रेस का काम करनेवाले नवयुवकों को लोग अपने घरों में खिलाते थे। देहातों के लोग यही समझते थे कि आजकल में ही गांधी जी भारतवर्ष के राजा हो जानेवाले हैं। कितने देहातवाले प्रचारको की बातो को बढ़ाकर आपस के लोगों से कहते थे—'सरकार बहादुर कै राज उठ गवा। चिलमफोर साहेब (ला० चेम्सफोर्ड, तत्कालीन गवर्नर जेनरल) कै तो गांधीबाबा भगाय दिहन, अब तो गाँधीबाबा राजा होय चैन है।' दिहात के लोग पूजा अथवा मनौती मान कर ही किसी के प्रति अपनी सबसे अधिक श्रद्धा का भाव प्रकट करते हैं। गांधीजी की पूजा कितने गांवों में चल पड़ी थी और कितने उनके नाम पर मनौती भी मनाने लगे थे।

कांग्रेस का संगठन जिस प्रकार से आरम्भ हुआ था यदि वह चल जाता तो वास्तव में अंग्रेजी राज्य अधिक दिनों तक नही टिकता। भारतीय सरकार का जाल जिस प्रकार से बिछा है कांग्रेस का जाल भी वैसा ही बिछ गया था। प्रत्येक गांव में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने पंचायत क़ायम कर दी थी। बड़े-बड़े गांवों में ग्राम्य कांग्रेस कमेटी स्थापित हो गई थी। कई

कांग्रेस का विस्तार

ग्राम्य कांग्रेस-कमेटियां मिलकर एक थाना [illegible] कांग्रेस-कमे-टियां मिल कर [illegible] । एक-

एक प्रान्त की सभी जिला कांग्रेस-कमेटियाँ अपने सदस्यों को चुनकर प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी में भेजती थी। प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों से चुनकर लोग अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस-कमेटी में जाने लगे। यही सबसे बड़ी संस्था थी। लोग अपने झगड़ों का फैसला गाँव की पंचायतों से ही करा लेते थे। असहयोग के जमाने में किसी-किसी स्थान पर खून के मुक़द्मे भी पंचायती सरकार द्वारा ही फैसला होने लगे थे। कांग्रेस अंग्रेजी सरकार की प्रतिद्वंद्वी सरकार बन रही थी। यदि इसी सरकार पर लोगों का पूर्ण विश्वास रह जाता तो अंग्रेजी सरकार को कुछ काम ही नहीं मिलता। अंग्रेज़ी सरकार की सारी शक्ति आपसे आप राष्ट्रीय सरकार के हाथों में आ जाती। अंग्रेजी राज्य भारतवर्ष से उठ जाता। १९२१ में अंग्रेजी राज्य के बन्धनों से मुक्त होने के लिए देश का यह एक बहुत बड़ा प्रयत्न था।

बहिष्कार

आर्थिक परतंत्रता दूर करने का भी एक बहुत ही उपयुक्त साधन निकल आया। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार बड़े जोरों से आरम्भ हुआ। असहयोग जिस समय अपनी उन्नति की सीमा पर पहुँच रहा था महात्मा गान्धी ने बम्बई में विदेशी कपड़ों की होली जलाई थी। लोगों ने उत्साह के साथ बहुत से बहुमूल्य विदेशी कपड़े जलाने के लिए दे दिये थे। देश के प्रत्येक भाग में जहाँ-कहीं कांग्रेस की ओर से सार्वजनिक सभा की जाती थी उन सभाओं में विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाती थी। कपड़ों का जलाना अंग्रेजों के आर्थिक साम्राज्यवाद पर बहुत बड़ा धक्का लगाना था। १९२१ में अंग्रेज़ी तैयार कपड़ों का आना पचीस प्रतिशत

कम हो गया था। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करना अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए कितना बड़ा आघात था यह १९२८ के व्यापारिक चिट्ठे पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा। उस साल एक अरब तेरह करोड़ का माल ग्रेटब्रिटेन से यहाँ आया था और ६९ करोड़ का कच्चा माल यहाँ से वहाँ पर भेजा गया था। यदि भारतवर्ष स्वतंत्र होता तो अपने यहाँ की कलाकौशल मे वृद्धि करके वह साल मे चौआलिस करोड़ रुपये विदेश जाने से बहुत ही आसानी से बचा सकता था। इंग्लैंड से आनेवाली चीजों में मुख्य रुई के कपड़े, वर्तन, मशीन, मोटर साइकिल आदि गाड़ियाँ, शराब और रबर था। विदेश से जितनी चीजें आईं उनमे आधे से अधिक क़ीमत के केवल रुई के कपड़े ही आये। जब राजनैतिक शक्ति अपने अधिकार मे नहीं है वैसे समय मे विदेशी कपड़ो का ही केवल बहिष्कार कर देने से भारतवर्ष का बहुत-सा धन विदेश जाने से बच जा सकता है, यह सोचकर ही यह बहिष्कार किया गया था।

महात्मा गांधी ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि बहिष्कार खद्दर के द्वारा ही सफल बनाया जा सकता है।

चरखा और खादी

असहयोग के समय से ही कपड़ो की कमी दूर करने के लिए खद्दर बुना जाने लगा। १९२१ के कुछ ही महीनो मे लगभग दो लाख नये करघे चलने लगे। स्कूल-कालेजो के विद्यार्थी पढ़ना-लिखना छोड़कर गाँवों में जा-जाकर लोगो से चरखा कतवाने और कपड़ा बुनवाने लगे। टूटे हुए चरखो पर की, जो विदेशी एवं मिल के कपड़ों के आजाने के कारण घर के किसी कोने मे फेक दिये गये थे. इस

समय धूल झाड़ी जाने लगी और उनकी मरम्मत कराई जाने लगी। गांधीजी सारे देश में घूम-घूम कर असहयोग के कार्य का, विशेष कर खद्दर को, प्रोत्साहित करने लगे। उन्होने चर्खा चलाने के लिए छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोगों को प्रोत्साहन दिया। बड़े घरों की स्त्रियों से वे कहा करते—"सीता भी चर्खा चलाती थी तभी रामराज्य का होना सम्भव हुआ था। यह भले बात ही रही हो कि उसका चरखा सोने का रहा हो, फिर भी वह चर्खा ही था। तुम लोग भी यदि चाहती हो कि भारतवर्ष में फिर से रामराज्य के दिन लौटें तो चरखा चलाओ। देश को बचाने का सबसे बड़ा साधन चर्खा ही है। उसका एक-एक तार इंग्लैंड के लिए एक-एक बम का गोला है।" बड़े घरों में भी चरखे चलने लगे। खादी पहनना अब निर्धनता सूचित नहीं करता था परन्तु देशभक्ति और स्वार्थ-त्याग प्रगट करता था। खादी की उत्पत्ति और उसका प्रचार दिन-दिन बढ़ता गया।

असहयोग-आन्दोलन ने गाँव-गाँव में चरखा चलवा दिया। यह केवल भारतवर्ष ही नहीं परन्तु सारे संसार को भलाई के लिए एक महान् अस्त्र है। कार्लमार्क्स का सिद्धांत जहाँ पर खतम होता है चर्खे का सिद्धान्त उसकी कमी पूरी करने के लिए वहा से आरम्भ होता है। कार्लमार्क्स ने कोई वैसा पथ नहीं बतलाया जिसपर चलने से मनुष्य-मात्र की उन्नति हो; वह दिन-दिन खून-खराबी से हटकर शांति की ओर बढ़ता जाय। उनके रास्ते में भी खून-ख़राबी है। चरखा ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्य-समाज के भीतर शांति तथा सुख स्थायी रूप

से बनाये रख सकता है। मनुष्य-समाज की शांति तथा सुख स्थायी रखने के लिए उत्पत्ति का केन्द्रीभूत न होने देना अत्यन्त आवश्यक है। चरखे से उत्पत्ति केन्द्रीभूत नही होती। कोई आदमी उससे यदि आज सारे दिन मे दो आने कमा सकता है तो कल दूसरों का छीनकर दो रुपया किसी भी हालत में नही कमा सकेगा। साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए कार्लमार्क्स के अस्त्र की अपेक्षा चरखे का अस्त्र अधिक शक्तिशाली है।

इसी समय अपने दुःखो को दूर करने के लिए मजदूरो ने झरिया में मजदूरों की कांग्रेस की। कारखानों के मालिक उनके सख्त खिलाफ थे, उनके पास सेना और पुलिस का भी बल था फिर भी मजदूरो ने कुछ परवा नही की। इस कांग्रेस में भिन्न-भिन्न मजदूर-संघों के चार सौ सदस्य इकठ्ठे हुए और बीस हजार के लगभग दर्शक के रूप में गये थे। मजदूरों ने उस स्थान पर केवल आर्थिक मामलो पर--अपनी मजदूरी बढ़ाने, काम के घंटे कम करने आदि मामलों पर ही विचार नही किया परन्तु सबो ने एकमत से स्वराज्य-आन्दोलन आगे बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया।

मजदूर और किसान

अभी तक मजदूर और किसान धनीवर्ग-द्वारा दबाये जा रहे थे। मजदूरों और किसानो ने अभी उनका विरोध नही किया था परन्तु इस समय से वे अपनी अधिकार-प्राप्ति की चेष्टा करने लगे। इस समय तक सारे भारतवर्ष मे लगभग तीन हजार कारखाने स्थापित हो चुके थे। कारखानो में काम करने-वाले मजदूरों की अवस्था बहुत खराब थी। वहाँ पर काम करनेवाली स्त्रियो को मजबूर होकर अपने बच्चो को अफीम

खिलाकर काम पर जाना पड़ता था। बम्बई में ही इस प्रकार से चौसठ प्रतिशत बच्चे मर जाते थे। यह काम अभी तक जारी है। इन कारणों से मज़दूरो में असंतोष होना स्वाभाविक ही था। काम के घंटे कम करने, मजदूरी बढ़ाने और अपने साथ अच्छा व्यवहार कराने के लिए मजदूर हड़ताल करने लगे। रेलवे, जूट, रूई, कोयले आदि के कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरों ने अपना एक संगठित संघ बना लिया। प्रांत भर के इस प्रकार के संघ एक सूत्र मे बँध जाने लगे। सभी प्रांतीय व्यवसायी संघो का मिलकर एक अखिल भारतीय व्यवसायी संघ स्थापित हुआ। एक साथ संगठित होकर अपनी अवस्था में सुधार करने के लिए सारे देश के मज़दूरों मे आन्दोलन चल पड़ा।

देहातो के किसान भी जागृत हो गये थे। वे किसान-सभाएँ क़ायम करने लगे। इनका अधिक प्रभाव संयुक्तप्रांत और बिहार में था। टैक्सों का बढ़ जाना, अनुपयुक्त कर लगना और ज़मींदारों के बेगार आदि पर इनको खास आपत्ति थी। रायबरेली के किसानों ने विद्रोह किया। १९२० मे इनकी अवध में ही एक सभा हुई जिसमे पच्चीस हज़ार आदमियों ने भाग लिया था। इसी से हम लोग अनुमान कर सकते है कि वे कितनी शीघ्रता से जागृत होते जा रहे है।

किसान और मज़दूरों मे शिक्षा का अभाव था इसलिए उनका नेतृत्व पढ़े-लिखे लोगों ने ही ग्रहण किया। असहयोग-आन्दोलन के कारण शिक्षित और अशिक्षितों के एकसाथ मिलने से उनका संगठन बहुत मज़बूत हो गया। अब किसान

भी समझने लगे थे कि भारतवर्ष की दुरावस्था अंग्रेजी राज्य के ही कारण है; अंग्रेजों की व्यापारिक नीति के ही कारण देश में अकाल, बीमारी, दुःख और अधिक संख्या मे मृत्यु का प्रादुर्भाव हुआ है इसलिए वे भी राजनैतिक स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा करने लगे।

तिलक-स्वराज्य कोष

स्वतंत्रता की लड़ाई भली-भांति चलाई जा सके इसलिए तिलक स्वराज्य-फंड के नाम से एक करोड़ रुपया इकट्ठा किया गया। राजनीति मे भाग लेनेवाले थोड़े से मध्यम वर्ग ने ही यह चंदा नहीं दिया वरन् भारतवर्ष के सभी वर्ग—व्यापारी, जमींदार, नौकरी करनेवाले और अशिक्षित किसानो ने भी दिया था। विहार मे नीचवर्ग के मोची,चमार आदि ने अपनी एक-एक दिन की मजदूरी इस चंदे मे दे दी थी। इससे मालूम पड़ता था कि भारतवर्ष के सभी वर्ग अंग्रेजी साम्राज्य से छुटकारा पाने के लिए एक सूत्र में वँध गये हैं। जमींदार वर्ग इस समय वहुत भयभीत हो गया था। उसे विश्वास हो गया था कि अब स्वराज्य मिल जाने मे अधिक देर नहीं है। स्वराज्य मिल जाने पर राज्याधिकार कांग्रेसवालो के ही हाथ में रहेगा, इस भय से उनमें से बहुत लोग कांग्रेसवालो को अपना नाम न वतलाने का वादा कराकर चंदा दे देते थे।

इसके पहले कांग्रेस का नाम देहातों में नहीं फैला था। गांधीजी के नाम के साथ-साथ कांग्रेस का नाम भी सुदूर देहातो में फैल गया था। कितने देहातो मे कांग्रेस देवी की पूजा चल पड़ी थी। कांग्रेस के सदस्य इसके पूर्व वहुत ही कम थे पर इस समय उनकी संख्या लाखो में थी।

अंग्रेजों के खिलाफ इस समय जैसा भाव था वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। प्रिंस ऑव् वेल्स १७ नवम्बर १९२१ को बम्बई उतरे। उस दिन सारे देश मे हड़ताल मनाकर उनके स्वागत का विरोध किया गया। बाजारों में जहाँ सदा ही चहल-पहल मची रहती थी वहाँ उस दिन बिल्कुल सन्नाटा छा गया। अधिकारियों को इससे बहुत भय हुआ। भारतवर्ष के बहिष्कार के आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही समान रूप से भाग लेते थे। परिस्थिति भयानक देखकर तत्कालीन गवर्नर-जेनरल लार्ड रीडिंग ने इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान-मंत्री लायड जार्ज को तार दिया कि तुर्की के साथ लड़ाई न छेड़ी जाय।

आन्दोलन दबाने के लिए भारतवर्ष में दमन की नीति जारी की गई। काँग्रेस के प्रमुख नेता जेल भेजे जाने लगे। भारतवर्ष का कोई भी शहर ऐसा नहीं बचा जहाँ के लोग जेल न भेजे गये हों। १९२१ का साल लोगों को जेल भेजने में ही बीता। कलकत्ते की जेलों के स्थान नहीं रह गया तब गोदामों में क़ैदी रखे जाने लगे। देश के बड़े-बड़े नेता—लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, भगवान्दास, चित्तरंजनदास आदि जेल में रखे जा रहे थे। स्त्रियों में बासन्ती देवी, सुनीति देवी आदि भी कारावास के दंड से वंचित नहीं रखी गई। फिर दूसरे लोगो को जेल जाने में अपमान का खयाल क्योंकर हो सकता था? जेल जाने के लिए अधिकाधिक लोग तैयार होते जा रहे थे। जेल जानेवालो का जनता आदर किया करती थी; वे देशभक्त समझे जाते थे, जेल जाना एक खेल वन गया था।।कितने युवक जेल मे अपने साथ कम्बल भी लेते जाते थे

दमन

जिसमें अधिकारियों को असहयोगियों के लिए बहुत से कम्बल इकट्ठे करने का कष्ट न करना पड़े। असहयोग के समय प्रत्येक गाँव, प्रत्येक शहर में आये दिन सभाएँ हुआ करती थीं। सभाओं में राष्ट्रीय गीत गाये जाते, वदेशी कपड़े जलाये जाते और जोशीले व्याख्यान हुआ करते थे। अंग्रेजी सरकार के खिलाफ़ चूँ भी करना जहाँ पहले असम्भव समझा जाता था वहीं पर उसे 'शैतानी सरकार' 'रावणराज्य' आदि खुलेआम कहा जाने लगा। इस प्रकार के व्याख्यान देने वालो को सरकार कैद करती थी परन्तु उससे उनका प्रचार करना नहीं रुकता था। इस समय भारतवर्ष का प्रत्येक गांव जागृत मालूम पड़ता था। १९२१ के जून मे सरकारी कौंसिल, स्कूल, कालेज तथा विदेशी कपड़ो के वहिष्कार करने का प्रचार करते हुए गांधी जी ने लोगों को विश्वास दिलाया था कि यदि उनकी बातों को सब लोगों ने ठीक तरह से समझा और उसके अनुसार आचरण किया तो एक साल के भीतर ही स्वराज्य मिल जायगा। बहुत से लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया था कि एक साल के भीतर स्वराज्य मिल ही जायगा इसलिए और भी अधिक उत्साह से लोग असहयोग के सिद्धान्तों को काम में लाते थे।

असहयोग स्वराज्य-प्राप्ति का एक साधन था। वह एक प्रकार का आत्म-त्याग था जिसके बिना कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। इसी समय वारडोली में गांधी जी ने सत्याग्रह आरम्भ करना चाहा। गांधी जी असहयोग के सिद्धान्त में अहिंसा को बहुत ऊँचा स्थान देते थे: उनमें इतनी शक्ति है कि यदि उनपर कोई प्रहार करे तो वे उसे हँसते हुए क्षमा कर देंगे परन्तु साधा-

रण जनता मे इतनी शक्ति नहीं है और होना असम्भव-सा ही है। जनता प्रहार होने पर चुप बैठे रहना कायरता समझती है फिर भी गांधीजी की आज्ञा के कारण जनता ने अपने को बहुत रोका परन्तु अन्त में नहीं रोक सकी। चौरी-चौरा में पुलिसवालो के अत्याचार से पीड़ित होकर लोगो ने वहाँ का थाना जला दिया। और वहाँ के दारोगा और कई सिपाहियो को भी जला दिया। गांधी जी ने इसे बहुत ही भयानक कांड समझा। उन्होंने बारडोली में सत्याग्रह करने का विचार छोड़ दिया। सत्याग्रह के लिए अभी और भी तैयारी करने की आवश्यकता थी। बारडोली में सत्याग्रह करने के लिए प्रस्तुत हो जाने पर भी गांधीजी एकब-एक रुक गये।

गाधी जी की गिरफ्तारी

१० मार्च १९२२ को गांधीजी भी गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हे छः वर्ष की सजा दे दी गई। उनके जेल चले जाने पर जनता का उत्साह पूर्ववत् ही रहा परन्तु शिक्षित समुदाय, ख़ासकर बड़े-बड़े नेता, अधीर होने लगे। बड़े-बड़े नेता कौंसिल-बहिष्कार के विरोधी पहले से ही थे। १९२० में कलकत्ता के अधिवेशन में जब कौंसिलों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव गांधीजी ने उपस्थित किया, उस समय बड़े-बड़े नेता इसके विरोधी थे परन्तु महात्मा जी के व्यक्तित्व के सामने किसी की भी नही चली। उन लोगों ने कांग्रेस मे ही उसका विरोध किया होता परन्तु उन्हे विश्वास था कि उस समय उनकी कुछ भी नही चलेगी। उस समय गांधीजी जैसा चाहते वैसा ही हो जाता। प्रस्ताव पास हो जाने पर भारतवर्ष के लगभग सभी कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने कौसिलों का बहिष्कार

किया। गांधीजी के जेल चले जाने पर कौंसिल के पक्ष वाले नेताओं को अपनी बातें मनवा लेने में सुविधा हो गई। उन लोगों ने लोगों को समझाना शुरू किया कि हम लोगो ने कौंसिलों का बहिष्कार किया फिर भी वहांपर बहुत ही कम स्थान ख़ाली रहे। हम कांग्रेस दल के लोग कौंसिलो मे नही गये इसी का परिणाम हुआ है कि कर बहुत अधिक बढ़ा दिये गये हैं, सरकार ने दमन का ऐसा चक्र चलाया है जैसा पहले कभी नही चला था। भारतवर्ष के तीस हज़ार युवक जिनमे गांधीजी, देशबन्धु, मोतीलाल, अलीभाई आदि भी थे जेल में ठेल दिये गये। कौंसिलों के बहिष्कार करने का ही परिणाम है कि सरकार हिन्दू-मुसलमानो के बीच झगड़ा पैदा कर देने मे समर्थ हो गई है!'

गाधी जी जेल में थे उस समय कांग्रेस मे बहुत से ऐसे आदमी थे जो उनके बतलाये हुए मार्ग से एक पग भी अलग नही जाना चाहते थे इसलिए देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू ने अलग स्वराज्य-पार्टी क़ायम की। उन्होंने कौसिलो में जाने और वहाँपर स्वराज्य के लिए झगड़ा करने का विचार पक्का कर लिया। १९२२ कीगया कांग्रेस में उन्होने अपने विचारो को कांग्रेस से मनवाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें असफलता हुई। गया कांग्रेस ने कौसिलो का बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास कर दिया। देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू ने प्रयत्न कर एक अलग स्वराज्य-पार्टी स्थापित की और कांग्रेस से कौसिलो मे जाने की स्वीकृति लेने की चेष्टा करते रहे। १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन किया गया। स्वराज्य-पार्टी

के सदस्य वहाँ अधिक संख्या मे बहुत तैयारी करके पहुँचे। कांग्रेस ने कौंसिलों मे जाने की इजाजत दे दी फिर भी कांग्रेस में परिवर्तन और अपरिवर्तन-वादी दो दल रह ही गये।

मुसलमानो ने असहयोग-आन्दोलन में भाग लिया था। उसका खास कारण ख़िलाफ़त की समस्या थी। उन्हें भारतीय मामलो से अधिक सम्बन्ध नहीं था। यह एक बड़ी ही विचित्र बात हैं कि कई शताब्दियों से भारतवर्ष मे रहते हुए भी उन्होने भारतवर्ष को अपना घर नही माना है। वे अब भी अरब वा तुर्की को जितना प्यार करते है उतना भारतवर्ष को नहीं करते। अंग्रेजी सरकार उनके इस भाव को और भी अधिक बढ़ाया करती है क्योंकि उसकी नीति ही फूट डालकर राज्य करने की रहती है। १९२३ के जुलाई में सैवरे की सन्धि लूसान की सन्धि हो जाने से रद्द हो गई; खिलाफत पर ख़तरा नहीं रह गया। खिलाफत का मसला हल हो जाने पर मुसलमानों ने आन्दोलन में भाग लेना छोड़ दिया।

असहयोग-आन्दोलन एक लहर के समान था। कोई भी लहर स्थायी नहीं रहती। देशव्यापी असहयोग-आन्दोलन भी

ह्रास

दिनदिन शिथिल होता गया। मुसलमान अलग हो गये; कांग्रेस में भी दो दल हो हो गये। विद्यार्थियो का भी जोश जाता रहा। अब वे भविष्य की चिंता करने लगे। कितने यहाँतक समझने लगे कि असहयोग-आन्दोलन ने उनका पढ़ना छुड़ाकर जीवन ही नष्ट कर दिया है। जबतक देश में जोश था उनका सभी बहुत आदर करते थे परन्तु जोश ठंडा हो जाने पर उन्हे कोई भी नहीं पूछता था।

जेल में गाँधीजी के पेट में फोड़ा हो गया। उसका आप्रेशन खतरनाक था। इसलिए ५ फरवरी १९२४ को सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। उनके जेल से छूटने तक आन्दोलन बहुत-कुछ शिथिल हो चुका था। उन्होंने अपने क़ैद होने के समय गड़बड़ी न करने की आज्ञा दे रक्खी थी इसलिए आरम्भ में कहीं पर दंगे नहीं हुए थे। आन्दोलन शिथिल होने पर तो दंगों की सम्भावना ही नहीं थी। जिन लोगों ने विश्वास किया था कि एक वर्ष में ही स्वराज्य हो जायगा और इसी विचार से आन्दोलन में शामिल हुए थे वे लौटने लगे। वे लोग गाँधीजी पर कुपित भी हो गये; उनमे से कितने उन्हें दोष देने लगे।

विद्यार्थियो के लिए भी सरकारी स्कूल-कालेजों में जाने के सिवा दूसरा चारा नही था क्योंकि सरकारी स्कूल-कालेजों में पढ़े-लिखे लोगों की ही फिर से पूछ होने लगी। राष्ट्रीय विद्यालय दिन-दिन टूटने लगे। विद्यार्थियों की संख्या वहाँ उत्तरोत्तर कम ही होती गई। जो पढ़े-लिखे युवक गाँवों मे जाकर काम करने लगे थे वे भी अब लौटने लगे। देहातों मे उनका मन अब अधिक दिनो तक नही लगा। जबतक जोश था टिके रहे फिर लौटकर शहरो में आने लगे।

असहयोग-आन्दोलन बिलकुल दब-सा गया। असहयोग-आन्दोलन असफल हुआ, इसका खास कारण यही था कि इसमे जितने भी राजनैतिक विचार के नेताओं ने भाग लिया था वे सभी अपने अलग विचार रखते थे। उन्होने असहयोग को कुछ समय के लिए अपनाया था। वे उसे भी एक चाल ही समझ रहे थे। असहयोग ही उनके जीवन की सारभूत चीज

नही थी। उसके असफल होने का सबसे बड़ा कारण यही था कि लोगों ने उसे भी एक चाल ही समझ लिया था। यह असहयोग के सिद्धान्तों के बिल्कुल ही प्रतिकूल था। चाल के लिए असहयोग जैसी चीजों का व्यवहार नहीं किया जासकता। वह तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य उसे जीवन का एक अंग मान ले। लोगों ने ऐसा नहीं किया, यही उसके असफल होने का एक मात्र कारण था।

आन्दोलन आया और चला गया परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि उसका प्रभाव भी शेष नही रहा। भारतीय तो गांवो में ही रहनेवाले हैं, उनमे इस आन्दोलन ने जैसी जागृति ला दी वह नष्ट नही हो सकती। अभी कुछ विश्राम लेकर अपना कार्य वह अवश्य ही दिखलायगी। अंग्रेजी पढ़े-लिखों में अधिकांश लोगों का कोई निश्चित विचार नही होता। वे पूर्व अथवा पाश्चात्य ढंग में किसे अपनावें इसी की विवेचना करते रहते है। वे यदि बदल गये तो देश की अधिक हानि नहीं। जनता का जागृत होना ही मुख्य कार्य है। उनकी जागृति से ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद के शीघ्र ध्वंस हो जाने की सम्भावना है।

जेल से छूट आने पर गॉधी जी ने भी अपने थोड़े से पक्के अनुयायियों को साथ लेकर खद्दर और जनता मे जागृति लाने का कार्य आरम्भ किया। १९२४ की बेलगॉव कॉंग्रेस में उन्होंने स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौता कर लिया। कॉंग्रेस में फूट न हो, सब लोग फिर से एक हो जायॅ इसलिए उन्होंने यह भी मान लिया कि कॉंग्रेस की ओर से ही स्वराज्य-पार्टी के लोग

अपना नियम बना, चन्दा इकट्ठा कर कौंसिलों में जाया करें। १९२५ की कानपुर कांग्रेस ने स्वराज्य-पार्टी द्वारा चलाया गया कार्य स्वयं ले लिया। वहाँ यह प्रस्ताव पास हो गया कि देश की भलाई के लिए जो राजनैतिक कार्य आवश्यक हो उन्हे कांग्रेस अपने हाथो मे ले ले और अपनी सारी शक्ति तथा सारा द्रव्य (चरखा-संघ को दिया गया था उसे छोड़कर) उस कार्य के आगे बढ़ाने में खर्च कर दे। कौंसिलों मे जाने का कार्य भी इस समय देश की भलाई के लिए आवश्यक राजनैतिक कार्य समझा गया।

स्वराज-दल

स्वराज्यदल ने देश को स्वतंत्रता के संग्राम मे आगे बढ़ाया या नहीं यह कहना बहुत ही कठिन है। देश को आगे बढ़ाने का एक मात्र उपाय जनता मे जागृति लाना है; इस विषय मे स्वराज्यदल ने बहुत कम सहायता पहुँचाई। फिर भी उसने कई कार्य किये; उसकी सराहना स्वयं गाँधीजी ने की। गाँधीजी की सराहना से प्रोत्साहित होकर स्वराज्यदल अपने को बहुत बड़ा कार्य करने वाला समझने लगा। गाँधी जी को छुड़ाने मे वह अपना बहुत बड़ा हाथ समझता था। गाँधी जी ने असहयोग-आन्दोलन द्वारा लोगो के भीतर अंग्रेजी सरकार का विरोध करने का जो भाव भरा, स्वराज्यदल वाले समझते हैं कि उन्होंने कौंसिलों मे जाकर बंगाल और मध्यप्रांत मे द्वैध शासन तोड़कर और कौंसिलों मे राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति का वायु-मण्डल तैयार करके उसे बहुत दूर तक क़ायम रखा। इतना ही नहीं, वे यह भी समझते हैं कि बारडोली के प्रयत्न के बाद भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में

जो कुछ भी जागृति लाई गई है उसका श्रेय स्वराज्यदल को ही है।

देशबन्धुदास की मृत्यु से स्वराज्यपार्टी का बहुत बड़ा नुकसान हुआ। उनकी मृत्यु के बाद इस दल को कई बार अपनी नीति बदलनी पड़ी। अपनी नीति सदा बदलते रहने में स्वराज्यदल अपनी बुद्धिमानी का परिचय देता है। स्वराजियो को पक्का राजनीतिज्ञ होना ही चाहिए; बिना वैसा हुए वे विजय नहीं पा सकते। राजनीति भी एक प्रकार का जुआ है। जब-तक प्रतिद्वंद्वी अपनी चालें नहीं दिखला देता अपना ध्येय निश्चित करना कठिन है।

आगे चलकर स्वराज्यदल मे भी एक ऐसा दल हो गया जो उससे अलग होकर कौंसिलो मे मंत्रियों का पद स्वीकार करने के लिए भी तैयार हो गया। सरकार ने देश मे फूट डालने के लिए ही १९१९ में द्वैध शासन की प्रथा चलाई थी। उसने शक्ति अपने ही हाथों में रखी थी परन्तु बाहर से दिखलाने के लिए मंत्रियों को अधिकार दे दिये थे। ऐसा होने से वह जनता के आन्दोलन करने पर कह सकती थी कि अब तुम्हारे अपने ही लोगो के हाथ में अधिकार दे दिये गये हैं।

कांग्रेस का उद्देश्य १९२७ की मद्रास कांग्रेस तक कुछ साफ नही था। मद्रास-कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस का उद्देश पूर्णरूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करना है। अंग्रेज अभीतक यही कहते

नेहरू रिपोर्ट

आते थे कि भारतवासियो की एक राय नहीं है, वे क्या चाहते हैं इसे भी साफ़-साफ नही वतला सकते। इसी लांछन को दूर

करने के लिए १९२८ में सर्वदल-सम्मेलन ने पं० मोतीलाल की अध्यक्षता में स्वराज्य का विधान तैयार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इसी वर्ष अगस्त के महीने में उस कमिटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन ने उस रिपोर्ट को मान लिया। कलकत्ता कांग्रेस में भी वह पेश किया गया। वहाँ पर उसका जोरो से विरोध हुआ। विरोधीदल का कहना था कि उस रिपोर्ट को मान लेने से कांग्रेस का उद्देश नीचा हो जाता है। मद्रास कांग्रेस ने अपना उद्देश पूर्ण-स्वतन्त्रता घोषित किया है; वैसी अवस्था में नेहरू कमेटी की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग मानली जायगी तो हम लोग उद्देश-भ्रष्ट हो जायँगे परन्तु मोतीलालजी ने समझाया कि हम लोगों का उद्देश पूर्णस्वतन्त्रता ही है। अभी यदि स्वतन्त्रता की ओर पग बढ़ाने के समय औपनिवेशिक स्वराज्य मिला जा रहा है तो हम उसे क्यों छोड़ दें ? पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने में उससे सहायता मिलेगी। नेहरूजी की बात लोगों ने नहीं सुनी। वे विरोध करते ही रहे परन्तु गाँधीजी ने भी नेहरूजी का ही पक्ष लिया था। गाँधीजी के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण औपनिवे-शिक स्वराज्य का ही प्रस्ताव पास हो गया। पर शर्त यह रही कि एक साल के अन्दर सरकार इस माँग को पूरा न करेगी तो काँग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय की घोषणा कर देगी।

सरकार ने भारतीय सुधारों की जाँच करने तथा नये शासन-सुधार देने के सम्बन्ध में जो (साइमन) कमीशन बनाया था उसका विरोध करने का प्रस्ताव मद्रास कांग्रेस और काशी के सर्वदल-सम्मेलन ने पास किया। व्यवस्थापिका सभा ने भी

लाला लाजपतराय के साइमन कमीशन पर अविश्वास के प्रस्ताव को पास कर दिया और कमीशन के ख़र्च की माँग को भी अस्वीकृत कर दिया ! जहाँ-जहाँ कमीशन के सदस्य गये, लोगों ने काले झंडे लेकर और तख्तियों पर 'साइमन लौट जाओ,' 'साम्राज्यवाद का ध्वंस हो' आदि लिखकर उसका बहिष्कार किया परन्तु सरकार अपनी दमन नीति से बाज नहीं आई। उसने कमीशन का बहिष्कार करनेवाले लोगों पर प्रहार कराये। लाला लाजपतराय की मृत्यु वैसे ही प्रहारों से हुई। भारतवासियों के धन पर सरकार भारतवासियों का हक तो समझती ही नहीं इसीलिए भारतवासियों के कमीशन के ख़र्च देने से इन्कार कर देने पर भी उसने अपनी शक्ति से उसे भारतवर्ष का धन दिया।

भारतवर्ष के हितों का ख़याल रखते हुए उसने विनिमय की दर १९२६ के अगस्त से एक शिलिंग छः पेंस कर दी है। जिस करेंसी कमीशन ने यह दर निश्चित की वह भारत-सचिव के अधीन थी। भारतवर्ष के उत्पत्ति करनेवाले, माल तैयार करने वाले और व्यवसायियों को इससे घाटा होने लगा और विदेशी लोगों का लाभ हुआ। विनिमय की दर बढ़ा देने से भारतवर्ष के मजदूरों पर बहुत असर हुआ। जमशेदपुर और बम्बई के कारख़ानो मे जैसी हड़तालें हुईं वैसी और कभी नहीं हुई थीं। मजदूर पहले से असन्तुष्ट थे ही; विनिमय की दर बढ़ जाने से उनकी अवस्था और भी अधिक शोचनीय हो गई। उनके भीतर खलबली मचती देखकर अंग्रेजी सरकार को रूस के षड्यन्त्र रचने का भय होने लगा, इसीलिए १९२८ मे गवर्नर-जेनरल ने व्यवस्थापिका सभा के अस्वीकृत करने पर भी अपने विशेषा-

धिकार द्वारा 'पब्लिक-सेफ्टी बिल' पास कर दिया। यह बिल भी पूँजीपतियों के फायदे का ही हुआ। साम्यवाद का प्रचार रोकने के बहाने भारतीय मजदूरों को विदेशी सहानुभूति रखनेवाले तथा सलाहकारों से वंचित कर दिया गया। इसका उद्देश केवल विदेश से साम्यवादी विचारवालों को आने देने से रोकना ही नहीं वरन् भारतवर्ष के मज़दूर नेताओं का दमन करना था।

ऊपर लिखा जा चुका है कि कलकत्ता कांग्रेस ने सरकार को एक वर्ष का समय दिया था। इस बीच सरकार ने देश की माँग पर ध्यान नहीं दिया इसलिए ठीक एक वर्ष बाद लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा कर दी और गाँधीजी को सत्याग्रह करने के सम्बन्ध में सर्वाधिकार दे दिया। गाँधीजी ने वाइसराय को इस सम्बन्ध मे पत्र लिखा और अत्यन्त खर्चीली शासन-व्यवस्था की त्रुटियो की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तथा स्वराज्य-सम्बन्धी कुछ शर्तें पेश कीं। वायसराय ने उनकी ओर विशेष ध्यान न दिया। फल-स्वरूप दाँडी-यात्रा एवं १९३० के नमक-सत्याग्रह का आरम्भ हुआ। देखते-देखते सत्याग्रह-आन्दोलन की लपटों ने सारे देश को आत्मसात् कर लिया। सरकार ने दमन की लाठी उठाई। हर तरह की संस्थाएँ गैर-क़ानूनी करार दे दी गईं परन्तु साल के अन्त तक लगभग एक लाख आदमी जेलो में जा चुके थे और सत्याग्रह का जोर घटा नहीं था। विदेशी वस्त्रो, ब्रिटिश माल तथा मादक द्रव्यों का ऐसा बहिष्कार हुआ कि विदेशी, विशेषतः अंग्रेज, व्यापारियो को बड़ा घाटा हुआ; लंकाशायर का व्यवसाय उजड़ने लगा। भारत-सरकार एवं

सत्याग्रह

प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार के बजट में घाटा हुआ। व्यापारियों के यहाँ विदेशी कपड़ा तथा अन्य माल काँग्रेस की मुहर के नीचे बंद पड़ा था। इससे सरकार घबड़ा गई और सर तेजबहादुर सप्रू एवं श्री जयकर के प्रयत्न से सरकार एवं कांग्रेस के बीच अस्थायी सन्धि हुई। इसके अनुसार सब सत्याग्रही क़ैदी छोड़ दिये गये और आर्डिनेन्स हटा लिये गये। कॉंग्रेस ने आन्दोलन स्थगित कर दिया।

इस संधि के फल-स्वरूप महात्मा गाँधी, श्रीमती सरोजनी नायडू एवं पं० मदनमोहन मालवीय गोलमेज-सम्मेलन में शरीक होने लन्दन गये। महात्माजी को कांग्रेस ने अपना एकमात्र प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उधर महात्माजी इंग्लैंड में थे, इधर सरकार ने अपनी दमन की नीति जारी रक्खी। युक्तप्रान्त के किसान, फ़सल की ख़राबी एवं अन्न का दाम गिर जाने से, भूखो मरने लगे और जब काँग्रेस ने लगान की छूट के लिए सरकार को लिखा तो सरकार ने ध्यान न दिया। उलटे कॉंग्रेस पर उन्हे भड़काने का इलजाम लगाया। किसानों की ओर से सत्याग्रह का आयोजन होने लगा। इस समय सरकार ने युक्तप्रान्त, बंगाल एवं सीमाप्रान्त को दबाने के लिए आर्डिनेन्स जारी कर दिया। अन्त में कोई उपाय न देख युक्तप्रान्त मे किसान-सत्याग्रह आरम्भ हुआ।

ऐसे बहुत-से प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि सरकार ने दमन की पूरी तैयारी करली थी। इतना दमन एवं सन्धि के नियमो का भंग होते हुए भी कांग्रेस महात्माजी के आगमन के लिए रुकी थी। महात्माजी के देश में पदार्पण करने

के बाद, एक हफ्ता भी न बीता था कि पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री शेरवानी आदि बम्बई (कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक में) आते समय गिरफ्तार कर लिये गये। बम्बई मे कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसकी सम्मति से महात्माजी ने वायसराय को पत्र लिखा कि मै निष्पक्ष मन से देश की स्थिति का अध्ययन करना और आपसे बातें करना चाहता हूँ पर वायसराय ने ऐसा रूखा उत्तर दिया कि महात्माजी को सत्याग्रह की घोषणा करनी पड़ी। इस वार सारे देश में भयंकर दमन आरम्भ हुआ। जायदादें जब्त को गईं। सब तरह के राष्ट्रीय विचारो की संस्थाओं पर पुलिस ने अधिकार कर लिया और सरकार के पास जितने साधन थे सबका प्रयोग विद्युत् गति से किया।

सरकार ने सोचा था कि आन्दोलन १५ दिन से ज्यादा न चलेगा पर उसकी जड़ गहरी थी। इसलिए डेढ़ वर्ष से अधिक समय तक चलता रहा है। और अब महात्माजी के आत्मशुद्धि के अर्थ किये गये २१ दिन के उपवास के कारण उनके विना शर्त्त छूटने पर ६ सप्ताह के लिए स्थगित हुआ। इस समय गॉधीजी ने सरकार से सहयोग की अपील भी की। पुनः १८ जून को गॉधीजी की तबियत खराब रहने के कारण, उनसे सलाह-मशविरा करने की सुविधा न होने से ३१ जुलाई तक के लिए आन्दोलन स्थगित किया गया। इस बार सरकार की नीति अदूरदर्शितापूर्ण बनी रही। उसने गॉधीजी के सहयोग के भावो का आदर नही किया।

एशिया के और राष्ट्रों के स्वतंत्र रहने के लिए भारतवर्ष का स्वतन्त्र होना अत्यन्त आवश्यक है। एशिया के सभी मामलों की

जड़ में भारतवर्ष ही है। तुर्की, अरब, फारस, अफग़ानिस्तान आदि के मामलों में अंग्रेजों के हस्तक्षेप करने का मुख्य कारण यही था कि वे भारतवर्ष में अपनी जड़ मज़बूत करना चाहते थे। मिश्र को भारतवर्ष के ही कारण ग़ुलाम होना पड़ा। भारतवर्ष जबतक पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं होगा, ये देश स्वतंत्र नहीं रह सकते। महासमर की तरह यदि तुर्की आदि देशों से अंग्रेजों की लड़ाई छिड़ी तो अंग्रेज भारतवर्ष की ही सेना, धन, सामग्री आदि पर निर्भर करेंगे। भारतवर्ष यदि स्वतंत्र हो जाय तो उन देशों के लिए भय नहीं रह जायगा।

पतन

अधीनता में रहने से और देशों की अपेक्षा भारतवर्ष सभी बातो मे पीछे पड़ गया है। शिक्षितों की संख्या नगण्य है। बच्चो की मृत्यु सबसे अधिक यहीं होती है। मनुष्यों की आयु कम से कम इसी देश की है। सामाजिक अवस्था भी बहुत गिरी हुई है। इन सभी बुराइयों को दूर करने का केवल एक ही उपाय है; वह है राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना। रूस ने रास्ता दिखला दिया है। उसने दिखला दिया है कि शिक्षा के अभाव और देश मे फूट रहने से ही कोई देश विदेशी शक्ति के अधीन नहीं रखा जा सकता। अनेक बाधाओं के रहते हुए भी देश स्वतन्त्र हो सकता है। देश जबतक विदेशी लोगो के पंजे से नहीं छूट जाता वहाँ से दरिद्रता, अशिक्षा, सामाजिक कुरीतियाँ दूर नहीं हो सकतीं। दस-पन्द्रह वर्षों मे ही रूस ने कितनी उन्नति करली है? भारतवर्ष भी स्वतन्त्र होकर उतनी ही शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर ले सकता है।

भारतवर्ष केवल दूसरे लोगों की ही सहायता पर अवलम्बित

नहीं है। आज वह स्वतन्त्र होने के लिए हाथ-पांव पटक रहा है। आज स्वतन्त्रता का आन्दोलन केवल बंगाल, मद्रास वा महाराष्ट्र में ही नहीं है; आज केवल एक प्रांत ही अलग होकर स्वतन्त्र नहीं होना चाहता है बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता की पुकार मच रही है जिसमें देश के सभी वर्ग, सभी प्रान्त भाग ले रहे है। आज सारा भारतवर्ष एक होकर अंग्रेज़ों से छुटकारा पाना चाहता है। अंग्रेज हिन्दुस्तान को (देशी भारत और ब्रिटिश-भारत नामक) दो भागों में विभक्त कर देना चाहते हैं, भारतवर्ष में आयलैंड की तरह एक 'अलसटर' बना देना चाहते हैं, भारतवासियों के संगठित बल को कम करना चाहते है परन्तु वे जितना ही अधिक विभेद डालने का प्रयत्न करते है भारतवासी उतने ही अधिक वेग से एकता की ओर बढ़ते जाते हैं। बाहरी देशो मे साम्राज्यवाद की विरोधी संस्थाओं से भी कॉग्रेस ने अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। उसने ब्रसेल्स की साम्राज्यवाद का विरोध करनेवाली कांग्रेस मे अपना प्रतिनिधि भेजा था।

जिस आर्थिक साम्राज्यवाद का उद्भव संसार के कमज़ोर राष्ट्रों को चूसकर हुआ; जिसकी स्थिति भौतिक सभ्यता तथा सैन्य-बल पर निर्भर है; जिसने संसार मे किसी को भी स्वतन्त्र रूप से चुप बैठने देना असम्भव कर दिया है उसी के खिलाफ़ भारतवासियों ने लड़ाई छेड़ दी है। उन्होने गांधीजी के बतलाये हुए ऐसे अस्त्र को अपनाया है जो आर्थिक साम्राज्यवाद के मर्म स्थल पर आघात पहुँचाता है। भारतवर्ष में खादी का काम ज़ोरों से चला और गॉवो मे जागृति हुई तो वे दिन अधिक दूर नहीं हैं जब भारतवर्ष पुनः स्वतन्त्र होकर अपने पूर्व वैभव को प्राप्त कर लेगा।

[६]

हम भी पीछे नहीं हैं !

जिस समय एशिया के बड़े-बड़े राष्ट्र साम्राज्यवाद के चक्र से छूटने की कोशिश कर रहे है उस समय यहाँ के छोटे-छोटे राष्ट्रो का चुप बैठे रहना असम्भव है। उन मे भी बड़े राष्ट्रों की ही तरह क्रांति की भावनाएँ हिलोरे मारा करती हैं।

श्याम ने १९२० में सब से पहले अमेरिका से सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार १८५६ की सन्धि रद्द हो गई और अमेरिकनों का श्याम में विशेषाधिकार (Extraterritoriality) नही रह गया। न्याय-विभाग मे सुधार करने के लिए एक नया कोड तैयार किया जाने लगा। जब तक कोड तैयार नहीं हो जाता, अमेरिका ने श्याम में उसकी जनता के साथ अनुचित व्यवहार न हो इसका भी प्रबन्ध कर लिया। इस सन्धि के अनुसार श्याम को अमेरिका के माल पर मनमाने कर लगाने का अधिकार मिल गया परन्तु शर्त यह रखी गई कि दूसरे राष्ट्र भी इस बात को मान ले। कोई राष्ट्र इसके लिए हर्जाना न ले। अमेरिका के साथ सन्धि कर लेने पर श्याम के योग्य परराष्ट्र-सचिव वैदोपप्रबन्ध ने बहुत परिश्रम के बाद दूसरे राष्ट्रों के साथ की गई असमानता की सन्धियां भी रद्द करा लीं। ब्रिटेन,

श्याम का स्वतंत्रता-लाभ

फ्रांस, डेन्मार्क, पुर्तुगाल, और दूसरे युरोपीय राष्ट्रों के साथ नई सन्धियां करली गई। सत्तर वर्ष तक विदेशियो के वन्धन मे रहने के वाद श्याम स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्र हो जाने पर श्याम ने देश की अवस्था सुधारने में बहुत उन्नति की। १९२५मे वहाँ के राजा छठे राम मर गये। उनके राज्य के अन्तिम काल में राज्य पर थोड़ा ऋण भी हो गया था। उनके भाई वर्तमान श्याम-नरेश प्रजाधिपक गद्दी पर वैठे; उस समय से वह ऋण घटने लगा। नये शासक ने राज-घराने का खर्च नब्बे लाख टिकल (श्यामी सिक्का) से घटाकर साठ लाख कर दिया। शासन कार्य में ये पुराने राजाओ की दयालुता का अनु-करण करते रहे। अपने यहां पार्लमेंट की स्थापना करना और देश में वैध-शासन प्रचलित करने का इन्होंने विचार पहले ही किया था। १९३२ मे एकाएक वहाँ शान्त क्रांति हुई। प्रजा के नेताओं ने शासनतंत्र अपने हाथ में ले लिया। सम्राट् इस से सहमत हुए; प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन स्थापित हुआ। सम्राट् भी है पर उनका वही स्थान है जो इंग्लैंड के प्रजा सत्ता-त्मक शासन में वहां के सम्राट का है।

श्याम के सामने इस समय सब से बड़ा प्रश्न यह है कि पश्चिमीय सभ्यता को अपनाते हुए भी वह अपनी पुरातन सभ्यता किस प्रकार से कायम रखे और पाश्चात्य सभ्यता के साथ आने-वाली बुराइयो से किस प्रकार अपनी रक्षा करे। पश्चिमीय सभ्यता की बुराइयो से वह भलीभांति परिचित हो गया है इसलिए उन मे उसके अटक जाने की सम्भावना नहीं है। श्याम दिन-दिन उन्नति ही करता जायगा।

रूस के आक्रमण से बचने के लिए अंग्रेजों ने तिब्बत को अपने अधिकार में रख लिया है। अंग्रेज नही चाहते कि यहाँ

तिब्बत

के लोगो को भी आधुनिक जगत् की झलक लगे। उन्हें वे पूर्णरूप से अधिकार में रखना चाहते हैं परन्तु एशिया में जैसी हवा चल रही है उससे इस महादेश का एक भी कोना नही बच सकता। राजा महेन्द्र प्रताप तिब्बत गये थे; उस समय उनकी वहाँ के मुख्य लामा से मुलाक़ात हुई थी। लामा ने उनके सामने जो विचार प्रकट किये थे उससे स्पष्ट हो जाता है कि एशिया का एक भाग होकर अपना कर्तव्य पूरा करने की ज़िम्मेवारी तिब्बत भी समझता है। दलाई लामा ने कहा था कि वह चीन को प्यार करता है; वहाँ जाने के लिए वह उत्सुक भी है क्योंकि वह जानता है कि तिब्बत विना अपने पूर्वी पड़ोसी की सहायता के उन्नति नही कर सकता। अंग्रेज तिब्बतियो को जबर्दस्ती दबा रखते है इसलिए वे कुछ कर नहीं पाते। उनकी भारतवर्ष के लोगो के साथ सहानुभूति है। तिब्बत का सम्बन्ध आधुनिक सभ्यता से नहीं हुआ है फिर भी एशिया के उत्थान में उसका एक विशेष स्थान है। वह अपनी जिम्मेवारी अब समझने लगा है। अंग्रेज अब कितना ही प्रयत्न क्यों न करें उसे अपने एशियायी भाइयो से अलग नहीं रख सकेंगे।

रूस ने अभी साम्राज्यवादी राष्ट्रो के भीतर आतंक पैदा कर दिया है। साम्राज्यवाद का सब से बड़ा शत्रु इस समय साम्य-

इण्डोनेशिया

वाद हो रहा है। डच लोगों ने इण्डोनेशिया पर कब्जा किया था और उसी कारण से वह साम्राज्यवादी राष्ट्र कहे जाने योग्य है। इण्डोनेशिया हॉलैंड की

अपेक्षा चौसठ गुना बड़ा है। वहाँ की आबादी भी हॉलैंड की अपेक्षा सात गुनी अधिक है। डच लोगों ने वहाँ के लोगों को सब प्रकार से कुचल डालने का प्रयत्न किया है।

रूस की राज्य-क्रान्ति की लहर इण्डोनेशिया तक पहुँच गई। वह भी स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगा। रूस से उसका सम्बन्ध हो वा नहीं, डच लोगों ने समझ लिया कि रूस के साथ सम्बन्ध होने के ही कारण इण्डोनेशिया मे जागृति हो रही है। उन लोगों ने दमन करना आरम्भ किया। हड़ताल करने, एकत्र होकर सभा करने तथा समाचार-पत्रो द्वारा आन्दोलन करने में रुकावटें डालने के लिए बहुत ही सख्त कानून बना दिये गये। वहाँ का गवर्नर-जेनरल चाहे किसी को देश-निकाले की सजा दे सकता है। डच लोग वहाँ वालो को शिक्षित भी नहीं करना चाहते। जब से उनका राज्य क़ायम हुआ शिक्षा का अभाव बढ़ता ही जाता है। पहले पचास प्रतिशत लोग अशिक्षित थे परन्तु सुसभ्य युरोपीय डच साम्राज्यान्तर्गत आने पर वहाँ के पंचानवे प्रतिशत लोग अशिक्षित हो गये। इतना ही नहीं वहाँ के एक प्रसिद्ध डाक्टर का कहना है कि डच सैनिकों ने कामुक बीमारियाँ फैलाकर देश को बरबाद कर दिया। लोगो की निर्धनता दिन-दिन बढ़ती ही गई।

दमन और अत्याचार

इण्डोनेशिया के लोग अधिक बर्दाश्त नहीं कर सके। स्वतंत्र होने के लिए वहाँ के लोगों ने रूस का अनुकरण किया। १९२० में 'पारताई साम्यवादी इण्डोनेशिया' नामक समिति की स्थापना हुई थी। उस समिति का मूल उद्देश किसान और मजदूरों की अवस्था में सुधार करना

२४

था। नये दल के सदस्य दिन-दिन बढ़ते ही गये; इससे डच-सरकार और भी अधिक घबड़ा गई। उसने और ज़ोरों से दमन आरम्भ किया। सरकार ने जितना ही दमन किया लोग उतने ही अधिक क्रान्तिकारी होते गये। १९२६ के अन्त मे पश्चिमी जावा और १९२७ के आरम्भ मे पश्चिमी सुमात्रा में विद्रोह हो गया परन्तु विद्रोहियों को सफलता नहीं मिली। डच-सरकार ने इस समय लोगों पर ऐसे अत्याचार करने आरम्भ किये जिसका नमूना इतिहास में दुर्लभ है। चार हजार इण्डोनेशियनों को ऊपरी दिगौल (नये-गायना के बीच मे) भेज दिया गया। वहाँ की ज़मीन दलदल है, मलेरिया बहुत जल्द हो जाता है और लोग बचते नहीं हैं। निर्वासित इंडोनेशियनों ने जीवन की आशा छोड़ दी। देश में लोगों से यह स्वीकार कराने के लिए कि वे साम्यवादी विचार के हैं ऐसी-ऐसी कठोर यातनाएँ दी जाती थीं जिन्हे देखकर राक्षसी यन्त्रणाओ को भी लज्जा आयेगी। पुरुषों और स्त्रियो की मूत्रेन्द्रियाँ जला दी जाती थीं। यह करतूत बीसवीं शताब्दी में एक सभ्य कहलानेवाला राष्ट्र करता था। अर्थ-लोभ ने उनमें मनुष्यता का नामोनिशान भी नहीं छोड़ा।

साम्राज्यवादियों के इस प्रकार के अत्याचारो के कारण लोगों के भीतर की क्रान्तिकारी भावनाएँ और भी प्रज्वलित हो उठीं। इण्डोनेशिया का शिक्षित वर्ग अभीतक डच लोगों पर विश्वास करता था परन्तु इस समय वह बहुत अधिक बिगड़ गया। १९२७ ई० में 'पारताई राष्ट्रीय इण्डोनेशिया' की स्थापना हुई। इसमें विदेश से लौटे हुए लोगों ने अधिक भाग लिया। अब ये लोग इण्डोनेशिया के पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए आन्दो-

लन मचा रहे हैं। वे अब डच लोगों से अपना किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। अपनी कांग्रेस में उन लोगो ने कृषक और मजादूरों में जागृति लाने का, उन्हे संगठित करने का विचार निश्चित किया। इण्डोनेशिया का यह दल सभी दलो से बड़ा होगया। डच अखबारो ने उन लोगों पर दबाव डालकर उनके आन्दोलन को दबा देने के लिए सरकार पर काफी जोर डाला। इण्डोनेशिया में गुप्तचरों की संख्या वहुत अधिक बढ़ा दी गई और भारतवर्ष की ही तरह निरपराध लोगों का पकड़ा जाना फिर से जारी हो गया।

इण्डोनेशिया की राष्ट्रीय संस्था ने भी 'साम्राज्यवाद विरोधिनी अन्तर्राष्ट्रीय लीग' (International league against Imperialism) के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। वहाँ की अवस्था देखते हुए हम लोग यही कह सकते हैं कि डच साम्राज्यवाद ने ही प्रयत्न करके नरम दलवालों के दल को भयानक क्रान्तिकारी दल बना दिया है। जनता सजग होती जा रही है; मजदूर और किसान दिन-दिन संगठित होते जा रहे हैं। डच-सरकार ने उन लोगों को गुलाम वनाये रखने के लिए कुछ सुधार देने चाहे थे परन्तु लोगो ने इन सुधारों का विरोध किया। १९२७ मे एक व्यवस्थापक सभा वनाई गई जिसमे सम्राट्-द्वारा नियुक्त अध्यक्ष तथा ६० सदस्य (३०-३२ डच, २५ इण्डोनेशियन ३-५ तक दूसरे, चीनी या अरब आदि) होते है। इन सदस्यो मे कुछ स्थानीय कौसिलों के सदस्यों-द्वारा निर्वाचित होते हैं और कुछ गवर्नर-जेनरल द्वारा निष्पक्षतापूर्वक मनोनीत किये जाते हैं। परन्तु इण्डोनेशिया वाले डच लोगों की

साम्राज्यवादी चालों में आनेवाले नहीं हैं। वे अपनी शक्ति पर निर्भर करते हैं और अपनी ताकत और संगठन के बल पर ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए है। विगत पाँच वर्षों में वहाँ की जनता बहुत जागृत हो गई है।

राष्ट्रपति विलसन ने जिस स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की आवाज उठाई थी वह इण्डोचीन तक पहुँच गई। साम्यवादी

इण्डोचीन

आन्दोलन ने उस आवाज़ के बहुत शीघ्र वहाँ पहुँचा देने में रेडियो के जैसा कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के लोग भी स्वतन्त्र होने की आवाज उठाने लगे। यहाँ के लोगों ने भी पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की थी इसलिए राष्ट्रीयता का भाव उनमें पहले से ही आ गया था। फ्रांसीसी सरकार ने अंग्रेज़ तथा डच-साम्राज्यवादियों की तरह यहाँ पर अत्याचार नहीं किये इसलिए क्रान्ति की आग ज़ोरों से नहीं भभकी। १९२५ में फ्रेंच-सरकार की ओर से एम. वारनी गवर्नर-जेनरल बनाकर इण्डोचीन भेजे गये थे। ये साम्यवादी विचारों के थे। उन्होंने लोगों को बतलाया कि फ्रांस का उद्देश इण्डोचीन को स्वतन्त्रता के लिए तैयार करना है पर फ्रांसीसी सरकार ने तुरन्त ही इसी प्रकार का कोई भी कार्य होने देने में बाधा डाली। उसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान पर बल्वे होगये। लोग फ्रांसीसी सरकार के विरोध मे जुलूस निकालने लगे, विद्यार्थियों ने भी फ्रांसीसी स्कूलों मे जाना बंद कर दिया। अन्नाम में इस प्रकार के विद्रोह का भाव बहुत अधिक था। फ्रांसीसी सरकार ने बहुत से लोगों को क़ैद कर लिया। वहाँ के अधिकांश राष्ट्रवादी जेल में रख दिये गये अथवा निर्वासित कर दिये गये।

इण्डोचीन वालों की आशा रूस की सहायता पर लगी है। जापान उस देश को अपने कब्जे में लाना चाहता है इसलिए वह भी वहाँ पर क्रांतिकारी भाव फैलाने से बाज नहीं आता। इण्डोचीन वाले भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कोरिया

ज़ापान के मार्किस ईटो ने पहले ही विचार किया था कि कोरिया को दास बनाकर नहीं वरन् यदि बराबरी का भाव दिखलाकर रखा जाय तो वह जापान के अधिकार में रह सकेगा। परन्तु जापान के कितनी भी नरमी दिखलाने पर कोरियन जापानी लोगो से असन्तुष्ट थे। १९१९ में -स्वभाग्य-निर्णय की हवा चलने पर कोरिया ने भी अपने स्वतन्त्र होने की घोषणा करदी। स्वतन्त्रता घोषित करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उतनी शक्ति न रहते हुए भी उसने वैसे महान् कार्य मे हाथ डाला इसका कारण यह था कि उसकी दृष्टि पश्चिमी राष्ट्रो की ओर थी। वह समझता था कि उसकी सहायता पश्चिमी राष्ट्र करेंगे परन्तु उसकी आशा भंग हुई। उसके स्वतन्त्रता की घोषणा करने पर बहुत-से लोग क़ैद कर लिये गये; बहुतो को यंत्रणाएँ दी गई और बहुत-से निर्दोष कोरियनो की हत्या की गई। कोरिया की सहायता के लिए कोई भी नहीं पहुँचा। कोरियन लोगों की आंखें खुल गई। उन्होने पश्चिमी राष्ट्रो के सम्बन्ध में समझ लिया कि हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और हुआ करते हैं। पश्चिमी राष्ट्रों के भरोसे स्वतन्त्र होने की आशा उन्होने छोड़ दी।

कोरियन स्वयं कमजोर हैं। उनमें जापान के चंगुल से अपने को छुड़ा लेने की शक्ति नहीं है फिर भी स्वतन्त्र होने के लिए वे बहुत जोर लगाया करते हैं। वहाँपर अस्थायी प्रजातंत्र शासन की स्थापना कभी नहीं हुई, फिर भी उसका प्रतिनिधि मास्को में रहता है। प्रजातन्त्र शासन स्थापित करने की कोरियन लोग बहुत चेष्टा करते हैं; वैसे विचारवाले बीच-बीच में दंगा कर देते हैं। १९२६ के जून में उन लोगों ने कोरिया में साम्यवादी सरकार स्थापित करने के ख़याल से दंगा कर दिया था परन्तु सफल नहीं हुए।

कोरिया सोवियट सरकार और जापान के बीच में है। सोवियट सरकार से उसे मदद मिलने की आशा है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फायदा उठाना उसने सीख लिया और उसके लिए थोड़ी शक्ति इकट्ठी कर ली तो उसका स्वतंत्र हो जाना कठिन नहीं है। जिस तरह अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेज़ों के पंजे से निकल गया कोरिया भी जापानियों के पंजे से निकल जा सकता है परन्तु अभी अफ़ग़ानिस्तान जितनी भी उसमें शक्ति नहीं है। उसी शक्ति की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। कोरियन देखने लगे हैं कि उनके यहाँ के सभी जापानी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक धनी हैं। अपने देश में ही कोरियन लोगों की अवस्था पानी भरनेवालों और लकड़ी फाड़नेवालों से अच्छी नहीं है। जापानियों के साथ अपनी तुलना करने पर उनमें उन्नति करने का भाव स्वभावत. ही आ जाता है इसीलिए वह जापानियों के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया करते हैं। जापान क्या कोरियनों की राष्ट्रीयता से झगड़ा करते हुए

अधिक दिनों तक उस पर कब्जा जमाये रखने में समर्थ हो सकेगा ?

उपर्युक्त छोटे-छोटे राष्ट्रों को देखते हुए भी हम लोगों को यही पता चलता है कि उनमे भी बड़े राष्ट्रों जैसे ही भाव काम कर रहे है। बड़े राष्ट्रो की ही तरह वे भी साम्राज्यवाद को अपना शत्रु समझते हैं और उसका नाश करने मे प्रयत्नशील है।

[१०]

क्या जापान एशियायी राष्ट्रों का शत्रु है ?

एशियायी राष्ट्रो में जापान ही एक साम्राज्यवादी राष्ट्र है। उसनें कोरिया पर दख़ल जमा लिया; चीन को बार-बार सताया करता है और एशिया के दूसरे राष्ट्रों पर भी अपनी वक्रदृष्टि लगाये रहता है परन्तु क्या केवल इन्हीं कारणों से वह एशियायी राष्ट्रों का शत्रु कहा जायगा ?

जापान की राष्ट्रीय आवश्यकताओं ने उसे आरम्भ में एशिया के दूसरे भाग पर अधिकार करने के लिए वाध्य किया था। जापानियों की जन-संख्या दिन-दिन वढ़ती जाती थीं; उनका देश उतना बड़ा नही था कि सब का गुज़ारा वहाँ पर हो सके। अपनी आत्म-रक्षा के लिए उन्हे एशिया के दूसरे राष्ट्रो पर क़ब्जा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। जापान के भी कारख़ाने वढ़ रहे थे, उसे भी कच्चे माल की आवश्यकता थी इसलिए भी उसे अपना राज्य-विस्तार करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इन वातों के रहते हुए इतनी वात अवश्य है कि जापान ने अपने यहाँ के कुछ पूँजीपतियों के विशेष लाभ का ध्यान रखकर ही एशिया के दूसरे भागों पर क़ब्जा किया। जापान व्यवसाय-प्रधान देश हो गया था इसलिए वहाँपर पूँजीपतियों का एक वर्ग पैदा हो जाना स्वाभाविक था। संसार के दूसरे साम्राज्य-वादी राष्ट्र जिस समय एशिया मे लूट मचा रहे थे उस समय

जापान ने भी उनका अनुकरण किया। जापान यदि अपना प्रसार पूर्वी एशिया में नहीं करता तो वे स्थान भी युरोपीय साम्राज्यवादियो के हाथ में चले जाते। यदि उस प्रकार की नीति जापान काम में नहीं लाता तो आज उसकी भी वही स्थिति होती जो और एशियायी राष्ट्रों की है। उसने साम्राज्यवादी नीति युरोपीय सभ्यता मे ढल जाने के लिए नहीं अपनाई थी परन्तु अपनी वास्तविक स्थिति क़ायम रखने के लिए की थी। ※

साम्राज्यवादी राष्ट्रों के धक्का लगने पर जापान ही सब से पहले सजग हुआ। वहाँ के 'सामुराई' लोगों ने जैसा त्याग किया उसका नमूना एशिया के दूसरे राष्ट्रों ने नही दिखलाया। उसके पड़ोसी चीन के 'तुखन' लोगो ने तो उसका विपरीत ही उदाहरण उपस्थित किया है। जापान ने अपने देश में सभी प्रकार के सुधार किये और युरोपीय राष्ट्रो की बराबरी का हो गया इसीलिए मजबूर होकर विदेशी लोगो को वहाँ से अपना

※ लेखक के इन वाक्यों से जापान के प्रति उनके पक्षपात की ध्वनि निकलती है। जापान हो या और युरोपीय राष्ट्र, साम्राज्यवाद की नीति अपनाने पर सभी का एक ही रास्ता हो जाता है। कोई आदमी विलायती शराब पिये या देशी उसका नैतिक पतन तो दोनों ही अवस्थाओं में होना अनिवार्य है। जहां स्वार्थ का भाव इतना प्रबल हो कि दूसरों को भी कुचलकर बढना चाहे वहाँ नैतिक मर्यादा की रक्षा की नहीं जा सकती। जापान का कर्त्तव्य तो यह था कि वह दूसरे एशियायी राष्ट्रों की उन्नति में सहायक होता पर वह उलटे बाधक हो रहा है। स्वार्थ के लिए न केवल चीन वरन् भारत की (व्यापारिक) उन्नति में भी उसने बाधा डाली है।

—सम्पादक

विशेषाधिकार उठा लेना पड़ा। जापान यदि सबसे पहले जागृत होकर अपने परिश्रम का फल उपभोग करना चाहता है तो एशिया के दूसरे राष्ट्रों को उससे ईर्षा नहीं करनी चाहिए। उन्हे भी अपनी रक्षा के लिए वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए। जापान से उन्हें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि अपना राजनैतिक सुधार कैसे किया जा सकता है ?

जिस समय जापान एशियायी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करना चाहता था, उस समय भी अप्रत्यक्ष रूप से उन्हे जागृत करने मे ही सहायता पहुँचा रहा था। ❀ महासमर के बाद से उसकी यही नीति रही है कि पूर्वी एशिया से अमेरिकन और युरोपियन लोगो को निकाल बाहर कर दिया जाय। वह एशियायी भूमि पर विदेशी साम्राज्यवादियों को और अधिक दिनों तक नहीं रहने देना चाहता। अपनी रक्षा के लिए वह अपने को सर्व-शक्तिशाली बनाना चाहता है। वह अपनी सीमा बढ़ाने के प्रयत्न में है। सबसे बड़ी आवश्यकता उसे इस बात की है कि वह अंग्रेज आदिकों की बराबरी का राष्ट्र मान लिया जाय। यदि विदेशी राष्ट्र उसे बराबरी का स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं तो वह उन्हे एक क्षण भी एशियायी भूमि पर नहीं टिकने देना चाहता।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस के बाद से जापान अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे अकेला पड़ गया। इंग्लैड के साथी रहने के कारण इंग्लैंड-जापान दोनो का ही फायदा था परन्तु वाशिंगटन कान्फ्रेंस की शर्तों

❀ पर इसमें जापान का कोई श्रेय नहीं है। —सम्पादक।

के कारण जापान का इंग्लैंड के साथ सम्बन्ध नहीं रह गया।

'एशियाटिक इमीग्रेशन एक्ट'

१ जुलाई १९२४ से संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने क़ानून बना दिया कि वहाँ पर जाकर एशियायी नहीं बस सकेंगे। एशिया के और दूसरे भागों से वहाँपर बसने के लिए बहुत कम लोग जाते थे; जापान और चीन के ही अधिक आदमी जाते थे। अमेरिकन मजदूरो की अपेक्षा जापानी मजदूरों के रहन-सहन मे बहुत कम खर्च होता था। इसलिए वे अमेरिकन मजदूरो के साथ प्रतिद्वंदिता करने लगते थे। अब अमेरिका में जापानियों का जाना बंद हो गया। इसलिए उसकी दृष्टि एशिया की ओर गई। पहले भी वह एशिया की ओर ध्यान देता था परन्तु इस समय से विशेष रूप से देने लगा। विदेशियों से लड़ने के लिए उसने एशियायी लोगो से मेल कर लेना चाहा। वर्साई की सन्धि के समय एशिया के सभी राष्ट्र अपमानित हुए थे परन्तु जापान की उस समय इज्ज़त हुई थी इसलिए जापानी समझने लगे थे कि उन्हें युरोपवालों ने अपनी बराबरी का मान लिया है परन्तु अमेरिका से निकाले जाने पर उनका भ्रम दूर हो गया। अब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि यदि वे अपने को संसार की दृष्टि मे ऊंचा रखना चाहते है तो युरोपियन राष्ट्रो से नहीं बल्कि एशियायी राष्ट्रो से मिलकर रहना चाहिए। अमेरिका में क़ानून पास होते ही जापान में खलबली मच गई। वहाँपर उसके विरोध में सभाएँ होने लगीं।

सनयातसेन ने पहले ही जापानी लोगो से प्रस्ताव किया था कि अमेरिका और इंग्लैंड को निकालने के लिए रूस, जापान और चीन को मिल जाना चाहिए। इस समय जापानियों ने

उनकी बातों पर ध्यान दिया और उसे काम में लाने की चेष्टा करने लगे। जापान ने अपने तैयार माल की खपत करने के लिए तुर्की से व्यापारिक सन्धि करली। फ़ारससे भी उसकी सन्धि हो गई। रूस से भी सन्धि की बातें चलने लगीं और उससे भी सन्धि हो गई।

एशिया की ओर—

इससे जापानियों का लाभ हुआ। साखालिन की खानो का अधिकार जापान को मिला। वहाँ के पचास प्रतिशत तेल पर अमेरिकन कम्पनी अपना अधिकार बतलाती थी, वह भी जापान को दे दिया गया। साखालिन के पश्चिमी तट की कोयले की खानों का भी अधिकार जापान को ही मिल गया। रूसी सरकार ने कोयले और तेल का कुछ प्रतिशत अपने लिए निश्चित करा लिया।

इंग्लैंड के लिए रूस-जापान सन्धि एक बहुत बड़ा धक्का था। जापान अब चीन मे भी इंग्लैंड का स्थान स्वयं प्राप्त कर लेने की चेष्टा करने लगा। इसी समय अखबारो मे यह भी अफवाह उड़ गई थी कि जापान और रूस ने आपस में यह समझौता कर लिया है कि इंग्लैंड, फ्रांस वा अमेरिका चीन पर चढ़ाई करे तो रूस दो लाख सैनिक और जापान उनके लड़ने के लिए पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र देगा। इंग्लैंड-स्थित जापानी राजदूत ने इसे झूठा बताया।

१९२७ के आरम्भ में टोकियो मे चीनी राष्ट्रीय दूत और जापानी परराष्ट्र-विभाग से बातचीत हुई थी। जापानी पत्रों ने इस समय प्रकाशित किया था कि यांगत्सीक्यांग मे जापान को बहुतसी सुविधाओं के साथ रेल बनाने की भी सुविधा दी गई

है। इन सभी बातो का यही मतलब था कि जापान एशियायी राष्ट्रों से मिलकर विदेशी लोगो को एशिया से निकाल देना चाहता है। इन बातों पर ध्यान देते हुए हम लोग नहीं कह सकते कि जापान एशियायी राष्ट्रों का शत्रु है।

हम और भी कितने प्रकार की विभिन्नताएँ एशिया के दूसरे राष्ट्रो और जापान में देखते हैं जिससे उसे अपना शत्रु समझते हैं। आज एशिया मे प्रजातन्त्र की पुकार मच रही है परन्तु जापान प्रजातन्त्र का पक्षपाती नहीं है। वह समझता है कि प्रजातन्त्र के सिद्धान्त प्राकृतिक नियमों के खिलाफ़ हैं। अमेरिका आदि में नाम-मात्र का प्रजातन्त्र है; वहाँपर अधिक से अधिक डालरो पर अधिकार रखने वालो की ही चलती है। वहाँ प्रजातन्त्र नहीं डालरतन्त्र है। प्रजातन्त्र शासन में राज्य की शक्ति राजतन्त्र जैसी संगठित नही रहती। दूसरे एशियायी राष्ट्र आँख मूँदकर पाश्चात्य देशों का अनुकरण करना चाहते हैं परन्तु जापान आँखे मूँदकर विदेशियों की नकल नहीं करना चाहता इसीलिए वह प्रजातन्त्र का माननेवाला नही है परन्तु इससे उसका एशियायी राष्ट्रों का शत्रु होना सिद्ध नहीं होता।

जापान साम्यवादी विचारो का भी कट्टर विरोधी है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए सोवियट सरकार से सन्धि की परन्तु अपने देश मे साम्यवादी विचारों को फैलने देना नहीं चाहता। जापान भी शिल्प-प्रधान तथा साम्राज्यवादी देश है इसलिए मजदूर और धनीवर्ग का झगड़ा वहाँ भी स्वभावतः खड़ा हो जाया करता है। परिस्थिति अनुकूल होने के कारण साम्यवादी विचारो का भी प्रचार वहाँ रुक नहीं सकता

इसीलिए वहाँ पर भी एक साम्यवादी दल खड़ा हो गया है। उसे दमन करने के लिए जापान ने अक्तूबर १९२८ में पाँच सौ आदमियों को गिरफ्तार कर लिया था। उन लोगों में अधिकांश विद्यार्थी ही थे। विद्यालयों में विद्यार्थी साम्यवादी विचारों के न हो जायँ इसका भी जापान काफी ख़याल रखता है। एशिया के दूसरे राष्ट्र साम्यवाद का आवाहन करते हैं और जापान साम्यवाद का शत्रु है इसीलिए जापान को एशियायी राष्ट्रों का शत्रु नहीं कह बैठना चाहिए। एशिया के दूसरे राष्ट्र विदेशी साम्राज्यवाद के आतंक से भयभीत हो उठे हैं इसीलिए वे साम्यवाद का आवाहन करते हैं। यदि वे विदेशियों से छुटकारा पा जायँ तो संभव है साम्यवाद के वैसे पक्षपाती न रह जायँ जैसे अभी हैं। तुर्की और फ़ारस का उदाहरण सामने है। जापान अपने देश के वर्तमान समाज-संगठन को बदलना नहीं चाहता इसीलिए वह साम्यवाद का विरोधी है। सभी बातों पर ध्यान से विचार करने पर यही मालूम पड़ता है कि जापान एशियायी राष्ट्रों की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करना चाहता।

[११]

नवीन भाव और उनकी प्रगति।

वर्तमान समय एशिया के इतिहास में बड़े ही महत्व का समय है। युरोप के इतिहास मे सुधार और पुनरुत्थान के समय का जैसा महत्व था एशिया के वर्तमान समय का भी ठीक वैसा ही महत्व है। आज सारा एशिया एक सिरे से दूसरे सिरे तक जागृत हो उठा है। अपने को साम्राज्यवाद के चंगुल मे फंसा हुआ देखकर बन्धन तोड़ने के लिए वह भगीरथ प्रयत्न कर रहा है। पुराने विचार, पुरानी रीतियाँ अब अतीत की घटनाएँ बनती जा रही हैं। एशिया आज आलस्य त्यागकर अपनी कायापलट कर रहा है। इस समय उसके भीतर जो भाव-लहरी उठी है उसका दृष्टांत एशिया के प्राचीन से प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो मे खोजने से भी नहीं मिलेगा। अपने को संगठित करने के लिए राष्ट्रीय महासभा, समाज-सभा, आर्थिक सभा, विज्ञान-परिषद, महिला-परिषद, आदि सभाएँ आये दिन हुआ करती हैं। युवको में सुधार करने के लिए युवकसंघ, स्वयंसेवकदल, बालचर-विभाग दिन-दिन खुलते जा रहे हैं। भारत में कायस्थ-सभा, मारवाड़ीसभा, अग्रवाल-सभा आदि अलग-अलग अपना समाज-सुधार कर रही हैं। अछूतोद्धार, दलितोद्धार, शुद्धिसभा आदि भी पीछे नहीं हैं। इन सब से बड़ी

सुधार का कोलाहल

हिन्दूसभा, जमायतुलउलमा आदि हैं जो बड़े पैमाने पर सुधार करना चाहती है। देशी वाणिज्य, देशी वस्त्र, देशी बैंक, देशी-बीमा कम्पनियों की धाक दिन-दिन बढ़ती जाती है। ग्राम्य-संगठन की आवाज भी धीमी नहीं है। इन सभी सुधार और संगठनो का कोलाहल इतना अधिक है कि इन सब में किसी प्रकार की समानता भी है वा नहीं, यह जानना कठिन हो गया है। इन सब का उद्भव एक ही समय में, एक ही परिस्थिति मे, एक ही प्रकार की शक्ति के दबाव डालने से हुआ है इस-लिए इन सब में किसी न किसी बात मे समानता रहना आव-श्यक है। ये इतने सभी सुधार और संगठन किसलिए किये जा रहे हैं? इनकी क्या आवश्यकता है? इन सभी सभाओं और परिषदों से कौन-सी एक आवाज निकल रही है?

इन सभी सुधारो की विशेषता यह है कि सभी आधु-निकता की ओर बढ़ना चाहते हैं। इनमें कोई भी लकीर का फ़कीर बने रहना नहीं चाहता। सारा एशिया नई आशाओं, नये ख़यालों से इसीलिए भर जाना चाहता है जिसमें वह विदेशी लोगों का अस्त्र न बना रह जाय। वह सब-कुछ अपने लाभ का विचार करके करना चाहता है।

वर्तमान समय में राजनैतिक विचारों का जोर एशियायी लोगों मे जितना अधिक है उतना धार्मिक विचारों का नहीं है। मुसलमान सदा से धर्म की कट्टरता के लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु उनमें भी महान् परिवर्तन हुए हैं। धार्मिक जगत् से खलीफ़ा का अस्तित्व उठा देना विचार-धारा में कुछ कम परिवर्तन का कार्य नहीं है। एक देश के मुसलमान दूसरे देश के मुसलमानों

से मिलना चाहते हैं, इसका खास कारण धार्मिक एकता नहीं परन्तु साम्राज्यवाद के खिलाफ दलबन्दी है। चीन में ईसाई लोगों के खिलाफ भाव बहुत प्रबल हो रहा है इसका भी कारण धार्मिक नहीं है। राष्ट्रीय सरकार विद्यार्थी-जीवन को राष्ट्रीय-जीवन का एक मुख्य अंग समझती है। वह समझ गई है कि ईसाई स्कूलो में पढ़ने से लड़के केवल राष्ट्रीयता के भावों के प्रतिकूल विचारों के ही नही हो जाते बल्कि साम्राज्यवाद की पुष्टि करनेवाले भी बन जाते हैं। मिशनरी स्कूलों में पढ़नेवाले लड़के यदि चीनी साहित्य को भुला नहीं देते तो उसके महत्व को कम तो अवश्य ही कर देते हैं। वे जितना महत्व अंग्रेजी साहित्य को देने लगते हैं उतना चीनी साहित्य को नही देते, इससे देशमें विदेशी सभ्यता का प्रचार हो जाता है। इन्ही कारणों से चीन की राष्ट्रीय सरकार ने मिशनरी स्कूलों को अपना पाठ्य-क्रम मानने के लिए मजबूर किया है। पादरियो से घृणा का भाव रहने का एक खास कारण यह है कि वे ही लोग साम्राज्यवाद के अग्रदूत होते हैं। उनके पीछे-पीछे ही साम्राज्यवाद के साथ आनेवाली सभी चीजे पहुँचती हैं और देश को गुलाम बना लेती हैं। भारतवर्ष में हिन्दुओ से मुसलमान चिढ़ते है, इसका एक-मात्र कारण यह है कि वे लोग सभी क्षेत्रों में अपने को हिन्दुओ से कम शक्तिशाली पाते हैं। जो हिन्दू-सभा स्थापित हुई, उसका मुख्य उद्देश हिन्दुओं मे शक्ति लाना ही था, मुसलमानो के खिलाफ काम मे लाने के लिए नहीं वरन् अंग्रेजी साम्राज्यवाद को हटाने के लिए। अंग्रेज शासक इस बात को जानते हैं। इसीलिए मुसलमानो में राष्ट्रीयता का भाव

कम होने के कारण वे उनका उपयोग अपनी नीति के प्रयोग मे कर लेते हैं। विगत दस वर्षों से तो उन्हे हर बात में प्रधानता दी जाती है।

साम्राज्यवाद का आतंक जैसे-जैसे बढ़ता गया लोग एकता की ओर झुकते गये। समाज के नीच वर्ग के लोगो से पहले लोग जितनी घृणा किया करते थे अब उतनी नहीं करते। गांधी के जोर देने के कारण हिन्दू-जाति अस्पृश्यता को दूर करने के लिए कमर कसकर खड़ी हो गई है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी प्रयत्न हो रहा है। अब धार्मिक लड़ाइयों के दिन बीत गये। अब लोगों में साम्राज्यवाद के आतंक के कारण राष्ट्रीयता का भाव आ रहा है। सारे एशिया मे यदि सबसे तीव्र पुकार आज कोई मच रही है तो वह यही है कि 'क्या यह हमारा देश नहीं है ? क्या यहाँ पर स्वतंत्र रूप से रहने का हमारा अधिकार नहीं है ? यदि हमारा देश आज आर्थिक साम्राज्यवाद के बंधनो से जकड़ा हुआ है तो हम लोग भी मशीन लेकर, विज्ञान के आविष्कारो का उपयोग कर अपने देश को धन-धान्य सम्पन्न क्यो न बनावें ? विदेशियो को क्या अधिकार है कि वे हमारे देश मे आकर लूट मचावे ? उन्हे क्या अधिकार है कि वे हमारा ही खून बहाकर हमारे ही देश-भाइयो को गुलाम बनावे ? क्यो न उनके विरुद्ध हम सभी एशियावासी एक हो जायँ ?'

राष्ट्रीयता का भाव

साम्राज्यवादियो का आतंक इतना अधिक बढ़ गया है कि न केवल एशिया वरन् युरोप आदि देशों में भी इसका विरोध जोरों से आरम्भ हो गया है। १९२७ में ब्रसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय

साम्राज्यवाद-विरोधिनी कांग्रेस(League Against Imperialism) की स्थापना हुई। इस संस्था का मूल उद्देश है साम्राज्यवाद की सभी विरोधी शक्तियों को एक सूत्र में बाँध देना। साम्राज्यवादियों की संगठित शक्ति से लड़ने के लिए साम्राज्यवाद की विरोधी शक्तियों का संगठन अत्यन्त आवश्यक है। इस संस्था का उद्देश यह है कि उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के खिलाफ जो लड़ाई चल रही है वह जारी रहे और दिन-दिन वृद्धि करती जाय। इस संस्था का अंग्रेज साम्राज्यवादी कट्टर विरोध करते है, वे इसके विषय में झूठी खबरें उड़ाते है। कहते हैं—थर्डइंटरनैशनल इसका खर्च चलाती है और वही इसका नियन्त्रण भी करती है। अंग्रेज साम्राज्यवादी इसके विरोधी हैं, इसका कारण यह है कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा तथा भारतीय व्यवसायी संघ की कांग्रेस इस संस्था से शामिल है। एशिया के और दूसरे स्थानों की भी संस्थाएँ इसमे शामिल होकर बाहर-भीतर दोनो ही तरफ से प्रयत्न कर साम्राज्यवाद का ध्वंस कर देना चाहती हैं।

साम्राज्यवाद का विरोध

साम्राज्यवादियों को एशियायी लोगों की ये प्रवृत्तियाँ अच्छी नहीं लगती। वे उन्हें रोकने का प्रयत्न करते है; जब नहीं रोक सकते। तब कहने लगते हैं—'अच्छा! जितना बढ़ गये उतना ही बस है। अब और आगे नहीं बढ़ना!' परन्तु उन लोगों के रोकने से एशियायी लोगों की प्रगति रुकती नहीं। साम्राज्यवादी उसे बोल्शेवी लोगों का असर समझते हैं परन्तु वास्तव में वह किसी का भी असर नहीं है। हाँ, साम्यवादी भावों ने रास्ते मे आकर सहायता अवश्य दी है। एशिया मे स्वतन्त्र होने की

भावना कार्य कर रही है। साम्राज्यवाद का धक्का लगने से इस भावना का जन्म लेना स्वाभाविक ही था। अब एशिया का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं बचा है जो अपने को विदेशी लोगों के चंगुल से मुक्त हुआ न देखना चाहता हो।

स्वतन्त्र होने के लिए सभी एशियायी राष्ट्र एक सूत्र में बँध जाना चाहते हैं। इसी प्रयत्न के लिए एशियायी सम्मेलन भी हुआ करते हैं। इसकी सबसे पहली बैठक १९२६ के अन्त में जापान में हुई थी। इस सम्मेलन में एशियायी लोगों ने एक होकर युरोपियन लोगों का सामना करना चाहा था। दूसरी बैठक १९२७ में शंघाई में हुई थी। चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिएटांग ने इसका समुचित स्वागत किया था। उसी अधिवेशन में इस सभा ने निम्नलिखित उद्देश अपने लिए निर्धारित किये थे:—

एशियायी संघ

1. किसी भी प्रकार का दवाव किसी पर डाला जाना अनुचित है। व्यक्तियों तथा समाज को अपनी उन्नति करने तथा मनुष्य-मात्र की उन्नति करने में पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए।
2. मनुष्य मात्र के लाभ की दृष्टि से यह सभा एशियायी राष्ट्रों में एकता प्रस्थापित करने का प्रस्ताव पास करती है जिसमें वे सब मिलकर अपनी रक्षा कर सकें।

सभी एशियायी राष्ट्र मनुष्यता की सेवा कर सकें, इस उद्देश्य से अपने को तैयार रखने के लिए इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये:—

१. एक ऐसा शिक्षा का केन्द्र हो जहाँ एशिया के सभी लोग पढ़ सके।
२. एशियायी संघ की स्थायी सभा को एशिया की उन्नति करनेवाले आन्दोलनों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
३. अमेरिका और रूस की सहानुभूति तथा जापान के हाथ बंटाये बिना चीन की अवस्था मे सुधार नही हो सकता।

एशियायी संघ से रूस की सदा सहानुभूति रही है। वहाँ के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ ने इस संघ के विषय में अपना विचार प्रदर्शित करते हुए कहा था—'अपनी आर्थिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एशियायी राष्ट्र जो कोई भी आन्दोलन करते है उसमें रूस सदा सहायता करता आया है और भविष्य मे भी करता रहेगा। एशियायी संघ के उद्देश अभी तक बिल्कुल साफ नही रहे है। एक प्रभावशाली संस्था बनने के लिए उसे अपनी यह कमी दूर कर देनी चाहिए'।

प्राच्य देशो मे राष्ट्रीयता का इतना जबर्दस्त भाव पहले नहीं था। जिस समय यहाँ के राष्ट्र संसार में सबसे उन्नत थे उस समय भी यहाँ के लोगो मे 'वसुधैव कुटुंबकम्' के ही भाव काम किया करते थे। वे अपने को किसी एक देश के साथ मिला नहीं देते थे। सोते, जागते, उठते, बैठते विश्व को अपना समझने का भाव उनमे काम करता रहा है। युरोपीय देशों की तरह उनमे स्वार्थ-परता नही थी। पीछे इसके दुरुपयोग और अन्य भावो के असामञ्जस्य से उलटा फल हुआ और यह भी यहाँ के राष्ट्रों की गुलामी का एक कारण हो सकता है परन्तु इसी कारण से ऊँचे विचारो को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। मनुष्य

भावना कार्य कर रही है। साम्राज्यवाद का धक्का लगने से इस भावना का जन्म लेना स्वाभाविक ही था। अब एशिया का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं बचा है जो अपने को विदेशी लोगों के चंगुल से मुक्त हुआ न देखना चाहता हो।

स्वतन्त्र होने के लिए सभी एशियायी राष्ट्र एक सूत्र में बँध जाना चाहते है। इसी प्रयत्न के लिए एशियाथी सम्मेलन भी हुआ करते हैं। इसकी सबसे पहली बैठक १९२६ के अन्त में जापान में हुई थी। इस सम्मेलन में एशियायी लोगों ने एक होकर युरोपियन लोगों का सामना करना चाहा था। दूसरी बैठक १९२७ में शंघाई में हुई थी। चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिएटांग ने इसका समुचित स्वागत किया था। उसी अधिवेशन में इस सभा ने निम्नलिखित उद्देश अपने लिए निर्धारित किये थे:—

एशियायी संघ

१. किसी भी प्रकार का दबाव किसी पर डाला जाना अनुचित है। व्यक्तियों तथा समाज को अपनी उन्नति करने तथा मनुष्य-मात्र की उन्नति करने मे पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए।
२. मनुष्य मात्र के लाभ की दृष्टि से यह सभा एशियायी राष्ट्रों मे एकता प्रस्थापित करने का प्रस्ताव पास करती है जिसमे वे सब मिलकर अपनी रक्षा कर सकें।

सभी एशियायी राष्ट्र मनुष्यता की सेवा कर सके, इस उद्देश्य से अपने को तैयार रखने के लिए इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये:—

१. एक ऐसा शिक्षा का केन्द्र हो जहाँ एशिया के सभी लोग पढ़ सके।
२. एशियायी संघ की स्थायी सभा को एशिया की उन्नति करनेवाले आन्दोलनों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
३. अमेरिका और रूस की सहानुभूति तथा जापान के हाथ बंटाये बिना चीन की अवस्था मे सुधार नहीं हो सकता।

एशियायी संघ से रूस की सदा सहानुभूति रही है। वहाँ के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ ने इस संघ के विषय में अपना विचार प्रदर्शित करते हुए कहा था—'अपनी आर्थिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एशियायी राष्ट्र जो कोई भी आन्दोलन करते हैं उसमे रूस सदा सहायता करता आया है और भविष्य मे भी करता रहेगा। एशियायी संघ के उद्देश अभी तक बिलकुल साफ नही रहे है। एक प्रभावशाली संस्था बनने के लिए उसे अपनी यह कमी दूर कर देनी चाहिए'।

प्राच्य देशों मे राष्ट्रीयता का इतना जबर्दस्त भाव पहले नहीं था। जिस समय यहाँ के राष्ट्र संसार मे सबसे उन्नत थे उस समय भी यहाँ के लोगो में 'वसुधैव कुटुंबकम्' के ही भाव काम किया करते थे। वे अपने को किसी एक देश के साथ मिला नही देते थे। सोते, जागते, उठते, बैठते विश्व को अपना समझने का भाव उनमे काम करता रहा है। युरोपीय देशो की तरह उनमे स्वार्थ-परता नही थी। पीछे इसके दुरुपयोग और अन्य भावो के असामञ्जस्य से उलटा फल हुआ और यह भी यहाँ के राष्ट्रो की गुलामी का एक कारण हो सकता है परन्तु इसी कारण से ऊँचे विचारो को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। मनुष्य

भावना कार्य कर रही है। साम्राज्यवाद का धक्का लगने से इस भावना का जन्म लेना स्वाभाविक ही था। अब एशिया का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं बचा है जो अपने को विदेशी लोगों के चंगुल से मुक्त हुआ न देखना चाहता हो।

एशियायी संघ

स्वतन्त्र होने के लिए सभी एशियायी राष्ट्र एक सूत्र मे बँध जाना चाहते हैं। इसी प्रयत्न के लिए एशियायी सम्मेलन भी हुआ करते हैं। इसकी सबसे पहली बैठक १९२६ के अन्त में जापान में हुई थी। इस सम्मेलन में एशियायी लोगों ने एक होकर युरोपियन लोगों का सामना करना चाहा था। दूसरी बैठक १९२७ में शंघाई में हुई थी। चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिंटांग ने इसका समुचित स्वागत किया था। उसी अधिवेशन में इस सभा ने निम्नलिखित उद्देश अपने लिए निर्धारित किये थे:—

१. किसी भी प्रकार का दबाव किसी पर डाला जाना अनुचित है। व्यक्तियों तथा समाज को अपनी उन्नति करने तथा मनुष्य-मात्र की उन्नति करने मे पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए।
२. मनुष्य मात्र के लाभ की दृष्टि से यह सभा एशियायी राष्ट्रो में एकता प्रस्थापित करने का प्रस्ताव पास करती है जिसमें वे सब मिलकर अपनी रक्षा कर सकें।

सभी एशियायी राष्ट्र मनुष्यता की सेवा कर सकें, इस उद्देश्य से अपने को तैयार रखने के लिए इस सभा ने निम्न-लिखित प्रस्ताव पास किये:—

१. एक ऐसा शिक्षा का केन्द्र हो जहाँ एशिया के सभी लोग पढ़ सकें।
२. एशियायी संघ की स्थायी सभा को एशिया की उन्नति करनेवाले आन्दोलनों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
३. अमेरिका और रूस की सहानुभूति तथा जापान के हाथ बंटाये बिना चीन की अवस्था मे सुधार नहीं हो सकता।

एशियायी संघ से रूस की सदा सहानुभूति रही है। वहाँ के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ ने इस संघ के विषय में अपना विचार प्रदर्शित करते हुए कहा था—'अपनी आर्थिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एशियायी राष्ट्र जो कोई भी आन्दोलन करते है उसमें रूस सदा सहायता करता आया है और भविष्य मे भी करता रहेगा। एशियायी संघ के उद्देश अभी तक बिल्कुल साफ नहीं रहे हैं। एक प्रभावशाली संस्था बनने के लिए उसे अपनी यह कमी दूर कर देनी चाहिए'।

प्राच्य देशो मे राष्ट्रीयता का इतना जबर्दस्त भाव पहले नहीं था। जिस समय यहाँ के राष्ट्र संसार मे सबसे उन्नत थे उस समय भी यहाँ के लोगो मे 'वसुधैव कुटुंबकम्' के ही भाव काम किया करते थे। वे अपने को किसी एक देश के साथ मिला नहीं देते थे। सोते, जागते, उठते, बैठते विश्व को अपना समझने का भाव उनमे काम करता रहा है। युरोपीय देशो की तरह उनमे स्वार्थ-परता नहीं थी। पीछे इसके दुरुपयोग और अन्य भावो के असामञ्जस्य से उलटा फल हुआ और यह भी यहाँ के राष्ट्रों की गुलामी का एक कारण हो सकता है परन्तु इसी कारण से ऊँचे विचारो को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। मनुष्य

का धर्म स्वार्थ-भाव को दिन-दिन कम करते जाना है।

धक्का लगने पर प्राच्य देश युरोपीय आदर्श और व्यवहार की ओर बड़ी ही द्रुत गति से झुकते जा रहे हैं। उनकी नक़ल में उन्होंने राष्ट्रीयता का भाव भी अपना लिया है। अब इन देशों के नवयुवकों के भीतर भी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के भाव आ गये है। विदेशी शक्ति की जड़ अपने देश से उखाड़ फेंकने के लिए वे भी पाश्चात्य ढंगों को अपनाते हैं। रूस ने जिस प्रकार से स्वतंत्रता प्राप्त की, यहाँ के लोग भी उसी प्रकार से प्राप्त करना चाहते हैं। विदेशियो के आतंक से अपने को बचाने के लिए उनका ढंग अपनाकर काम करने से उन्हें सफलता भी मिली है और भविष्य में भी मिलने की आशा है।

रूस और एशियायी राष्ट्रो के विचारों में बहुत-कुछ समानता है। एशियायी विचारो को रूसी विचार सहायता पहुँचाते है इसीलिए एशियायी राष्ट्र रूस की ओर बहुत आकर्षित हुए हैं। आज हम एशिया के किसी भी आधुनिक स्कूल वा कालेज में जायँ जोशीले विद्यार्थियो को बातचीत करते समय हम पग-पग पर लेनिन का नाम लेते हुए सुनेंगे। विद्यार्थियों के मन पर फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने और उससे भी अधिक रूस की राज्यक्रान्ति ने अपना प्रभाव डाला है। विद्यार्थियो को जब कभी किसी आदर्श राज्य-प्रणाली का वर्णन करना होता है तो वे सोवियट संस्थाओं का वर्णन किया करते है। आधुनिक युग का सब से बड़ा आदमी उनके विचार में लेनिन ही है। उनका यदि बस चले तो वे भारतवर्ष मे भी सोवियट ढंग की ही राज्य-प्रणाली स्थापित करें।

रूस का प्रभाव

केवल शिक्षित समाज ही नहीं बल्कि अनपढ़ जनता भी रूस की राज्यक्रान्ति से अनभिज्ञ नही हैं। वह भी समझती है कि जैसे अंग्रेजों की लड़ाई जर्मनी से हुई थी वैसे ही रूस से भी होगी। रेलवे स्टेशनो से अनेक मील दूर के गांवो में रहनेवाले कितने आदमी किसी पढ़े-लिखे आदमी को रास्ते से जाते हुए देखते है तो बड़ी उत्सुकता से उनसे सुनने की कोशिश करते है कि रूस और अंग्रेजी सरकार में कबतक लड़ाई छिड़नेवाली है ? वे अंग्रेजों द्वारा दबाये जाते हैं, कर का बोझ उनपर बढ़ता ही गया है इसलिए वर्तमान सरकार के अन्त की वे सदा प्रतीक्षा किया करते है।

भारत के वे स्वावलम्बी गाव !

कुछ देर के लिए हम लोग अंग्रेजों के भारतवर्ष मे आने के पहले की स्थिति को अपनी आंखो के सामने लावें। उस समय प्रत्येक गॉव अपने ही ऊपर निर्भर करता था। वहॉ के खेतो से जो उपज होती थी वही लोग खाते थे। गांव के जुलाहे कपड़ा बुन दिया करते थे, वही कपड़ा लोग व्यवहार करते थे। खेतो मे ही तीसी, सरसो, रेंड़ी आदि की उपज हो जाती थी उससे लोग तेल निकाल लिया करते थे; वही तेल लोगों के लगाने और जलाने के काम मे आता था। गॉव में ही लुहार रहा करता था जो कृषकों के लिए ओजार तैयार कर दिया करता था। गॉव का नाई लुहार के यहॉ से अस्तुरा बनवा लेता और उसी से लोगो की हजामत बना दिया करता था। लोगो के लिए मोची ही जूते तैयार कर दिया करता था। गॉव का ही धोबी लोगों के कपड़े रेह मिट्टी से साफ कर दिया करता

था। खेतों में ही तम्बाकू पैदा कर लिया जाता था जिसका लोग उपयोग किया करते थे। कुछ चीजे अवश्य ही ऐसी थी जिनके लिए बड़े-बड़े नगरों पर निर्भर करना पड़ता था। पीतल वा किसी और धातु के बर्तन प्रत्येक गाँव मे तैयार नहीं किये जा सकते थे इसलिए लोग उन्हे बड़े-बड़े नगरों से खरीद लाया करते थे। खाने का नमक बाजार से ही खरीदना पड़ता था। जानवरों के खिलाने का नमक गॉव के नोनियाँ ही तैयार कर लिया करते थे। गॉवों के बच्चों के लिए गाँवों की ही बकरियाँ अथवा गाएँ दूध दे दिया करती थी। लोगों को मक्खन आदि के लिए दूसरों पर आश्रित नही रहना पड़ता था। एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक गॉव के लोग अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर आश्रित नही रहा करते थे।

अब के गॉव

अंग्रेजों के आने पर अवस्था बिल्कुल ही बदल गई। गॉव अपनी आवश्यकताओ के लिए पूर्णरूप से अपने ही देशो के नगरों पर नहीं परन्तु बहुत दूर तक विदेशो पर आश्रित हो गये हैं। विदेशी चीजो का बहुत अधिक प्रवेश गाँवो में नही हुआ फिर भी उनमें महान् परिवर्तन हो गया है। भारतवर्ष के शहर पूर्णरूप से विदेशी हो गये। वहाँ की दूकानो में अधिकतर चीजें विदेशों से ही आई हुई रहती हैं। अब केवल शहरो में ही नहीं परन्तु कितने गाँवों में भी बच्चों को पिलाने के लिए हार्लिक्स इत्यादि के जमे दूध विदेशों से आया करते हैं। बच्चो को खिलाने के लिए मेलिन्स फूड, ग्लैक्सो आदि भी विदेशों से ही मँगाये जाते हैं। बड़े लोगों के उपयोग के लिए भी भारतवर्ष से भेजे गये गेहूँ व जव आदि

से तैयार कर लंडन से हंटली पामर बिस्किट, राबिसंन बार्ली हिन्दुस्तान में आता है। जलपान के लिए अमेरिका से क्वेकर ओट्स तैयार कराकर मंगाये जाते हैं। डेन्मार्क से तैयार बना-बनाया मक्खन आता है। * नमक तथा चीनी कितने जहाजों मे भर-भर कर भारतवर्ष में विदेशो से आते हैं। जलाने का तेल अमेरिका तथा इंग्लैंड की कंपनियाँ भेजा करती हैं। लैवेंडर, पियर्स आदि साबुन तथा खुशबूदार तेल विदेश से ही आते हैं। अब देशी मोचियों की आवश्यकता केवल जूतों के टूट जानेपर सुधारने के लिए ही रह गई। फ्लेक्स, अल्बर्ट तथा सैंडो आदि की बूट-कंपनियाँ लोगो के लिए जूते तैयार करने लगीं। गाँव के नाई अब विदेशी अस्तुरों से लोगो की हजामत बनाने लगे। शहरो के कुछ लोग वैलेट तथा अन्य सेफ्टी अस्तुरो के बिना अपनी हजामत बना ही नही सकते। चाक़ू, पेंसिल, छुरे, दावात, बच्चों के खिलौने आदि विदेश से ही बनकर आते हैं। भारत-वर्ष मे कितने शौक़ीन ऐसे भी निकल पड़े थे जिनके कपड़े पैरिस से धुलकर आया करते थे। मनिला की तम्बाकू के बिना शौक़ीनो का जी न भरता। देशी वर्तनो के स्थान पर जर्मनसिल्वर और क्राउन मार्के के विदेशी अल्म्युनियम के वर्तन बिकने लगे। ठाकुरजी पर चढ़ाने के लिए कट्टर से कट्टर पुजारी भी मैंचेस्टर की मिलो के कपड़े व्यवहार करने लगे। जुलाहो की आवश्यकता नहीं रह गई, उनके वदले लंकाशायर, मैंचेस्टर

---

* जब से स्वदेशी आन्दोलन चला है ये सभी चीजें स्वदेश में बनी हुई भी मिलने लगी हैं। —सम्पादक।

सहायता के स्वराज्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज चारों तरफ यही कोलाहल मच रहा है कि 'गांवों की ओर फिर से मुड़ो।' जो क्रांतिकारी दल विदेशो से थोड़े अस्त्र-शस्त्र मंगाकर वा स्वयं बम, रिवाल्वर तैयार कर विदेशियों को अपने देश से निकाल देने के लिए तैयार हो रहा था वह भी आज उस रास्ते को अधिक उपयुक्त नहीं समझता। वह भी समझता है कि वास्तविक कार्य गांवों में जागृति लाना है। क्रांतिकारियों में एक दल ऐसा हो गया है जो अपनी पुरानी नीति छोड़कर गॉवों में जा बैठा है।

गॉवो की ओर फिर से लौट चलने की आवाज का यही मतलब है कि लोग विदेशियो के चंगुल से अपना छुटकारा कर लें। इसका उद्देश यही है कि देश पुनः अंग्रेजों के आने के पहले की अवस्था का हो जाय। अब विदेशियों पर आश्रित रहकर भूखों मरना लोग नही चाहते। वे स्वावलम्बी बनना चाहते है, अपनी आवश्यकताओं की चीजे आप ही तैयार कर लेना चाहते है। रामराज्य अतीत में रहा हो वा न रहा हो परन्तु लोगों का विश्वास है कि जनता को सब से अधिक सुख रामराज्य में ही प्राप्त करने का अवसर मिला था। उसी रामराज्य की पुनः स्थापना करने का लोग प्रयत्न कर रहे है। अपने देश को वे पुनः पूर्वकाल के जैसा ही धन-धान्य से भरा बनाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि आधुनिक युग के साम्राज्यवादियों की तरह एशिया के राष्ट्र भी कहीं राक्षस न बन जायॅ। वे पहले की तरह मनुष्यता के उपासक एवं मनुष्य-मात्र के मित्र। बने रहना चाहते हैं।

अब लोग समझने लगे हैं कि स्त्रियो अथवा दलितों की अवस्था गिरी रहने से स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। ये समाज के मुख्य अंग हैं। इनके पीछे पड़े रहने से समाज पीछे पड़ा रहता है; इन्हे छोड़कर समाज आगे नहीं बढ़ सकता। बच्चों पर सबसे अधिक प्रभाव माताओ का ही रहता है। बच्चे ही आगे चलकर राष्ट्रोपवन के खिले हुए फूल बनते हैं इसलिए यदि उनका सुधार करना है तो स्त्रियों का सुधार करना ही पड़ेगा। स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं। पुरुष उन्हे सदा से दबाते आये। यहाँतक उन्हे दबाते गये कि उन्हे मनुष्य भी नहीं समझने लगे। इसी का परिणाम यह हुआ कि वे भी गिर गये। पुरुष आज उठना चाहते है इसीलिए वे स्त्रियो को भी उठाना आवश्यक समझते है।

स्त्रियों एव दलितों का सुधार

अछूतों के साथ भी समाज बहुत बुरा व्यवहार करता आया है। इसका यह परिणाम हुआ कि हिन्दू-समाज दिन-दिन कमज़ोर होता जाता है। आज उसमें जागृति आई है इसलिए अपने अन्दर से इस पाप को वह निकालने में प्रयत्नशील है।

केवल घरेलू मामलो में ही नहीं परन्तु बाहर के मामलों मे भी एशियायी राष्ट्र समझने लगे हैं कि उनका हित-अनहित किन-के साथ मैत्री-द्वेष रखने से सिद्ध हो सकता है! अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने उनपर बहुत अत्याचार किये और सदा इसी प्रयत्न में रहे कि एशिया-वासियो को किस प्रकार से गुलाम बनाकर रखा जाय! एशियायी राष्ट्र इन लोगों से जहाँतक बच सकते है बचने की कोशिश करते हैं

सहानुभूति की दिशा

परन्तु संसार के किसी भी राष्ट्र से सम्बन्ध न रखकर वे जीवित नहीं रह सकते इसलिए उनका किसी न किसी के साथ सम्बन्ध रखना आवश्यक ही है। वे देख लेते हैं कि कौन राष्ट्र उनकी स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता और उन्हे गुलाम बनाने की चेष्टा नहीं करता; उससे वे घनी मित्रता स्थापित करलेने की चेष्टा करते हैं और उसी की सलाह भी लेते हैं। रूस की अभी धाक अधिक नहीं है। उसे युरोपीय राष्ट्रों ने एक प्रकार से जातिच्युत-सा बना रखा है। रूस अवश्य ही आशा रखता है कि कुछ ही दिनों बाद युरोपीय राष्ट्र भी उसके ही समान हो जायँगे और इंग्लैंड ही जातिच्युत-सा हो जायगा। एशियायी राष्ट्रों को भी रूस की सफलता पर विश्वास है परन्तु दो कारणों से वे रूस से दिल खोल कर मिलने में डरते हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्रो से लड़ने की उनमे अभी काफी शक्ति नहीं है; उनके विरोधी बन जाने से वे डरते है। दूसरे वे रूस को भलीभांति पहचान लेना चाहते है कि कहीं उसने साम्यवाद की चादर के भीतर साम्राज्यवाद तो नही छिपा रखा है? अमेरिका ने एशियायी राष्ट्रो के साथ बहुत-कुछ सहानुभूति प्रगट की है। उसका सहानुभूति दिखलाने का कारण युरोपीय राष्ट्रो से वैर-भाव रहना भले ही हो एशियायी राष्ट्रों को प्रत्यक्ष रूप में उसने नहीं दबाया है इसलिए एशियायी राष्ट्र उससे भय नही खाते। एशियायी राष्ट्रों में किसी राष्ट्र को अर्थ-सचिव आदि की आवश्यकता पड़ी तो अब वह अमेरिका से बुला लेना उतना खतरनाक नही समझता है। महासमर के बाद जर्मनी के हाथ से एशिया के सभी उपनिवेश निकल गये। एशिया के राष्ट्र अब समझते है कि जर्मनी की नीयत उनके

लिए हानिकर नहीं है इसलिए उससे भी अपना सम्बन्ध बनाये रखते हैं। चीन में चियांग-काई-शेक की सरकार ने जर्मनी के साथ केवल बराबरी की व्यापारिक सन्धि ही नहीं कर ली बल्कि अपने लिए बहुत-से जर्मन-सलाहकार भी रख लिये थे। फ़ारस ने भी अपने यहाँ एक जर्मन आर्थिक सलाहकार रखा। अफ़ग़ानिस्तान के साथ भी जर्मनी का अच्छा सम्बन्ध है। एशियायी राष्ट्र अब दूसरों की सलाह लेने में भी सजग हो गये है। यह बात उनकी उन्नति मे सहायक होगी।

साम्राज्यवाद ने चिरकाल तक अपना दास बनाये रखने के लिए एशिया के मानवीय भावों को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है। किसी को गुलाम बनाने के लिए उसकी मनुष्यता छीन लेना, उसके आत्म-विश्वास और अन्तःप्रेरणा को नष्ट कर देना उसे गुलाम बनाने का सब से बड़ा अस्त्र है। एशिया ने अपनी कठिनाई, अपनी बाधा जान ली है। वह फिर से मनुष्यता प्राप्त करना चाहता है। अपने उद्देश-पूर्ति के लिए चाहे जिस साधन का भी वह उपयोग क्यो न करे उसका लक्ष्य पुनः मनुष्यता प्राप्त करना ही है।

मनुष्यता की रक्षा के लिए एशिया का दासत्व से मुक्त होना परमावश्यक है। यहाँ की भूमि का प्रत्येक इंच एशियायी लोगो के अधिकार मे रहना चाहिए। यहाँ के राष्ट्रों की राज्य-प्रणाली साम्यवादी, प्रजासत्तात्मक अथवा चाहे जिस ढंग की हो, उसे एशियायी लोगो के अधिकार में ही रहना चाहिए क्योंकि वैसा होनेपर ही संसार में शांति रहेगी और उस शांति से मनुष्य-मात्र का कल्याण होगा।

एशियायी राष्ट्रों में नवीन भावों की प्रगति देखते हुए मालूम पड़ता है कि वे शीघ्र ही मनुष्यता के सबसे बड़े शत्रु आर्थिक साम्राज्यवाद का पूर्णरूप से अन्त कर देंगे।

[१२]

आगे क्या है ?

एशिया में जिस प्रकार की लहर उठ रही है उससे दिन-दिन स्पष्ट होता जा रहा है कि अब संसार के सामने सबसे बड़ी समस्या यही रहेगी कि युरोप और एशिया का कैसा सम्बन्ध रहे ? महासमर के पहले जर्मनी की वृद्धि का प्रश्न इस प्रश्न की तुलना में कुछ भी नही है। एशियावासी समझ रहे है कि युरोप ने उनका सत्यानाश कर दिया है; वे उठकर रूस के नेतृत्व में दिन-दिन अधिक संगठित और शक्तिशाली होते जा रहे हैं। पूर्णरूप से शक्तिशाली हो जाने पर वे युरोप वालो से प्रश्न करेंगे—'बतलाओ ! तुम्हारे कृत्यो का तुम्हे क्या दण्ड दिया जाय ?'

आधुनिक पाश्चात्य जगत् ने संसार मे किसी भी जीव का शांति से बैठना असम्भव बना दिया है। स्वार्थ आज उनमे नग्न रूप धारण कर नृत्य कर रहा है। वे रात-दिन दौड़ रहे हैं। इस दौड़ का अन्त कहाँ जाकर होगा, इसका स्वयं उन्हे भी कुछ पता नहीं है। उनकी नीति के लिए महासमर एक बहुत बड़ी ठोकर था परन्तु उससे भी वे सचेत नहीं हुए। अब भी वे उसी नाशक नीति को अपनाये हुए है। राष्ट्र-संघ धोखे की टट्टी है, जहाँ शान्ति की बाते होती हैं—ठीक उसी समय जब देश मे जंगी जहाजो का निर्माण होता रहता है और सैनिक

व्यय बढ़ता जाता है। वे कहते हैं कि राष्ट्र-संघ का उद्देश संसार में शांति स्थापित करना है परन्तु वास्तव में वह उनकी कुत्सित नीति को ढककर उसका रूप और भी अधिक भयानक बना देनेवाली चीज़ है। राष्ट्र-संघ महासमर में विजयी राष्ट्रों के हाथों का पुतला मात्र है। भारतवर्ष तथा दूसरे राष्ट्रों पर ग्रेट-ब्रिटेन अपना अधिकार जमाये हुए है; लोगों को वह जबर्दस्ती अपने अधिकार में रखे हुए है, और दूसरी ओर संसार में शांति-स्थापन करने की बातें करता है। अमेरिका भी संसार में शांति-स्थापन करने की डींग हांकता है फिर भी फिलीपाइंस वालों को स्वतंत्रता की इच्छा रहते हुए भी उन्हें स्वतंत्र नहीं होने देता। वह और भी दूसरे देशो को व्यापार के ज़रिये दिन-दिन जकड़ता जाता है। फ्रांस और इटली भी उपर्युक्त राष्ट्रों से कम नहीं है। संसार के सीधे लोगो को ठगने के लिए साम्राज्यवादियों ने अपना गुट्ट बनाकर राष्ट्र-संघ का ढोंग रचा है।

थोड़े-से साम्राज्यवादियों की स्वार्थ-नीति के कारण सारा संसार तबाह हो रहा है। साम्राज्यवादियों ने गत महासमर मे करोड़ो आदमियो को अपने लाभ की वेदी पर चढ़ा दिया और अभी उससे भी भयानक महासमर की तैयारी में लगे है। युरोप के लोग उससे बहुत अधिक तबाह हो रहे है। वहाँ के विचारक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि युरोपीय शक्तियाँ आपस में ही लड़ती-लड़ती मर जायँगी। यदि यही हाल रहा तो अगले सौ वर्षों मे वर्तमान पाश्चात्य जगत् का नामोनिशान भी शायद ही शेष रहे। इस भयानक विपत्ति से युरोप को बचाने के लिए वे प्राच्य

देशों की ओर मुख करके कहते है—'हे गांधो, हे तपस्वी ! इस ईर्षा, द्वेष और स्वार्थ के हल से कुरेदी हुई भूमि में प्रेम का बीज बो जाओ ।'

आज साम्राज्यवादियों के पैशाचिक अट्टहास से आकाश ऐसा गूँज रहा है; प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति में विरोध, कलह और ईर्षा की प्रवृत्ति उसे ध्वंस करने के लिए ऐसा उग्र रूप धारण कर रही है कि मनुष्यता का श्वासावरोध होता जा रहा है। प्रकृति-लीला दर्शन करानेवाले वैज्ञानिकों को साम्राज्यवादियो ने अपने जाल में फँसा रखा है। उनकी ही सहायता लेकर आज वे विज्ञान को अपने अर्थ-लोलुप कलुष-स्पर्श से व्यभिचारी बना रहे हैं। आज प्रकृति का परदा खोलकर दिखलानेवाले विचार-शील वैज्ञानिक समझ रहे है कि उन्हें साम्राज्यवादियों ने कैसा धोखा दिया है। महासमर के बाद ही ब्रिटिश युद्ध-विभाग ने बहुत से वैज्ञानिकों को रासायनिक युद्ध-प्रणाली (Chemical Warfare) मे वृद्धि करने के लिए बुलाया था। उस समय आमन्त्रित किये जाने वालो में एक आक्सफोर्ड के रसायन-शास्त्र के अध्यापक डा० फ्रेडरिकगौडी ने जाने से इन्कार किया क्योंकि वे समझते थे कि मरने-मारने में विज्ञान का उपयोग करना उसका व्यभिचार करना है।

वैज्ञानिको के मुखपत्र 'नेचर' ने एक स्थान पर बड़े ही करुण शब्दो मे प्रकाशित किया है—'हम लोगो ने विज्ञान की सहायता से एक दैत्य पैदा कर दिया है जो हम लोगों को ही खा डालेगा। विज्ञान-द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओ से युद्ध में सहायता लेना विज्ञान का व्यभिचार करना है। जोरदां (एक

प्रसिद्ध वैज्ञानिक) के शब्दों में विज्ञान का उद्देश मनुष्य की कार्य-प्रणाली, विचारशक्ति को उचित साँचे में ढालकर सभ्यता की उन्नति करना है परन्तु दुष्ट प्रकृतिवालों की दुष्टता कम करने की औषधि विज्ञान, शिक्षा वा अन्य उच्च वस्तुएँ नहीं हुआ करतीं।'

यदि साम्राज्यवादियों को विज्ञान की सहायता नहीं मिली होती तो न तो उनका आतंक ही इतना बढ़ सकता और न संसार मे इस प्रकार से 'नाश' 'नाश' की आवाज ही सुनाई पड़ती। नैचुरल साइण्टिफिक यूनियन के सभापति लियोनार्ड बार्लेटो ने एक स्थान पर कहा था—'हम लोगों मे से कोई भी वैज्ञानिक आविष्कारों-द्वारा अपने स्त्री-पुत्रों की हत्या होने की बात से भयभीत हुए बिना नहीं रहेगा। अब मालूम पड़ता है कि संसार-भर की सरकारें विज्ञान का जिस प्रकार से उपयोग कर रही हैं, उससे वे मनुष्य-मात्र का मूलोच्छेद कर देने मे भली-भांति सफल हो जायँगी। प्राणनाशक गैसो को ले जानेवाले वायुयान उन्नति के सूचक नहीं हैं, यदि वे ही डाक ले जाने, व्यवसाय बढ़ाने अथवा संकट के समय लोगों को बचाने के काम में लाये जायँ तो अवश्य ही मनुष्य का उपकार होगा।"

साम्राज्यवादियों ने विज्ञान का उपयोग कलह बढ़ाने मे किया। यही कारण है कि आज उनके नाश का चित्र सामने अंकित दिखलाई देता है। हम लोग अपने नित्यप्रति के जीवन मे दो प्रकार के मनुष्य पाते हैं। एक प्रकार के लोगो मे आक्रमण करने का और दूसरे में सह लेने का भाव प्रधान रहता है। पहले मालूम पड़ता है कि आक्रमणकारी का

ही सहन करनेवाले पर प्रभुत्व है परन्तु कुछ ही दिनो बाद यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है कि सहन करनेवाला मनुष्य आक्रमणकारी को बाँध लेता है। आक्रमणकारी बहुत अधिक थका रहता है इसलिए उसे बँध जाने पर रोष नही होता। राष्ट्र भी ठीक इन्हीं दो प्रकार के विचारों के होते है। पाश्चात्य राष्ट्रो मे आक्रमण-कारियो के समान गुण है; वे आक्रमण करते हैं। एशियायी राष्ट्र सहन करने वाले राष्ट्र है; वे आक्रमण सहन कर लेते है और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर आक्रणकारी को अपने कब्जे मे कर लेते है।

सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि से सहन कर लेने का भाव ही लाभदायक सिद्ध होता है। कितने पाश्चात्य विद्वानो का तो यहाँ तक ख़याल होने लगा है कि प्राच्य देशो के ही लोग जीवित बचेगे। पाश्चात्य राष्ट्र उनपर कब्जा जमाने के लिए ही आपस मे लड़कर नष्ट हो जायँगे।

संसार के कल्याण के लिए स्वार्थ-त्याग करना ही पड़ता है। पाश्चात्य राष्ट्र थोड़ा भी स्वर्थ छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं इसलिए उनके द्वारा मनुष्य-मात्र के कल्याण होने की आशा नहीं की जा सकती। सोते-जागते, उठते-बैठते उनके भीतर अपने स्वार्थ की पूर्ति का ही भाव काम करता है। यूरोपीय राष्ट्र अपना-अपना लाभ ही सदा देखा करते हैं। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए विश्व-बन्धुत्व का भाव आवश्यक है पर इसका उनमें अभाव है।

दूसरी ओर एशियायी लोगों के भीतर बजनेवाली तंत्री एक श्लोक-द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। भारतवर्ष

आदि राष्ट्र आज बहुत अधिक अवनति की अवस्था में हैं। अन्ध-विश्वास, अशिक्षा, दुर्भिक्ष आदि का साम्राज्य फैला हुआ है; फिर भी वैसे कष्ट की अवस्था में रहते हुए वे न केवल सारे संसार के मनुष्यों की ही वरन् छोटे से छोटे तिनके तक की मंगल-कामना किया करते हैं। वे ही अशिक्षित, क्षुधापीड़ित नित्य जपा करते हैं:—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥'

यहाँ पर सर्वे का अर्थ केवल भारतवर्ष अथवा समस्त संसार के मनुष्यों से ही नही बल्कि छोटी से छोटी वनस्पतियों से ब्रह्म तक, 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्तं जगत्' से है। पूर्वी राष्ट्रों के लोग संसार को अपने से अलग रखना नहीं चाहते; वे सबों को अपने शरीर का अंगभूत समझने की कोशिश करते हैं।

पूर्वी राष्ट्रो की अवनति के कारणों में सबसे बड़ा कारण उनका यही उदारभाव बतलाया जाता है पर यह लोगो की भूल है। सद्धर्म से सदा मनुष्य का अभ्युदय होता है, वह उसे नीचे कभी नहीं गिराता। फिर यहाँ हम लोगों को मनुष्यता की दृष्टि से विचार करना है। यों तो पशु भी अपना पेट भर लिया करते हैं, यदि मनुष्यों में ऊँचे आदर्श स्वार्थ-त्याग की प्रवृत्ति और उदारभाव नही रहे तो उनकी विशेषता ही क्या है? मनुष्य-समाज के कल्याण, उन्नति तथा मानवधर्म को जीवित एवं जागृत रखने के लिए उच्च आदर्शों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। ये उदारभाव ऊपर से कभी-कभी दुर्वलता लानेवाले दिखाई पड़ते है पर यदि शान्त चित्त से विचार किया जाय तो ये दुर्वलता के

नहीं बल्कि महान् शक्ति के लक्षण हैं। आज रोम, युनान, मिश्र आदि की सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं है परन्तु उच्च आदर्शों के ही कारण भारत और चीन की प्राचीन सभ्यता अभी भी अपना सिर ऊँचा किये हुए है।

अभी प्राच्य राष्ट्र पश्चिमी जगत् की चमक से चकाचौंध में पड़ गये हैं। वे उनका ही अनुकरण करना चाहते हैं परन्तु यह अनुकरण करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। वे पाश्चात्य सभ्यता को अपने भीतर लेले यह सम्भव है परन्तु वे पाश्चात्य सभ्यता मे ढल जायँ यह सम्भव नही है। जिस प्रकार संसार की एक महान् समस्या को हल करने का प्रयत्न कॉर्ल मार्क्स ने किया उससे कही अधिक उपयोगी एशियायी राष्ट्रों का प्रयत्न होगा। आज साम्राज्यवादियो ने मनुष्यता को रोगी कर रखा है, उसका समुचित उपचार एशियायी राष्ट्र ही कर सकेंगे।

एशिया मे अभी क्रान्ति का युग है। जिस प्रकार रात्रि के व्यतीय होने पर दिन का आना स्वाभाविक है वैसे ही क्रान्ति के बाद संगठन का काल आना स्वाभाविक है। अभी एशियायी राष्ट्रों को सबसे बड़ी फ़िक्र इसी बात की लगी हुई है कि किस प्रकार वे साम्राज्यवाद के चंगुल से अपना पीछा छुड़ावें। युद्ध के समय कुशल सैनिक अपने खीमो को संसार के उत्तमोत्तम वस्तुओ से सजाने की कोशिश नही करता। भावी संगठन के विषय मे, सामने आनेवाली समस्याओ के विषय मे चीन, भारत वा अन्य किसी एशियायी राष्ट्र ने अपनी कोई खास नीति निर्धारित नहीं की है परन्तु इतना स्पष्ट है कि वे अपने निजी स्वार्थ के लिए अपने देश भाइयो का अथवा दूसरे राष्ट्रों का खून चूसना नहीं चाहेंगे।

साथ ही समाज का जो वर्तमान संगठन है उसे अधिक दिनों तक चलने देना भी पसन्द नहीं करेंगे। वे कभी ऐसा नहीं होने देंगे कि किसी मनुष्य के पास इतना अधिक धन हो जाय कि उसे उसका उपयोग ही नहीं मालूम और दूसरा ऐसा निर्धन हो कि उसे सारे दिन मिहनत करने पर भी दो पैसे न प्राप्त हों! मनुष्य-समाज जितना अधिक बढ़ता गया है उसकी समस्याएँ उतनी ही जटिल होती गई हैं। इस समस्या को हल करने का प्रयत्न एशिया के किसी-किसी भाग में अभी से प्रारम्भ हो गया है। भारतवर्ष में चरखों का चलना फिर से आरम्भ हो गया है। चरखों की महत्ता इसी बात में है कि उनके रहने से उत्पत्ति केन्द्रीभूत नहीं हो पाती। उत्पत्ति केन्द्रीभूत न होने से असमानता बहुत अधिक नहीं बढ़ सकती। कल-कारखानों ने मजदूरों को मनुष्य कहलाने योग्य नहीं छोड़ा है। चरखे से उस प्रकार से मनुष्यता तिरस्कृत नहीं की जा सकेगी। यह सोचना ग़लत है कि वह अति प्राचीन प्रणाली है इसलिए उसे छोड़ दें। अत्यन्त विकसित और प्रारम्भिक अवस्थाओं की चीजों का बाह्यरूप एक-सा ही होता है। चरखा भी अत्यन्त विकसित है इसलिए उसका रूप अत्यन्त प्राचीन-सा दीखता है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में बड़े-बड़े यन्त्र चलते थे वा नहीं इसका विवेचन करने का यह स्थान नहीं है फिर भी इतना स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रन्थों ने 'महायन्त्रप्रवर्तन' का विरोध किया है। सम्भव है उनसे आगे आनेवाली ख़राबियों का विचार करके ही उनका विरोध किया गया हो। भावी एशिया अपनी जो भी आर्थिक नीति अपनायगा उसके द्वारा सभी आर्थिक समस्याएँ हल करने का

प्रयत्न करेगा। वह अपने और दूसरे राष्ट्रों के कल्याण की दृष्टि से ही कार्य करेगा। सभी एशियायी देशो का शिल्प नष्ट,हो गया है परन्तु जीवित रहने के लिए वे अपने यहाँ शिल्प की वृद्धि अवश्य ही करेगे। अपने यहाँ के कच्चे माल का आप ही उपयोग करेगे। विदेशी उस समय किसी भी बहाने से उनपर अधिकार नही जमा सकेगे।

संसार के अधिकतर लोगों को महासमर के पहले पाश्चात्य सभ्यता के राक्षसी होने मे कुछ सन्देह था परन्तु महायुद्ध के बाद उनका वह सन्देह भी जाता रहा। महासमर के वाद से प्राच्य देश पूर्णरूप से सजग हो गये है।

एशिया के इतिहास में वर्तमान पाश्चात्य राष्ट्रो की तरह दूसरों पर आधिपत्य जमाने का भाव कभी नही रहा। समुद्रगुप्त-जैसे व्यक्ति साम्राज्यवादी थे परन्तु वे दूसरो से केवल बातो द्वारा अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। वर्तमान समय की तरह अधीनस्थ लोगो के खून के प्यासे नहीं रहते थे। यदि हमे एशिया की वास्तविक प्रवृत्ति को पहचान लेना है तो यहाँ के महान् व्यक्तियो पर दृष्टि डालनी चाहिए। सामाजिक आचार-व्यवहार और उसके परिवर्तन होने के ढंग उन महान् व्यक्तियों के विचार और स्वप्नों के अतिरिक्त कुछ भी नही हो सकते। एशियायी लोगों पर भगवान् बुद्ध तथा प्राचीन ऋषियों का बहुत अधिक प्रभाव है। यहाँ के लोगो के जितने भी कार्य होते हैं पैसे-रुपयो पर दृष्टि रखकर नहीं! भगवान् बुद्ध अथवा प्राचीन ऋषियों का आदर करने वाला राष्ट्र कभी अपने भाइयों के खून से अपना हाथ कलंकित

करना पसंद नहीं करेगा ।

क्रान्ति में सफल होने पर एशियायी राष्ट्रों में इतनी शक्ति रहेगी कि युरोपीय अथवा दूसरे राष्ट्र उन्हें गुलाम नहीं बना सकेंगे। अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण एशियायी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बनाने जायँगे ही नहीं। आज एशिया को भी मरने-मारने के लिए उद्यत देखकर हम लोगो को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह भी पाश्चात्य राष्ट्रों की तरह खून का प्यासा है। एशियायी क्रान्ति शांति स्थापित करने वाली है। उसने क्रांतिकारी वेश में भीलो के तीर नहीं बल्कि शांति की मोहिनी बाँसुरी छिपा रखी है। जिस समय एशियायी राष्ट्र क्रान्ति मे सफल होंगे वह वंशी बजने लगेगी। उस समय सभी मनुष्य दूसरे मनुष्यों को बराबरी का समझेंगे, उनमे समानता रहेगी। मनुष्य-मात्र के लिए वह सबसे अधिक सुख का समय रहेगा। उस समय चारोतरफ शांति विराजेगी। एशियायी क्रान्ति मनुष्य-समाज के सामने आया हुआ प्रेम और शांति का संदेश है। आज सारे संसार की निगाह एशिया पर है। एशियायी क्रान्ति की सफलता और उसकी भावी नीति बतलायेगी कि आगे क्या है और वही निश्चित करेगी कि न केवल एशिया के परन्तु सारे संसार के, सारे मनुष्य-समाज के दिन कल कैसे हैं !

एशिया की क्रान्ति

[परिशिष्ट]

१—वर्तमान एशिया [ले०—श्री परिपूर्णानन्द वर्मा]

२—ईरान और ब्रिटेन [ले०—श्री रामनाथ 'सुमन']

[१]

वर्त्तमान एशिया

उपर्युक्त अध्याय लिखे लगभग चार वर्ष हो गये। तब से न जाने कितना जल गंगा में वह गया। एशिया के वक्षस्थल पर न जाने कितने भीषण, दुःखद तथा मनमोहक और सुखद नाटक खेले जा चुके। तीन वर्ष पूर्व जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, ऐसी बातें भी घटित हुईं।

सस्कार-संघर्ष

एशिया के वर्त्तमान युग का स्मरण करते ही चीन का सब से पहले ध्यान आता है। इसका कारण है। भारत के बाद, सभ्य संसार का मुकुट-मणि चीन ही था। चीन में साम्राज्य का जो रूप था, वह तत्कालीन साम्राज्यों के लिए आदर्श था। मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण पढ़ने पर यह ध्रुव-विश्वास हो जाता है कि सत्रहवीं सदी तक भी, युरोप का रोमन,—पवित्र रोमन—वाइजैण्टाइन—, फ्रेञ्च या जर्मन-साम्राज्य चीन के विशाल तथा सुसंघटित साम्राज्य के सम्मुख एक खिलवाड़ की वस्तु थी। इस समय, सब से ताजी गणना के अनुसार, संसार में ३६ करोड़ २० लाख रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई है। इन ईसाइयो के धार्मिक संघटन के कारण ही आज संसार मे इनका प्रभुत्व है. प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों की संख्या जाने दीजिए। सत्रहवी सदी में चीन लगभग २७ करोड़ आबादी का 'बौद्ध-कनफ्यूसियस—ताओ' धर्मों का समन्वय कर, उनको समान

आदर से पूजनेवाला, एक आचार तथा संस्कारवाला राष्ट्र था—और दृढ़ ऐक्य तथा एक-छत्र सम्राट् के अधीन होने के कारण चीन का सम्मान और पद भारत से विशेष आगे बढ़ गया। क्रमशः चीन की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। जिस समय चीन पर एक सम्राट् का शासन था, उस समय भारत कम से कम तीन टुकड़ों में बँटा हुआ था। अशोक भी पूरे भारत के स्वामी नहीं थे। जब चीन का पतन होने लगा, भारत अंग्रेजों की मजबूत मुट्ठी में आ चुका था। उधर एक विनष्ट साम्राज्य के पराजित वैभव पर अजीब लूट हो रही थी। युरोपीय राज्यों की वैसी ही दशा थी जैसे मरे शेर को देखकर स्यार उसकी लोथ के निकट निर्भय खड़े रहने में अद्भुत आत्माभिमान का अनुभव करते हैं, फिर भी लोथ ले भागने से डरते हैं! संभव है शेर जी उठे! चीन की सभ्यता तथा संस्कार का आतङ्क चारों ओर छाया हुआ था। विदेशी चीनी से भीतर ही भीतर डरते थे; उसकी सभ्यता के सामने अपने को छोटा समझते थे। फिर भी वे इतनी बड़ी शक्ति की दुर्बलता मे वही सुख लूट रहे थे जो रोमन-साम्राज्य पर प्रभुत्व जमाने पर बर्बर जाति ने लूटा था। धीरे-धीरे चीन में विदेशी शक्तियों ने यह समझ लिया कि वे स्वच्छन्दतापूर्वक चीन को हड़प नहीं सकतीं। यह संघर्ष पाशविक शक्ति का नहीं, किन्तु संस्कारो का संघर्ष हो गया था।

यही कारण है कि चीन एशिया की क्रान्ति में सब से महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। चीन ने विदेशी शक्ति का जमकर मुकाबला किया। ईसाई पादरी चीन को ईसाई बनाना चाहते थे। चीनी अपने धर्म पर इतने अचल थे कि उन्हे पादरियों की सत्ता ही

बुरी लगी। फलतः पादरियों पर अत्याचार हुए। उन पादरियों के धर्म-प्रचार के साथ संगीन और बन्दूक़ की सहायता शामिल कर दी गई। यही से यह संघर्ष प्रारम्भ हो गया और दवी ज़बान से अनेक युरोपीय राजनीतिज्ञों ने इसे स्वीकार किया है। युरोपीय नरेशों में जर्मनी की 'शांतुंग' नीति के प्रवर्त्तक विल्हेल्म क़ैसर द्वितीय ने अपनी आत्म-कथा में इसपर दवी ज़वान से प्रकाश डाला है। और चूँकि चीन ने विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण से अपनी रक्षा करने का आदि में झंडा उठाया था, इसलिए वह एशिया के लिए सब से प्रधान अङ्ग हो गया। चीन की विजय एशियाई विजय थी। आगे चलकर, संस्कार के संघर्ष ने अधिकार संघर्ष का रूप धारण कर लिया, यह वात पाठक भली प्रकार पढ़ चुके हैं।

किन्तु, जब चीनी प्रजातंत्र की रचना हो गई, उस समय चीन के सामने दो विकट समस्याएँ उपस्थित हुईं। चीनी स्वभावतः कर्म-तथा-धर्म-भीरु होते हैं। अनुदारता या दक़ियानूसीपन उनके दिमाग़ की पहली निशानी है। पर, जव एक वात उनकी समझ में आ जाती है,वे उसे अपना लेते हैं, तव उससे हटते नहीं। अमेरिका की एक प्रसिद्ध बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि जापानी तुरन्त जान-बीमा करा लेते हैं। जोश में आकर वे तुरत काम कर बैठते हैं। पर, पीछे वे पलट भी जाते हैं और पॉलिसी डूब जाती है। पर, चीनी वहुत सोच-समझ कर जान-बीमा करावेगा; हाँ, यदि करा लेगा तो जीवन-भर निवाहेगा। यही भावुकता—शीघ्रता जापानी

जापानी वैर

अभ्युदय की शीघ्रता का कारण है और यही दीर्घसूत्रता चीनी-विकास की मन्द-गति का कारण है। अस्तु, जब चीन ने विदेशी संस्कार तथा विदेशी शक्ति को पराजित कर दिया और आत्म-गर्व से प्रत्येक चीनी की छाती फूली नहीं समाती थी, इसी समय रूस के समर्थकों ने, यानी बोल्शेविकों—वर्गवादियों ने, चीन की नई सरकार पर अधिकार कर, अपने वर्षों के स्वप्न को सत्य सिद्ध करना चाहा। राष्ट्रीय सरकार के सामने बड़ी अड़चनें उठ खड़ी हुईं। एक ओर वर्गवादी मजदूरों को भड़का रहे थे, हड़ताल हो रही थी। दूसरी ओर लाल षड्यंत्र की तैयारी हो रही थी। कुछ नवयुवक लाल झण्डे के आकर्षण में आ गये थे। पर, वर्गवाद एक विदेशी सिद्धान्त था। उसको अपनाने मे फिर एक विदेशी शक्ति से हाथ मिलाना पड़ता। इसीलिए अधिकारियों ने वर्गवाद को कुचलना शुरू किया। चीन में 'लाल' मतवाले पकड़े जाने लगे। सैकड़ों जेल भेजे गये। कितने ही देश से निकाले गये। घबड़ाकर सरकार ने हरेक नवयुवक पर अविश्वास करना शुरू किया। विद्यार्थी-आन्दोलन ही कुचला जाने लगा। फलतः विद्यार्थी राष्ट्रीय सरकार से क्षुब्ध हो गये। चिंग-काई-शेक की शिशु राष्ट्रीय सरकार के सामने बड़ा संकट-काल आ गया।

पाठकों को स्मरण है कि कोरिया और मञ्चूरिया में जापानी नीति के कारण चीनी जनता कितनी क्षुब्ध रहती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि जापान बीच में अड़ंगा न लगाता तो रूस या जर्मनी वही काम करते पर जापान का दोष यह था कि उसने अड़ंगा लगाकर चीन की रक्षा नहीं की, अपना

पेट भर लिया। जापान ने विदेशी संस्कार से पराजय स्वीकार कर, विदेशी नीति और कूटनीति को अपना लिया था। चीन के बँटवारे में जापान भी एक आततायी था और एक सहधर्म्मी पड़ोसी और भूतपूर्व प्रजा होने के नाते चीन उससे ऐसी आशा नहीं करता था। इसीलिए चीन उसे क्षमा नहीं कर सकता था। जब चीन की राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो गई और चीन ने यह दिखला दिया कि वह एक नवीन जागृत राष्ट्र है, जापान ने अपनी नीति बदलने का विचार किया था। उसने तत्परता के साथ राष्ट्र की नई सरकार को स्वीकार कर लिया था। पर चीन को नवयुवक समुदाय प्रत्येक पिछले आततायी से बदला लेना चाहता था। बदला ही नहीं, दण्ड देने के बाद उसपर जुल्म तक करना चाहता था। जापान के प्रति उसका पहला क्रोध स्वाभाविक ही था। राष्ट्रीय सरकार अधिक सतर्क थी। वह सम्हलकर चलना चाहती थी। पर उसे वर्गवादी आक्रमण रोकना था। इस दिशा मे वह नवयुवकों का दमन कर रही थी। पर, वह नवयुवक-क्रान्ति तथा गृह-युद्ध के लिए तैयार न थी। इसीलिए उसने जापानी-विरोध को न रोका। बल्कि, प्रोत्साहन तक दिया। नवयुवकों का ध्यान बँटाने का यही उपाय था। फलतः, जापान से बदला लेने के लिए नवयुवक चीन मे जापानी माल के बहिष्कार का जबर्दस्त आन्दोलन करने लगे। जापान का हरा-भरा रोज़गार मुरझा गया। जापान का करोड़ों का नुक्सान हो गया। जापान ने राष्ट्रीय सरकार के पास जोरदार विरोध लिख भेजा। पर, राष्ट्रीय सरकार स्वयं लाचार थी। वह क्या कर सकती थी! जिस आग में उसने स्वयं घी डाला था, वह कैसे बुझ सकती थी?

वही अधिक समय तक शासन करेगी। अतएव जापान की सरकार इधर कुछ वर्षो से केवल रण-विजय की कामना से पागल है और विजय के लिए, पीसने के लिए चीन ऐसे दुर्बल पड़ोसी से बढ़कर कौन मिलेगा ?

यहाँ पर इतना स्थान नही कि इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय। साथ ही, घटनाएँ ताज़ी होने के कारण साधारण समाचार पत्र के पढ़नेवाले भी इनसे परिचित है। केवल, पाठको को थोड़ी याद ही दिला देना काफ़ी होगा। जापान चीन का बहिष्कार बर्दाश्त न कर सका। उसके शंघाई-स्थित राजदूत ने चीन की सरकार को सूचित किया कि शंघाई में चीनी विद्यार्थी जापानी माल खरीदने वालों को पीटते तक हैं। शंघाई की चीनी म्युनिसिपल बोर्ड ने विद्यार्थियो को रोकना चाहा पर, नवयुवक न रुके, फलतः बहाने से, जापान ने शंघाई की चीनी बस्ती, अत्यन्त घने बसे चापाई नामक स्थान में अग्नि-वर्षा कर दी। वे अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के मार्ग से सेना ले गये। चापाई को धूल मे मिला दिया गया। हज़ारो आदमी मारे गये। लाखो गृह-हीन हो गये। क्रूरता की हद हो गई। साम्राज्यवाद खुलकर नाच रहा था। इधर चीन की राष्ट्रीय सरकार विद्यार्थियो के पाप का स्वयं प्रायश्चित्त नहीं करना चाहती थी अतः उसने विद्यार्थियों को कुछ भी सहायता न दी। फलतः विद्यार्थियों ने स्वयं अपनी सेना संघटित की। छात्राओ ने अपने भाइयों की बड़ी मुस्तैदी से सहायता की और जापानी साम्राज्यवाद का मुँह काला करनेवाली शंघाई के विद्यार्थियो की '१९ वीं' सेना एशिया ही नहीं, संसार के इतिहास में

चापाई-मञ्चुकुओ-जेहोल —

अमर हो गई। दो भाई जी खेलकर कभी इस तरह नहीं लड़े थे। सदियों का सञ्चित वैर फूट पड़ा। खून देखकर काली भी मतवाली हो उठती है। जापानी लहू बह निकला। जापान हार गया, लज्जित हुआ। उसने सन्धि की पर मानों साथ ही यह निश्चित हो गया कि चीन-जापान का यह वैर और भयंकर रूप में फूट निकलेगा।

शंघाई की जीत में चीन के मन्दिरों मे घण्टे बज ही रहे थे कि चीन पर घोर दुःख के काले बादल छा गये। जापान ने मञ्चूरिया में रुपये की नदी बहाकर अपना मंत्र सिद्ध कर लिया। एकाध सैनिक सरदारों को छोड़कर, सब को मिलाकर मञ्चूरिया में एक नये राज-तंत्र की घोषणा करा दी गई। मञ्चूरिया की गद्दी पर, चीन के भूतपूर्व मञ्चू सम्राट् के वंशज—छः वर्ष के एक बालक-युवराज बैठाये गये। इस नये देश का नाम रखा गया मञ्चुकुओ। चीन ने विरोध किया। चीन ने राष्ट्र-परिषद् से अपील की। अमेरिका ने आपत्ति की। राष्ट्र-परिषद् ने एक जाँच-कमिशन, लार्ड लिटन की अधीनता में, बिठाया। कमिशन की रिपोर्ट थी कि जापान ने ज्यादती की है। पर, किसी के विरोध का कोई फल न निकला। जापान के छिपे-खुले संरक्षण में मुञ्चुकुओ चीन से अलग हो गया। राष्ट्र-परिषद् पंगु होकर ताकती रही। चीन रोता-कलपता ही रहा। पर कोई फल न निकला। मकदेन मे, जरा-सी बात पर चीन-जापान मे जो झगड़ा हुआ था, उस झगड़े मे कम से कम तीन हज़ार चीनी और ८०० जापानी काटे गये थे, उसका अन्त मञ्चुकुओ के पृथक् प्रान्त बन जाने से हुआ। जब एक बार राष्ट्र-परिषद् ने भी जापान से कह दिया कि

मञ्चुकुओ में उसकी दस्तन्दाजी चीन के प्रभुत्व पर आक्रमण है, अतएव जापान वहाँ से हट जावे—और जब इस आज्ञा को न मानने पर परिषद ने तथा उसके सदस्यों ने जापान का आर्थिक तथा राजनैतिक बहिष्कार (परिषद् की १४ वीं धारा के अनुसार) नहीं किया, तब चीन की आँख पूरी तरह से खुल गई। और उसने समझ लिया कि लुटेरे साम्राज्यवादियों के बीच में वह एकदम अकेला है। उसे अपनी रक्षा आप करनी पड़ेगी। चीन ने नये सिरे से सैनिक तैयारी शुरू की।

जापान चीन की गति देख रहा था। उसने समझ लिया था कि मञ्चुकुओ को प्राप्त करने में जो करोड़ो रुपया स्वाहा किया गया है (और करोड़ों का जो लाभ होगा) उसको सार्थक करने के लिए करोड़ों की रक़म और डुबानी होगी और लाख पचास हज़ार जाने और लेनी-देनी पड़ेंगी। जापान तथा मञ्चुकुओ के बीच मे चीन का जेहोल नामक धनी प्रान्त है। चीन जेहोल मे अपनी सेना सजा रहा था। जापान ने तुरत ताड़ लिया कि जेहोल को ले लेने मे तथा उसे एक स्वतंत्र और 'तटस्थ' राज्य बना देने में ही मञ्चुकुओ का कल्याण है। फलतः उसने चीन पर यह अभियोग लगाया कि वह जेहोल में सैनिक तैयारी कर रहा है। उसने चीन से यह माँग की कि चीन अपनी सेना हटा ले। चीन ने इस अनुचित माँग को अस्वीकार कर दिया। फिर क्या था। 'अपने मित्र मुञ्चुकुओ' राष्ट्र की रक्षा के लिए जापान ने लड़ाई छेड़ दी। चीन पूरी तैयारी नहीं कर सका था। इधर दो-एक चीनी सेनापतियों ने धोखा दिया। जापान को ग़रीब चीनियों को घूस देना खूब आता है। फलतः

चीन हारता गया। फिर भी, जापानियों के छक्के छूट गये। यद्यपि वह चीन को खदेड़ता हुआ पेकिंग के पास तक पहुँच गया था, फिर भी उसने समझ लिया था कि एक वार राष्ट्रीय सेना का पैर जमते ही, जापान को शंघाई की तरह मुँह की खानी पड़ेगी। शंघाई में हार और सन्धि के बाद जापानी समर-सचिव को जान से हाथ धोना पड़ा था। अतएव वर्त्तमान समर-सचिव सतर्क थे। चीन भी सुलह चाहता था, जापान भी। सुलह हो जाने के समाचार मिल गये हैं पर शर्तें नहीं मालूम हैं। संभव है जेहोल एक स्वतंत्र प्रान्त बनाकर 'तटस्थ' बना दिया जाय। यानी, चीन का एक अङ्ग और कट जावेगा। जो हो, पर जेहोल प्रान्त में जापानी सेना ने खुलकर, जो भीषण अत्याचार किया है, वह हम कभी नहीं भूल सकते और चीन कभी उसे क्षमा नहीं कर सकता।

चीन का भविष्य

चीन का इस प्रकार अङ्ग-भङ्ग होते देखकर, जापान को इस प्रकार चीन पर जुल्म करते देखकर, राष्ट्रपरिषद् की निरर्थकता को देखकर लोगों को यह सन्देह होता है कि चीन कबतक अपनी स्वतंत्र सत्ता क़ायम रख सकता है? क्या वह एक दिन जापान का संरक्षित राज्य नहीं हो जावेगा? पर यह कोरा भ्रम है। चीन में अब भी ऐसे धुरंधर सेनापति भरे पड़े हैं जो जापान को पीसकर पी जाना चाहते हैं। पर, इनकी शक्ति संघटित नहीं है। ये सेनापति जापान के शत्रु हैं—पर, साथ ही, राष्ट्रीय सरकार का सहयोग न तो चाहते हैं और न सहयोग देंगे। राष्ट्रीय सरकार सबकी शक्ति को एक-सूत्र में ग्रथित नहीं कर सकी है। इसके

अलावा, जापान के पास सुसंघटित सेना है। वह धनी भी है। चीन से लड़ाई छेड़ते समय वह तुरन्त अमेरिका और ब्रिटेन को हवाई जहाज आदि का लम्बा आर्डर दे देता है। इसी लोभ से बड़े राज्य लड़ाई रोकने का प्रयत्न भी पूरी तरह नहीं करते। चीन के पास हवाई जहाजों के लिए पर्याप्त द्रव्य नहीं। रेल-पथ इतना कम है कि सैनिक संघटन हो नहीं सकता। समूचे महा-देश में केवल १२,००० मील रेल-पथ है; ४०,००० मील मोटर-पथ है। इनमें से अधिकांश सड़कें तथा पटरियाँ १९२० के बाद बनी हैं। चीन के पास केवल एक ही वस्तु है—वह है अद्भुत जन-शक्ति !

अस्तु, राष्ट्रीय सरकार से निराश होने का कोई कारण नहीं। १९११ में चीन प्रजातंत्र बना। १९२७ मे नवीन राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई। अभी इसके जीवन के छः वर्ष ही वीते हैं। फिर भी इस वीच में इसने वड़ा काम किया है। एक ओर यह ५०,००,०० से ७०,००,०० वर्गवादियो को दवाये हुए है (इस समय चीन मे अनुमानतः इतने वर्गवादी हैं), दूसरी ओर वह जापान का सामना कर रही है। लिटन रिपोर्ट ने राष्ट्रीय सरकार की वड़ी प्रशंसा की है। उसका कहना है कि १९२२ मे चीन-सरकार के हाथ में जितनी शक्ति थी, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार इस समय है। विदेशी सम्वन्ध में भी वह काफी सफल रही है। उसने दो 'पट्टे पर दिये' प्रान्त छुड़वा लिये। जकात-वसूली की स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। कई शक्तियों से वरावरी की सन्धि की है। कई आर्थिक सुधार किये हैं। कर-वसूली का तरीका वड़ा सीधा और सादा

बना दिया है। प्रान्तों द्वारा कर वसूल करने का दुःसाध्य काम सफलतापूर्वक करने लगी है। एक केन्द्रीय वैंक खोला गया है। यदि जापान दम लेने देता तो अर्थ-प्रबन्ध बड़ा ठोस हो जाता। राष्ट्रीय अर्थ-समिति की स्थापना की है जिसका एक अङ्ग है—'केन्द्रीय योजना विभाग'। यह उन्नतिशील कार्य तथा सुधार की योजना बनाती है। राष्ट्र-परिषद् तथा अन्य राष्ट्रो से विद्वान् तथा विशेपज्ञ बुलाकर स्वास्थ्य-शिक्षा आदि विभागों का बड़ा अच्छा संघटन किया जा रहा है। शिक्षा के विषय से मि० आर० एच० टॉने (R H Tawney) के एक लेख से एक महत्वपूर्ण वाक्य उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा:— "चीनी शिक्षा में जो भी कुछ दोष हो, पर अपने उत्साह और क्रियाशीलता से, इतनी अन्तर्राष्ट्रीय वाधाएँ अकाल, वाढ़, स्थायी तथा अस्थायी आर्थिक संकट होने पर भी, चीन ने शिक्षा-कार्य में जो अद्भुत प्रगति की है, वह इसी दशा मे, किसी युरोपीय देश के लिए असम्भव होती!"—सारांश यह है कि राष्ट्रीय सरकार प्रगतिशील है और वह चीन की रक्षा करने मे समर्थ होगी।

वास्तविक विपत्ति तो जापान पर मॅडरा रही है। हम जापान की दो सैनिक जातियों का उल्लेख कर चुके हैं। इस समय जापान की आन्तरिक स्थिति वास्तव में वड़ी चिन्ताजनक है। वम्बई के 'टाइम्स ऑव इण्डिया' पत्र के टोकियो-स्थित विशेष सम्वाददाता ने मई में जापान की भीतरी दशा का जो चित्र खींचा था, वही सब से ठीक मालूम होता है। उसकी रिपोर्ट का सारांश है—"वर्तमान 'विशेष-अवसर-मंत्रिमण्डल' ने पिछली प्रथा को गहरा धक्का

जापान का सकट

दिया है। जेनरल *अराकी*, सत्सुमा जाति के होते हुए भी प्रधान सेनापति बन बैठे हैं। उन्होने चोशु जाति के इस हक़ को छीन लिया है कि उसमें से ही साम्राज्य-सेना के प्रधान सेनापति हों। चोशु जाति के जेनरल *उगाकी* को कोरिया का गवर्नर-जेनरल बनाकर भेज दिया गया। स्थल-सेना में सत्सुमा अफसर भरे जा रहे हैं। महीनों से चोशु जाति अपना लुप्त पद प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। पर, समर-मंत्री (प्रधान सेनापति) और उनके गण हटाये नहीं जा सकते। वे विरोधी सेनापतियों की हत्या कर अपना बल बढ़ा रहे हैं। चोशु जाति बड़ी अपमानित हो रही है। वह उगाकी को समर-मंत्री यानी प्रधान सेनापति यानी प्रधान मंत्री बनाना चाहती है। पर ऐसा हो जाने का अर्थ होगा—क्रान्ति ! अराकी ने जापान को सब राष्ट्रों से अलग कर रखा है। चीन से लड़ाई हो रही है; राष्ट्र-परिषद् से झगड़ा हो रहा है। इसीलिए जापान के हितैषी और विदेशी मित्र चाहते हैं कि उगाकी की सरकार आवे। क्योंकि, वह वर्त्तमान नीति को एकदम उलट देगी। तभी यह संभव होगा कि जापान सुदूर पूर्व से मित्रता कर ले। बजट ठीक से न तैयार कर सकने के कारण अर्थ-मंत्री ताकाहाशी इस्तीफा देने वाले हैं। तब, मंत्रि-मण्डल अवश्य भंग हो जावेगा। यह हो सकता है कि कि सम्राट् को मजबूर किया जाय कि वे त्याग-पत्र न स्वीकार करें। पर ताकाहाशी वर्त्तमान मंत्रि-मण्डल में सबसे योग्य राजनीतिज्ञ हैं। उन्हे इस प्रकार नहीं दबाया जा सकता।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि जापान में सैनिक सरकार गृह-युद्ध उपस्थित कर देगी—और तब जापान को जो पाठ मिलेगा वह

एशिया के हित मे होगा। जापान सदैव 'एशिया का ब्रिटेन' नहीं
ना रह सकता। चीन को जापान से विशेष भय नहीं है। इस
मय अवश्य चीन घबड़ा रहा है। कोई उपाय न देखकर चीनी-
वक फ़ैसिज़्म की ओर झुक रहे है। जब उन्होने जापान को
रलतापूर्वक, जेहोल से लेकर उत्तरी चीन का २५० वर्ग मील
स्तृत प्रदेश रौंद डालते देखा, तो बचाव के लिए अपने देश
ही मुसोलिनी या हिटलर ढूँढने लगे! पर, "पीपुलस ट्रिब्यून"
एक लेखक के शब्दों में, "चीन का उद्धार फ़ैसिज़्म से न होगा"
वाक्य सत्य है। चीन का उद्धार जापान स्वयं कर देगा!!!
चीन के अङ्ग-भङ्ग की करुण-कहानी इतने से ही समाप्त
होती। सन् १९३३ मे चीन के हाथ से एक बड़ा प्रान्त
और भी निकल गया। इसे सिकियांग या
चीनी तुर्किस्तान कहते है। यह तिब्बत और

ी-तुर्किस्तान

लिया के बाहरी हिस्से के पश्चिमी भाग के बीच मे है। यहाँ
अधिकांश जन-संख्या मुसलमान है। हूणो को पराजित कर
ान्त चीनी-साम्राज्य के अधीन कर लिया गया था। पर,
राज्य के दुर्बल हो जाने पर सन् ६७० में तिब्बत ने चीन
ड़कर उसका अधिकांश भाग छीन लिया था। पर, कुछ
बाद तुर्किस्तान तथा तिब्बत दोनों ही चीन-साम्राज्य मे
लिये गये। १९ वी सदी मे मध्य एशिया के मार्ग से रूस
ारत के मार्ग से ब्रिटेन इस प्रान्त की ओर बढ़ा। दोनों
तुर्किस्तान की सीमा पर पहुँच गये। सन् १८५१ में
ार्ग से व्यापार करने के विषय मे दोनों में सन्धि हुई।
मे ताशकन्द, १८६६ में कोहकन्द तथा १८६८ में समर-

कन्द रूस ने छीन लिया। इधर १८४६ में ब्रिटेन काश्मीर को अपने अधीन कर चुका था। लद्दाख जीतकर वह चीनी तुर्किस्तान के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गया।

१८६९ में इस प्रान्त के मुसलमानों ने बलवा किया था। चीन ने बलवा दबाकर इसे पुनः संगठित किया। प्रान्त का क्षेत्रफल ५००,००० वर्ग मील निर्धारित हुआ और जन-संख्या लगभग २० लाख कूती गई। यद्यपि सरकारी और व्यापारी भाषा चीनी है, पर लोग पूर्वी तुर्की बोली बोलते हैं और अधिकांश प्रजा मुसलमान है। जिस समय विदेशी शक्तियाँ चीन को आपस में बांट लेने का विचार कर रही थीं, रूस और ब्रिटेन दोनों ही इस प्रान्त पर अपना हक़ जाहिर कर रहे थे। चीन का शासन तिब्बत तथा मंगोलिया से उठ गया पर यह प्रान्त दृढ़ शासन में बना रहा और चीनी राज्यक्रांति तक का इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा।

ब्रिटेन की आँख इस प्रान्त पर सदैव थी और अभी तक है। ब्रिटेन की ओर से वैज्ञानिक खोज इत्यादि के बहाने कई दल इधर घूम आये थे। इन्होने इस प्रांत की महत्ता की ओर ब्रिटेन का ध्यान पर्याप्त रूप से आकर्षित कर रक्खा था। १९२८ में चीन के सम्बन्ध मे ब्रिटेन तथा जापान की गुप्त सन्धि हो चुकी थी। इधर १९३१ में ब्रिटेन में टोरी दल का शासन शुरू हो गया था। यह एक मार्के की बात है कि एक ओर १९३१ मे जापान उत्तरी-पश्चिमी चीन में घुसकर 'मञ्चुकुओ' की रचना के लिए सैनिक जत्थे भेज रहा था, इधर तिब्बतियों की अपने द्वारा शिक्षित सेना लेकर ब्रिटेन ने सिकियांग के दक्षिणी-पूर्वी पड़ो-

सियो पर अर्थात् चिंघाई (Chinghai) और जेकुआन (Szechuan) पर हमला किया था। पिछले वर्ष तक तातारों को खदेड़ा जाता रहा। यही नहीं, शंघाई की एक ब्रिटिश सेना भी सिंकियांग में मौजूद थी और 'चाइना वीकली रिव्यू' पत्र तथा अन्य उदार विदेशी पत्रो के सम्वाददाताओं का अनुमान है कि ब्रिटेन ने तथा विदेशी शक्तियों ने स्वयं इस बात की चेष्टा की कि चीनी तुर्किस्तान चीन-सरकार से बग़ावत कर स्वतंत्र हो जाय और भारत के ऊपर एक और ब्रिटिश-संरक्षित प्रान्त बन जाय। 'पीपुल्स ट्रिब्यून' में एक लेख छपा था। इसके लेखक का कहना है कि सिंकियांग में जब मुसलमानों का बलवा हुआ था, उस समय चार विदेशियो ने, एक पादरी ने तथा तीन बौद्ध भिक्षुओं ने विद्रोहियो को आर्थिक सहायता दी थी। 'धर्म-प्रचारक' के नाम पर, विदेशी रुपये से सहायता पानेवाले, 'आत्म-रक्षा कमेटी' के आडम्बर मे ये विदेशी खुफिया चीन के अङ्ग-भङ्ग की तैयारी कर रहे थे।

नानकिंग-सरकार छोटे-मोटे विद्रोहो की चिन्ता ही नहीं करती थी। वह इसे साधारण गड़बड़-मात्र समझा करती थी। पर धीरे-धीरे बात बढ़ती ही गई। विद्रोहियो ने खुतन और केरिजा नगर लेकर अक्सू प्रदेश पर अधिकार कर लिया। अप्रैल, १९३३ मे एकाएक चारों ओर बलवा खड़ा हो गया। २७ अप्रैल को चीनी सरकार को सूचना मिली कि काशग़र भी मुसलमानो के हाथ में आ गया। गवर्नर के सफ़ेद रूसी (बोल्शेविक-विरोधी) सिपाही ही गवर्नर के विरुद्ध उठ खड़े हुए। २७ अप्रैल को ही थींवा और कांसू की घटनाओं का समाचार

भेजनेवाला 'विशेष सम्वाददाता' अपने 'चाइना प्रेस' में लिखता है कि "इस विद्रोह में अन्य शक्तियों का छिपा हाथ है। सबसे अधिक दिलचस्पी रूस और जापान लेते हैं और उनके बाद ब्रिटेन तथा टर्की।" इस सम्वाददाता का कहना है कि इस प्रान्त में जापानी प्रचार बहुत अधिक है। ५ मई को 'चाइना वीकली रिव्यू' में यह छपा था कि काशगर के विद्रोह, चीनी अधिकारियो के भीषण संहार का समाचार आदि ठीक तरह से चीन को नहीं मालूम हो सका है। चीनी तुर्किस्तान के मुस्लिम-विद्रोह में ब्रिटिश कारखानों ने विद्रोहियों को हर्बा-हथियार अच्छी तरह से दिया था और अस्त्र-शस्त्र से मुसलमान विद्रोही ब्रिटेन से पूरी सहायता पाते रहे। यह सहायता सरकारी तौर पर नहीं, पर ब्रिटिश संस्थाओ द्वारा की गई। अभी तीन वर्ष हुए सोवियट रूस ने तुर्की रेलवे का निर्माण पूरा कर उसे अपने हाथ में ले लिया। ब्रिटेन ने इसका उत्तर चीनी तुर्किस्तान पर अपना प्रभाव फैलाकर दिया है।

अस्तु, इधर समाचारपत्रो में काशगर के विद्रोह का रोमांचकारी समाचार छप रहा था। यह बलवा एकाएक कैसे पनपा, इसका ग़लत कारण हमें बतलाया जा रहा है। यह कहना कि चीनी गवर्नर एक सैयद की लड़की से जबर्दस्ती शादी करना चाहते थे, इसीलिए बलवा हो गया एक ग़लत बात है। बलवा इतनी जल्दी नहीं होता। चीनी तुर्किस्तान का विद्रोह एक साम्राज्यवादी षड्यंत्र का परिणाम है। चीन के दुर्भाग्य से ब्रिटेन भी चीन का असली मित्र नहीं है। चीनी तुर्किस्तान में इस समय घोर अनिश्चितता है। अभी कोई दृढ़ सरकार नहीं स्थापित हो सकी है।

उत्तरी चीनी तुर्किस्तान की क्रान्ति के पहले ही, १९३२ के आदि में, श्याम की क्रान्ति हुई थी। यहाँ के राजा—प्रजाधिपक—एक-मात्र स्वतंत्र बौद्ध नरेश हैं और यह राज्य फ्रेञ्च तथा ब्रिटिश प्रभाव से अपनी रक्षा करता हुआ स्वतंत्र बना हुआ है। पर, असली राजसत्ता जन्मतः ही, परम्परा से ही चले आनेवाले दक़ियानूसी अधिकारियों के हाथ में थी। अन्य देशों की प्रगति देखकर श्याम की प्रजा भी उन्नति करना चाहती थी। पर, वह परम्परागत राज-सत्ता का सुख लूटनेवालो से परेशान थी। प्रजा राजा के प्रति भक्त थी, अफ़सरों के प्रति नहीं। जनता के असंतोष को सदैव 'लाल-क्रान्ति' का चिन्ह समझा जाता है। जरा भी आन्दोलन हुआ नहीं कि तुरन्त वर्ग-वाद की गन्ध आने लगती है। श्याम के अफसरों ने राजा को समझाया कि वर्ग-वाद का प्रचार बढ़ रहा है। श्याम की 'असेबली' या 'महासभा' अफ़सरों के अधिकारों को महासभा के अधीन करना तथा राजा के निरंकुश अधिकारों को कम करना चाहती थी। वह ब्रिटेन की तरह वैध राज-सत्ता तथा वैध राज-तन्त्र स्थापित करना चाहती थी; फल यह हुआ कि गत अप्रैल, १९३२ में राजा ने वर्तमान शासन-विधान स्थगित कर असेम्बली भंग कर दी थी।

श्याम की क्रान्ति

फलतः एक दिन एकाएक क्रान्ति हो गई। विद्रोही राजा के भवन को घेर कर खड़े हो गये। राजा के सामने जनता की माँग पेश की गई। राजा के लिए और कोई चारा न था। उसने प्रजा की आज्ञा स्वीकार कर ली। श्याम में नवीन शासन-विधान बनाया गया। राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये। पौरा-

होल विद्रोही नेता थे। वे प्रधान व्यक्ति थे और उन्हीं को सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया। नई सरकार के सामने ही एक बार पुनः हल्की-सी राज्यक्रान्ति हो गई। राजधानी बैंकोक में कुछ उपद्रव हुए। राजा की ओर से एक बार पुनः आश्वासन की आवश्यकता थी। जनता केवल राजा के अधिकार के संकुचित होने से ही सन्तुष्ट नहीं थी। वह अपनी महासभा भी स्थापित करना चाहती थी। फलतः फीबाहोल ने 'पीपुल्स असेम्बली' स्थापित करने का इरादा प्रकट किया। राजा के पास, जो हुशिन में थे, तार भेजकर सेना तथा जल-सेना की राजभक्ति का आश्वासन दिलाया गया। २ अप्रैल के बाद पहली बार, २२ जून को पीपुल्स असेम्बली की बैठक हुई। उसमें मंत्रिमण्डल की ओर से कहा गया कि रक्तपात-शून्य राज्यक्रान्ति के बाद, पूर्ववत् काम-काज होने लगा है। राजा ने फ़ीबाहोल को ही प्रधान-मंत्री नियुक्त किया। पिछले छः मंत्रियो मे से केवल तीन ही हटाये गये। पर, कोई गिरफ्तार नहीं किया गया। इस समय देश मे पूर्ण शान्ति है। प्रजा राजा से सन्तुष्ट है। शासन-कार्य सुचारु-रुप से हो रहा है। श्याम का नवीन जन्म हुआ है। वह क्रमशः एशिया का दूसरा तुर्किस्तान हो जायगा।

फारस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चक्कर में फँसकर किस प्रकार गिर गया था और रिज़ाशाह पहेलवी ने किस प्रकार उसका उद्धार किया, यह पाठको को भली-प्रकार विदित है। ब्रिटिश सरकार की समूची सत्ता जल-सेना पर निर्भर करती है। यह युग जल-सेना का है। जल-सेना के लिए पेट्रोल की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

एग्लो-फ़ारसी संधि

अमेरिका की स्टैंडर्ड ऑयल कम्पनी और ब्रिटेन-संरक्षित डच कम्पनी का झगड़ा इसी बुनियाद पर है कि जिसके पास ज्यादा और सस्ता तेल होगा, उसी को उतनी अधिक सहूलियत होगी। रूस के पास बाकू के तेल के सोते हैं। मोसल के तेल के सोतों के कारण तुर्की से तथा विदेशी शक्तियों से इतना झगड़ा हुआ। इसलिए तेल के लिए ब्रिटेन का उत्सुक होना स्वाभाविक है। इसीलिए ब्रिटेन बर्मा को भारत से पृथक् कराकर अपने संरक्षण में रखना चाहता है ताकि बर्मा का तेल उसे मिलता रहे और इसके लिए उसे पराश्रित न होना पड़े। इसीलिए, फारस के उर्व्वर तेल के सोतो के लालच से ब्रिटेन ने उसपर संरक्षण कर रक्खा था और रिजाशाह पहेलवी के पहले, जिस समय फारस में दुर्बल सरकार थी, फारस से तेल निकालने के लिए, एक ब्रिटिश कम्पनी को ठेका दिलवा दिया गया था। यह ठेका पचास वर्ष के लिए था। इसके बदले में यह तय हुआ था कि कम्पनी फारस-सरकार को कुछ रकम वार्षिक देती रहेगी। पर, यह रक़म कभी न दी गई और फारस की सम्पत्ति से विदेशी फूलते गये। जब फारस में रिजाख़ाँ का शासन हुआ उन्हे यह वात बहुत खटकी। जनता भी अपना धन विदेशियों के हाथ में नही देना चाहती थी। फारस स्वयं अपनी जल-सेना तैयार करना चाहता था अतएव उसे भी पेट्रोल की आवश्यकता थी। रिजाख़ाँ का यह कहना था कि देश की दुर्वल सरकार से जवरदस्ती यदि कोई ठेका करा लिया जाय तो जनता उसके लिए नैतिक दृष्टि से जिम्मेदार न हो सकती है—न होगी। अन्त मे, इस वर्ष उन्होंने यह ठेका रद्द कर दिया। फारसी इस

घटना से इतने प्रसन्न हुए कि उस दिन उन्होंने दीपावली मनाई। वास्तव मे देश की अतुल सम्पत्ति पर अपना अधिकार हो जाना बड़ी भारी बात है। पर, ब्रिटिश सरकार इस बात से बहुत चिढ़ी। उसने हर प्रकार का राजनैतिक दबाव डाला। यहाँ तक लक्षण प्रतीत होने लगे कि युद्ध हो जावेगा। पर, रिजाखाँ को अपने पक्ष के न्यायोचित होने पर दृढ़ विश्वास था। वह जानते थे कि ब्रिटेन की धमकी केवल बन्दर-घुड़की है। जब ब्रिटेन ने देख लिया कि फ़ारस अपने मत पर दृढ़ है तथा उसे विशेष छेड़ना व्यर्थ एशिया-मात्र को नाराज करना है, उसने अपना दावा खींच लिया। फारस से नवीन सन्धि हुई। कम्पनी ने बक़ाया रक़म चुकता करना स्वीकार किया। आगे से, सदैव अपनी आय में से एक निश्चित भाग फारस-सरकार को देना मंजूर किया। तेल-कम्पनी को नही, ब्रिटिश-सरकार को नीचा दिखलाकर फारस ने बहुत बड़ा काम किया। एशिया की स्वच्छन्दता तथा निर्भीकता का यह एक दूसरा ही प्रमाण था।

१९२९ से ३३ तक भारत की दशा मे बहुत परिवर्त्तन हो गया है। एक समय आवेगा जब भारत की स्वाधीनता तथा

भारत

सत्याग्रह का विशद इतिहास लिखा जायगा। उस समय भारतीय आन्दोलन की महत्ता का पता लगेगा। इस समय, १९२० की काँग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करने के बाद से, भारत में नवीन स्फूर्त्ति आ गई है। १९३१ के मार्च से, सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भारतीय जन-मत की शक्ति देखकर सरकार के छक्के छूट गये और अन्त में, लार्ड अरविन ने कांग्रेस के साथ समझौता किया।

कांग्रेस की ओर से, भारतीय-शासन-विधान में परिवर्त्तनों पर विचार करने के लिए, लन्दन में होनेवाले गोलमेज-सम्मेलन में महात्मा गान्धी शरीक हुए। पर, भारत-सरकार ने भारत के किसानों की दुर्दशा सुधारने में कांग्रेस का साथ न दिया। यही नही, कांग्रेस का विरोध किया। फलतः सत्याग्रह पुनः प्रारम्भ हो गया। पिछली बार ९२ हजार के क़रीव भारतीय जेल गये। द्वितीय सत्याग्रह-संग्राम में भी ७५ हजार जेल गये। ब्रिटिश-सरकार की ओर से भारतीय शासन-विधान की जो प्रस्तावित योजना श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित हुई है, उससे सवको इतना असन्तोष है कि सम्भव है कि अशान्ति की आग पुनः भभके।

अफगानिस्तान

इस समय अफग़ानिस्तान मे भी अशान्ति के लक्षण प्रतीत हो रहे है। एक दल नादिरशाह का विरोध कर रहा है। नादिरशाह की ब्रिटिश-मित्रता तथा स्वच्छन्द वृत्ति उसे पसन्द नहीं। वह देश को अधिक प्रगतिशील देखना चाहता है। फलतः एक षड्यंत्र की गुप्त योजना का अनुमान किया जा रहा है। अमीर के एक भाई जर्मनी मे मार डाले गये हैं। इससे देश की अशान्ति का पता चलता है।

फिलिपाइन

फिलिपाइन मे स्वाधीनता का आन्दोलन ठण्डा करने के लिए अमेरिकन कांग्रेस ने ८ वर्ष मे उसे पूर्ण स्वाधीनता देने का वादा किया था। किन्तु, राष्ट्रपति हूवर (१९३२) ने कांग्रेस के प्रस्ताव मे संशोधन कर उसे १२ वर्ष कर दिया था। फिलिपाइन को व्यापार करने की भी स्वाधीनता नहीं है। फलतः वह बड़ा उत्तेजित है और अमेरिका से मुक्त होने के लिए व्याकुल हो रहा है।

तुर्की ने सबसे अधिक उन्नति की है। उसका नवीन प्रजातंत्र १९३३ में अपनी दसवीं वर्षगाँठ मना चुका। तुर्की के सुधारों को पाठक जान गये हैं। वहाँ अब नमाज भी मातृभाषा में—गाकर, बाजे के साथ, होती है। शिक्षा के विस्तार का विशद प्रयत्न किया जा रहा है। समूचे तुर्की का जोर-शोर से अद्भुत विकास हो रहा है। तुर्की ने रूस से ८० करोड़ के लगभग ऋण लेकर राष्ट्र-निर्माण का कार्य और भी ज़ोर-शोर से शुरू किया है।

तुर्की

सीलोन को जो नवीन शासन-विधान मिला है, उससे वह बड़ा क्षुब्ध है और उसके विरोध की आग फूट हीं निकलना चाहती है।

सीलोन

संक्षेप में, इस समय समूचे एशिया में एक अद्भुत हलचल और अशान्ति छाई हुई है। अशान्ति से ही क्रान्ति होती है—क्रान्ति से विकास! अतएव एशिया के सुदिन निकट हैं!

---

[२]

ईरान और ब्रिटेन

एशिया का विगत १०० वर्षों का इतिहास, व्यापारियों एवं धर्म-प्रचारकों के वेश में आकर अपना जाल फैलाने वाले यूरोपीय साम्राज्यवादियों की कूट चालो एवं उनसे छुटकारा पाने के लिए तड़पते हुए राष्ट्रो के प्रबल प्रयत्नों का इतिहास है। अभी महायुद्ध के जमाने तक एशिया की अवस्था बिलकुल दूसरी थी। यह ठीक है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ ही उसकी मोह-निशा का अन्धकार दूर होने लगा था और उस समय जापान ने रूस को जो करारी हार दी थी उससे समस्त एशिया में जागृति की एक लहर फैल गई थी। पर उस समय का परिवर्तन ज्यादातर मानसिक था। उसको व्यावहारिक रूप तो महायुद्ध के समय ही प्राप्त हुआ और उसके निश्चित परिणाम १९१९ के बाद के युग मे सभी एशियायी देशों में प्रकट हुए।

एशिया के विगत १०० वर्ष

महायुद्ध मे सबसे बड़ी बात यह हुई कि संसार की विजयोन्मत्त शक्तियों की कमर टूट गई। आर्थिक कठिनाइयो ने उनको इस योग्य न रक्खा कि वे पहले की भाँति ही लाल आँखें करके पद-दलित राष्ट्रों को चूस सके। महायुद्ध के कारण जो आर्थिक अकाल विश्व में पड़ा उससे प्रायः सभी देशो की जनता मे साम्राज्य-विरोधी भावों के

महायुद्ध की देन

फैलने का मौक़ा मिला। एशिया के जो राष्ट्र अवतक दबे हुए थे उन्होंने भी अवसर का उपयोग किया।

पर एक ओर जब एशियायी राष्ट्र जगते जा रहे थे तब दूसरी ओर उनपर हुकूमत जमानेवाले यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्र उनके रक्त से अपनी युद्ध-जनित घटी की पूर्ति करना चाहते थे और जो राष्ट्र महायुद्ध में विजयी हुए थे वे अपने अधीन देशों पर अपना बंधन और मजबूत कर देना चाहते थे।

पर घटनाएँ जिस क्रम से घट रही थीं, उसमें यह सम्भव न हुआ। १९२० से २५ तक फारस में ब्रिटिश पूँजीपतियो ने अपना जाल खूब फैला लिया था और उनके स्वार्थों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार फारस के मामलों में खूब दिलचस्पी लेती थी। १९२० के बाद संसार में वायु-सेना की वृद्धि जोरों से होने लगी। और दिन-दिन यह निश्चित होता गया कि भावी महायुद्ध जमीन पर नहीं, आकाश में लड़ा जायगा। इसके लिए तेल के सोते सबसे आवश्यक उपकरण है। सामरिक प्रतियोगिता एवं तत्सम्बंधी नवीन आविष्कारो ने मिट्टी के तेल तथा पेट्रोलियम का महत्व बहुत अधिक बढ़ा दिया है। बाकू के तेल के सोतो में ब्रिटेन ने बहुत धन लगा रखा था पर बोल्शेवी क्रान्ति के बाद रूस की सोवियट सरकार ने उन्हे अपने अधिकार में कर लिया। फारस की कमजोरी का लाभ उठाकर वहाँ की तेल की खानो से तेल निकालने का पट्टा एक अंग्रेज़ी (एंग्लो-पर्शियन आयल) कम्पनी ने लिखा लिया। सामुद्रिक व्यापार-मार्ग की दृष्टि से भी फारस का महत्व कुछ कम न था और युरोप तक वायु-मार्ग तो उससे

फारस में

होकर ही निकाला जा सकता था। जैसा कि स्वाभाविक था और जैसा सर्वत्र अंग्रेज व्यापारियों ने किया है, धीरे-धीरे उन्होंने फ़ारस की घरेलू राजनीति में भी दख़ल देना शुरू कर दिया और शासन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर एवं मंत्रियों को घूस दे-देकर अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। धीरे-धीरे एंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी की आड़ में फारस मे अंग्रेजों का एक प्रभुत्व-क्षेत्र बन गया।

पर राजनीति में दॉव–पेंच तो चलते ही रहते है। अंग्रेज ही एक खिलाड़ी न थे। स्वाधीन होकर रूस भी मैदान में आ गया था और अपनी एशियाई नीति के कारण उसे एशियाई राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त होने लगी थी। उसके प्रभाव से १९२१ की फरवरी में जो क्रान्ति हुई उसने फारस की स्थिति पलट दी। इस समय से फारस के शासन मे रिज़ाखाँ की प्रधानता हुई। धीरे-धीरे वह अपना अधिकार दृढ़ करते गये और बाद मे—२५ अप्रैल १९२६ से—स्वयं ईरान की गद्दी पर बैठकर सारा शासन-तंत्र अपने हाथ में कर लिया। वह दृढ़निश्चयी, देश-भक्त और योग्य सेनापति थे अतः धीरे-धीरे उन्होंने अपने देश से विदेशियो के प्रभाव एवं शक्ति को दूर करना शुरू किया।

स्वतंत्र फारस

फारस मे ब्रिटेन के विरुद्ध प्रबल भाव फैलते गये। इस में रूस का भी हाथ था पर असल बात तो यह है कि फारस स्वतंत्र हो गया था और एक स्वतंत्र राष्ट्र को, बराबर की मर्यादा से संसार मे खड़ा होना चाहता था। उधर अंग्रेजी तेल-कम्पनी फारस के धन से अपना विस्तार करती

तनातनी

गई और जिन शर्तों पर पट्टा दिया गया था उनकी पूर्ति करने की ओर उसने ध्यान न दिया। धीरे-धीरे झगड़े बढ़ने लगे और जब अंग्रेज़ व्यापारी झुकने को तैयार न हुए तो १९३३ के आरम्भ में सम्राट् रिज़ाशाह (पेहलवी) ने पट्टा यह कहकर रद्द कर दिया कि यह पट्टा हमारे देश की दुर्बल अवस्था में दबाव डालकर लिखाया गया था अतः जायज़ नहीं। इसके साथ ही ईरान (फारस) की सरकार ने कम्पनी की सारी जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जब फारस-सरकार ने कम्पनी की जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया तब ब्रिटिश-सरकार के कान खड़े हुए और वह बीच में पड़ी। खूब तनातनी हुई; फारस की सरकार को—'उचित कार्रवाई की जायगी' कहकर—धमकी भी दी गई। प्रश्न राष्ट्र-संघ में भेजा गया और दोनों सरकारों के प्रतिनिधि जेनेवा पहुँचे। सारा मामला पूरी तरह संघ की कौंसिल के सामने आया भी न था कि फारस की ओर से जो दृढ़ प्रमाण दिये गये थे उससे संघ की कौंसिल के अध्यक्ष को भी यह विश्वास हो गया कि इसमें फारस-सरकार का कोई क़सूर नहीं है। तेल-कम्पनी स्वयं भारी मुनाफा उठाती रही है पर उसने फारस-सरकार को उचित मुआवज़ा नहीं दिया है। अध्यक्ष ने यह सलाह दी कि अच्छा हो कम्पनी और फारस-सरकार परस्पर समझौता कर लें।

समझौता

अन्त में कम्पनी को झुकना पड़ा और २८ अप्रैल १९३३ को नवीन इक़रारनामों पर फारस-सरकार के प्रतिनिधि और कम्पनी के प्रधान सर जानके डमैन के हस्ताक्षर हो गये। इस इक़रारनामे की मुख्य शर्तें ये हैं—

(१) कम्पनी को तेल निकालने के लिए पहले इक़रारनामे जितनी जमीन दी गई थी उसकी आधी जमीन में ही सन् ९३८ ईस्वी तक उसे अपना काम चलाना पड़ेगा। उसके बाद लाख वर्गमील जमीन उसको दी जायगी।

(२) तेल निकालने के लिए उस क्षेत्रफल में पाइप ाइन बनाने का जो हक़ एकमात्र इसी कम्पनी को अभी क दिया गया था वह १ मई १९३३ से रद्द हो जायगा।

(३) कम्पनी ईरान में जो तेल बेचेगी या ईरान से तेल की ो रफ्तनी करेगी उस पर वह हरएक टन तेल पर ४ शिलिंग रान को देगी।

(४) कम्पनी अपने हिस्सेदारों को पाँच फ़ीसदी के ाव से डिविडेण्ड दे सके इसके लिए ६,७१,००० पौंड ुनाफे में से निकालकर बाकी जो मुनाफा बचेगा उसमें २० प्रति-ात ईरान को मिलेगा। वह मुनाफ़ा ईरान में हुआ हो, चाहे रान के बाहर।

(५) इस समय पौण्ड की जो विनिमय दर है उसमें कमी ो तो उसके सम्बन्ध में ईरान-सरकार को घाटा न उठाना पड़े सकी जिम्मेदारी कम्पनी पर रहेगी।

(६) कम्पनी अगर अपने रक्षित कोष में से अपने हिस्से-ारों को कुछ डिविडेण्ड बाँटेगी तो उस समय उस में से २० ैकड़ा ईरान-सरकार को देना पड़ेगा।

(७) जब इक़रारनामे की मुद्दत पूरी होगी तब कम्पनी े रक्षित कोष में जितना रुपया रहेगा उसमें से २० सैकड़ा ेरान को दिया जायगा।

(८) कम्पनी पहले आठ वर्ष तक ईरान-सरकार को २,२५,००० पौण्ड, फिर दूसरे १५ वर्ष तक ३,००,००० पौंड और उसके बाद *जितनी रकम तय की जायगी उतनी रकम कर देगी।*

(९) कम्पनी हर साल जहाँ तक हो अधिक से अधिक ईरानियों को नौकर रखेगी और *हर साल ईरानियो को ग्रेट-ब्रिटेन में शिक्षा देने के लिए १० हज़ार पौंड खर्च करेगी।*

(१०) इस नये इक़रारनामे की मुद्दत ६० साल है।

(११) कम्पनी ईरान-सरकारकी मंजूरी बिना और किसी को अपने बदले मे नही रख सकेगी।

(१२) इक़रारनामे की मुद्दत पूरी हो जाने पर कम्पनी की ख़ास-ख़ास मिलकियत ईरान-सरकार की हो जायगी और मुद्दत के आख़िरी दस वर्षों तक कम्पनी अपनी मिलकियत न तो बेच सकेगी और न ईरान के बाहर ले जा सकेगी।

(१३) कम्पनी जो तेल ईरानके लोगो के हाथ बेंचेगी उसका भाव मेक्सिन या रूमानियन तेल से—इन दोनो में से जिसका भाव सस्ता होगा उससे—१० फी सदी सस्ता होगा और ईरान सरकार को २५ फी सदी सस्ता देगी।

(१४) इस इक़रारनामे के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा खड़ा होगा तो वह पंचायत में जायगा।

इन शर्त्तों से स्पष्ट है कि इस मामले में ईरान की गहरी विजय हुई है। जितनी शर्त्तें हैं सब ईरान-सरकार के पक्ष में है और उसके गौरव को बढ़ानेवाली हैं। पहले जो शर्तनामा था

उसके अनुसार प्रायः समूचे (प्रायः ५/६) ईरान में तेल निकालने का अधिकार कम्पनी को था पर अब केवल ईरान के तिहाई हिस्से में ही कम्पनी को तेल निकालने का अधिकार रह गया है। यह शर्त्त बड़े महत्व की है और इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ईरान के अन्य भागो मे यदि तेल के सोतो का पता चला तो ईरान-सरकार किसी दूसरी कम्पनी को भी उनसे तेल निकालने का ठेका दे सकेगी।

दूसरी महत्वपूर्ण शर्त्त, जो नये इक़रारनामे मे रखी गई है, यह है कि जिस क्षेत्र में तेल निकालने का अधिकार कम्पनी को दिया गया है उसमे अभी तक पाइप लाइन लगाने का सर्वाधिकार कम्पनीको ही था, वह छीन लिया जाता है। इसमें भी ईरान को बड़ा लाभ है क्योंकि अब यदि ईरान के उत्तर या अन्य किसी भाग में तेल के सोत निकले तो ईरान-सरकार दूसरी कम्पनी को तेल निकालने का अधिकार तो दे ही सकती है पर ज़रूरत पड़ने पर ईरान की खाड़ी या कास्पियन सागर तक अपनी पाइप लाइन भी लगवा सकती है अथवा दूसरो को यह अधिकार दे सकती है।

कम्पनी के मुनाफे में से ५ प्रतिशत हिस्सेदारो के लिए 'डिविडेण्ड' निकालकर जो बचेगा उसका पाँचवाँ भाग अर्थात् २० सैकड़ा ईरान को मिलेगा। यह शर्त्त सब शर्त्तों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसके बाद ही तीसरी शर्त्त (जिसके अनुसार ईरान में बिकने या ईरान से बाहर जानेवाले तेल पर ४ शिलिंग प्रति टन की रायलटी ईरान-सरकार को मिलेगी) ईरान के लिए आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। अनुमान लगाया गया है

कि इसके अनुसार लगभग १० लाख पौण्ड या सालाना एक करोड़ से भी अधिक रुपये की आय ईरान-सरकार को होगी। साढ़ेसात लाख पौण्ड सालाना से कम तो यह किसी हालत में न होगी क्योंकि कम से कम इतनी रकम की तो शर्त करा ही ली गई है।

इन शर्त्तों पर भली-भाँति ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि ईरान अपनी सारी शक्ति के आथ अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है और पूर्व में युरोपीय साम्राज्यवाद दिन-दिन क्षय-ग्रस्त रोगी की भाँति क्षीण हो रहा है। जो देश अभी परतंत्र हैं वे अपने स्वतंत्र एशियाई देशों की इन गौरवपूर्ण विजयों को देखते और कलेजा मसोसकर रह जाते हैं पर इन उदाहरणों से उनके सामने इतना स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना संसार के राष्ट्रों की पंक्ति मे बराबरी के अधिकार और आदरपूर्ण मर्यादा के साथ नही बैठा जा सकता। यदि स्वतंत्र-प्रकृति रिजाशाह फारस में न होते और फारस स्वतंत्र न होता तो यह समझौता सम्भव न था।

रूस की एशियाई नीति भी इसमें बड़ी सहायक हो रही है और ताज़े समाचारों से तो यह मालूम होता है कि सोवियट-सरकार सिक्यांग (चीनी तुर्किस्तान) आदि चीनी प्रान्तों से ब्रिटेन का प्रभाव नष्ट करने की एक योजना बना चुकी है। यदि ऐसा हुआ तो इन दो राष्ट्रो की प्रतियोगिता के कारण एशियाई राष्ट्रो का भला ही होगा और वे दिन-दिन अधिकाधिक स्वतंत्रता-लाभ करते जायँगे।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)
(अप्राप्य)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय „ ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी)
दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा
गीताबोध (श्लोक-सहित) ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध— -)॥
४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका)
(ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान
और पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १॥)
सजिल्द २)
५२—स्व-गत— ।=)
५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का
मुक़ाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी-सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥)
६६—एशिया की क्रान्ति १॥)